# संवर्ग-1 : प्रागैतिहासिक एवं वैदिक काल

# इकाई-1 : प्रस्तर युग–आदिम मानव

**संरचना**


1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 पुराणपाषाण काल : आखेटक और खाद्य संग्राइक

1.3 पुरा पाषाण युग की अवस्थाएँ

1.4 मध्य पाषाण युग : आखेटक और पशु पालक

1.5 प्रागैतिहासिक कलाकृतियाँ

1.6 नव पाषाण युग : खाद्य उत्पादक

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्नावली


## 1.0 प्रस्तावना

पृथ्वी लगभग 400 करोड़ वर्ष पुरानी है। इसकी परत के विकास से चार अवस्थाऐं प्रकट होती है। चौथी अवस्था क्वार्टर्नटी (चातुर्थिकी) कहलाती है, जिसके दो भाग है, प्लाईस्टोसीन (अतिनूतन) और होलोसीन (अद्यतन)। पहला दूसरे से पूर्व दस लाख और दस हजार वर्ष के बीच था और दूसरा आज से लगभग दस हजार वर्ष पहले शुरू हुआ। कहा जाता है कि मानव धरती पर प्लाईस्टोसीन के आरम्भ में पैदा हुआ इसी समय सचमुच की गाय, सचमुच का हाथी और सचमुच का घोड़ा उत्पन्न हुआ था। परन्तु लगता है कि यह घटना अफ्रीका में 26 लाख वर्ष पहले हुई होगी।

## 1.1 उद्देश्य

यहाँ हम आदिम मानव की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 1.2 पुरापाषाण काल : आखेटक और खाद्य संग्राहक

आदिम मानव के जीवाश्म (फॉसिल) भारत में नही मिले हैं। मानव के प्राचीनतम अस्तित्व का संकेत द्वितीय हिमावर्तन (ग्लेसिएशन) काल में बताए जाने वाले संचयों में मिले पत्थर के औजारों से मिलता है जिसका काल लगभग 250,000 ई. पूर्व रखा जा सकता है। लेकिन हाल में महाराष्ट्र के बोरी नामक स्थान में जिन तथ्यों की रिपोर्ट मिली है उसके अनुसार मानव की उपस्थिति और भी पहले, 14 लाख वर्ष पूर्व मानी जा सकती है। सम्प्रति प्रतीत होता है कि अफ्रीका की अपेक्षा भारत में मानव बाद में बसे, हालांकी इस उपमहाद्वीप का पाषाण कौशल मौटे तौर पर उसी तरह विकसित हुआ है जिस तरह अफ्रीका मे। भारत में आदिम मानव पत्थर के अनगढ़ और अपरिष्कृत औजारों का इस्तेमाल करता था। ऐसे औजार सिन्धु, गंगा और यमुना के कछारी मैदानों को छोड़ सारे देश में पाए गए है। तराशे हुए पत्थर के औजारों और फोड़ी हुई गिट्टीयों से वे शिकार करते पेड़ काटते और अन्य कार्य भी करते थे। इस काल में मानव अपना खाद्य कठिनाई से ही बटोर पाता और शिकार से जीता था। वह खेती करना और घर बनाना नही जानता था। यह अवस्था सामान्यता 9000 ई.पूर्व तक बनी रही।

पुरा पाषाण काल के औजार छोटा नागपुर के पठार में मिले है। जो 100,000 ई.पू. के हो सकते हैं। ऐसे औजार जिनका समय 20000 ई.पू और 10000 ई.पूर्व के बीच है, आन्ध्रप्रदेश के कुर्नूल शहर से लगभग 55 किमी. दूर पर मिले है। इनके साथ हड्डी के उपकरण और पशुओं के अवशेष भी मिले है। उतर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के बेलन घाटी में जो पशुओं के अवशेष मिले है उनसे ज्ञात होता है कि बकरी भेड़, गाय भैंस आदि मवेशी पाले जाते थे। फिर भी पुरा पाषाण युग की आदिम अवस्था का मानव शिकार और खाद्य संग्रह पर जीता था। पुराणों में केवल फल और कन्द मूल खाकर जीने वाले लोगों की चर्चा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, इस तरह के कुछ लोग तो आधुनिक काल तक पर्वतों और गुहाओं में रहते और उसी पुराने ढंग से जीते आए है।

भारत की पुरा पाषाण युगीन सभ्यता का विकास प्लाईस्टोसीन काल या हिम युग में हुआ। यद्यपि पत्थर के औजारों के साथ मानव अवशेष जो अफ्रीका में मिले है वे 26 लाख वर्ष पुराने माने जाते है तथापि यदि हम भारत में मिली बोरी की सामग्री को छोड़ दे तो पत्थरों के औजारों से स्पष्टतः लक्षित मानव की प्रथम उपस्थिति मध्य प्लाईस्टोसीन से पूर्व की नही ठहरती है। प्लाईस्टोसीन काल में पृथ्वी की सतह का बहुत अधिक भाग खासकर अधिक उंचाई पर और उसके आस पास के स्थान, बर्फ की चादरों से ढका रहता था। किन्तु पर्वतों को छोड़कर उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र बर्फ से मुक्त था, बल्कि वहाँ दीर्घ काल तक भारी वर्षा होती रही।

## 1.3 पुरा पाषाण युग की अवस्थाएँ

भारतीय पुरा पाषाण युग को, मानव द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले पत्थर के औजारों के स्वरूप और जलवायु में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर, तीन अवथाओं में बांटा जाता है। पहली को आरम्भिक या निम्न पुरापाषाण युग, दूसरी को मध्य पुरापाषाण और तीसरी का उच्च पुरापाषाण युग कहते है। जब तक बोरी के शिल्प कौशलों के बारे में पर्याप्त जानकारी नही मिल पाती तब तक मौटे तौर पर पहली अवस्था को 2,50,000 ई.पूर्व और 100,000 ई.पूर्व के बीच, दूसरी अवस्था को 100,000 ई.पूर्व और 40,000 ई.पूर्व के बीच और तीसरी को 40,000 ई.पू. और 10000 ई.पू. के बीच रख सकते है, जैसा कि अब तक वैज्ञानिक तिथि निर्धारण हमें ज्ञात है।

अधिकांश हिमयुग आरम्भिक पुरा पाषाण युग में गुजरा है। इसका लक्षण है कुल्हाड़ी या हस्त कुठार (हैंड एक्स), विदारणी (क्लीवर) और खंडक (गंडासा) का उपयोग। भारत में पाई गई कुल्हाड़ी काफी हद तक वैसी ही है जैसी पश्चिम एशिया, युरोप और अफ्रीका में मिली है। पत्थर के औजारों से मुख्यतः काटने, खोदने और छीलने का काम लिया जाता था। निम्न पुरापाषाण युग के स्थल सम्प्रति पाकिस्तान में पड़ी पंजाब की सोअन या सोहन नदी की घाटी में पाए जाते है। कई स्थल कश्मीर और थार मरूभूमि में मिले हैं। निम्न पुरापाषाण कालीन औजार उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर जिले में बेलन घाटी में भी पाए गए हैं। जो औजार राजस्थान की मरूभूमि में डिडवाना क्षेत्र में, बेलन और नर्मदा की घाटियों में तथा मध्य प्रदेश के भोपाल के पास भीम बेतका की गुहाओं और शैलाश्रयों में मिले है वे मोटा मोटी 100000 ई.पूर्व के है। शैलाश्रयों (चटट्ानों में बने शरण स्थलों) का उपयोग मानवों के स्थायी बसेरे के रूप में किया जाता होगा। हस्त कुठार द्वितीय हिमालयीय अन्तर्हिमावर्तन (इन्टरग्लेसिएशन) के समय के जमाव में मिले हैं। इस अवधि में जलवायु में नमी कम हो गई थी।

मध्य पुरापाषाण युग में उद्योग मुख्यतः शल्क (फ्लेक) से बनी वस्तुओं का था। ये शल्क सारे भारत में पाए गए हैं और इनमें क्षेत्र भेद से भेद भी पाए गए हैं। मुख्य औजार हैं शल्कों के बने विविध प्रकार के फलक , वेधनी, छेदनी और खुरचनी। हमें वेधिनियाँ और फलक जैसे हथियार भी भारी मात्रा में मिले हैं। मध्य पुरापाषाण स्थलों की भौगोलिक क्षैतिज रेखा मोटे तौर पर निम्न पुरापाषाण स्थलों की उक्त रेखा के साथ चलती है। यहां हम एक प्रकार के सरल बटिकाश्म उद्योग (पत्थर के गोलों से वस्तुओं का निर्माण) को देखते हैं जो तृतीय हिमालयीय हिमावर्तन के सीधे समकाल में चलता है। इस युग का शिल्प कौशल नर्मदा नदी के किनारे – किनारे कई स्थानों पर और तुगभद्रा नदी के दक्षिणीवर्ती पर्वती कई स्थानों पर भी पाया जाता है।

उच्च पुरापाषाणीय अवस्था में आर्द्रता कम थी। इस अवस्था का विस्तार हिमयुग की उस अंतिम अवस्था के साथ रहा जब जलवायु अपेक्षाकृत गर्म हो गई थी। विश्वव्यापी संदर्भ में इसकी दो विलक्षणताएं हैं नये चकमक उद्योग की स्थापना और आधुनिक प्ररूप के मानव (होमोसेपिएन्स) का उदय। भारत में फलकों और तक्षणियों (ब्लेड्स और ब्यूरिन्स) का इस्तेमाल देखा जाता है, जो आन्ध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, केन्द्रीय मध्य प्रदेश, दक्षिणी उत्तरप्रदेश, बिहार पठार और उनके इर्द गिर्द पाये गए हैं। उच्च पुरापाषाणीय अवस्था के मानवों के उपयोग के लायक गुहाऐं और शैलाश्रय भोपाल से दक्षिण में 40 किलोमीटर दूर भीमबेतका में मिले हैं।

गुजरात के टिब्बों के ऊपरी तलों पर एक उच्च पुरापाषाणीय भंडार भी मिला है जिसकी विशेषता है शल्कों, फलकों तक्षणियों और खुरचनियों का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाना। इस प्रकार यह लक्षित होगा कि देश के अनेकों पहाडी ढलानों और नदी घाटियों में पुरा पाषाणीय स्थल पाये जाते हैं। किन्तु सिन्धु और गंगा के कछारी मैदानों में इनका पता नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 1.4 मध्य पाषाण युग : आखेटक और पशु पालक

उच्च पुरापाषाण युग का अन्त 9000 ई.पू. के आसपास हिमयुग के अन्त के साथ ही हुआ और जलवायु गर्म व शुष्क हो गई। जलवायु के परिवर्तन के साथ ही पेड़ पौधों और जीव जन्तुओं में भी परिवर्तन हुए और मानव के लिए नए क्षेत्रों की ओर अग्रसर होना संभव हुआ। तब से जलवायु की स्थिति में कोई बडा परिवर्तन नही हुआ है। प्रस्तर युगीन संस्कृति में 9000 ई.पू. में एक मध्यवर्ती अवस्था आई जो मध्य पाषाण युग कहलाती है। यह पुरा पाषाणयुग और नव पाषाण युग के बीच का संक्रमण काल है। मध्य पाषाणयुग के लोग शिकार करके, मछली पकड़कर और खाद्य वस्तुऐं बटोर कर पेट भरते थे। आगे चलकर वे पशुपालन भी करने लगे। इनमें शुरू की तीन वृत्तियां तो पुरा पाषाणयुग से ही चली आ रही थी, जबकि अंतिम वृत्ति नव – पाषाण संस्कृति से जुड़ी हुई है। मध्य पाषाणयुग के विशिष्ट औजार हैं सूक्ष्म पाषाण (या पत्थर के परिष्कृत) औजार। मध्य पाषाण स्थल राजस्थान, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, केन्द्रीय और पूर्वी भारत में बहुतायत से पाए जाते है तथा कृष्णा नदी के दक्षिण में भी है। इनमें से राजस्थान में बागौर स्थल का उत्खनन भली भांति हुआ है। यहां सुस्पष्ट सूक्ष्म पाषाण उद्योग था और यहाँ के निवासियों की जीविका शिकार और पशुपालन थी। इस स्थल पर बस्ती ईसा पूर्व पांचवें सहस्त्राब्द के आरम्भ से 5000 वर्षों तक रही। मध्यप्रदेश में आदमगढ़ और राजस्थान के बागोर पशुपालन का प्रचीनतम साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जिसका समय लगभग 5000 ई.पू. हो सकता है। राजस्थान के एक अतीत नमक झील सांभर के जमावों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 7000–6000 ई.पू. के आस पास पौधे लगाए जाते थे।

अभी तक मध्यपाषाण युग की कुछ ही उपलब्धियों का वैज्ञानिक काल परीक्षण हो पाया है। मध्य पाषाण संस्कृति का महत्व मोटे तौर पर 9000 ई.पू. से 4000 ई.पू. तक बना रहा। इसमें संदेह नही कि इसने नव पाषाण संस्कृति का मार्ग प्रशस्त किया।

## 1.5 प्रागैतिहासिक कलाकृतियां

पुरापाषाण और मध्य पाषाण युग के लोग चित्र बनाते थे। प्रागैतिहासिक कलाकृतियां तो कई स्थानों में हैं, परन्तु मध्य प्रदेश का भीमबेतका स्थल अद्‌भुत है। यह भोपाल से 35 किलोमीटर दक्षिण विन्ध्य पर्वत पर अवस्थित है। इसमें 10 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में बिखरे 500 से भी अधिक चित्रित शैलाश्रय हैं। इन शैलाश्रयों के चित्र पुरापाषाण काल से मध्य पाषाण काल तक के बने हुए हैं और कुछ श्रंखलाओं में तो हाल के समय तक के हैं। परन्तु इनमें अनेकों शैलाश्रय मध्य पाषाण काल के लोगों से सम्बद्ध हैं। बहुत सारे पशु पक्षी और मानव चित्रित हैं। स्पष्टतः इन कलाकृतियों में चित्रित अधिकांश पक्षी और पशु हैं जिनका शिकार जीवन निर्वाह के लिए किया जाता था। अनाज पर जीने वाले पर्चिंग (Perching) पक्षी उन आरंभिक चित्रों में नहीं पाये जाते हैं जो अवश्य ही शिकार खाद्य संग्रह अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध होंगे। यह बड़ी रोचक बात है कि बेलन घाटी में विन्ध्य पर्वत के उत्तरी पृष्ठों पर लगातार तीनों अवस्थाऐं एक के बाद एक पाई जाती हैं। पहले पुरापाषाण कालिक तब मध्य पाषाण कालिक और तब नव पाषाण कालिक, और यही बात नर्मदा घाटी के मध्य भाग की है। किन्तु कई क्षेत्रों में नव पाषाण संस्कृति मध्य पाषाण परम्परा के बाद आती है जो ठीक लौह युग के आरंभ से अर्थात् 1000 ई.पू. से चलती रही।

## 1.6 नव पाषाण युग : खाद्‌य उत्पादक

विश्व स्तरीय संदर्भ में नव पाषाण युग 9000 ई.पू. में आरंभ होता है। भारतीय उपमहाद्वीप में नव पाषाण युग की एक मात्र बस्ती ऐसी मिली है जिसका समय 7000 ई.पू. बताया जाता है। यह पाकिस्तान के एक प्रान्त बलूचिस्तान में अवस्थित मेहरगढ़ में है। आरंभ में 5000 ई.पू. से पहले इस स्थान के लोग मृदभांड का प्रयोग नहीं करते थे। विन्ध्य पर्वत के उत्तरी पृष्ठों पर पाये गए कुछ नव पाषाण स्थलों को 5000 ई. पू. तक पुराना बताया जाता है किन्तु सामान्यतः दक्षिण भारत में पाई गई नव पाषाण बस्तियां 2500 ई.पू. से अधिक पुरानी नहीं है। भारत के कुछ दक्षिणी और पूर्वी भागों में तो ऐसे स्थल महज 1000 ई.पू. के हैं। इस युग के लोग पॉलिशदार पत्थर के औजारों और हथियारों का प्रयोग करते थे। वे खास तौर से पत्थर की कुल्हाड़ियों का इस्तेमाल किया करते थे। ये कुल्हाड़ियां देश के पहाड़ी इलाकों के अनेकों भाग में विशाल मात्रा में पाई गई है। काटने के इस औजार से लोग कई तरह के काम लेते थे और पौराणिक कथाओं मे परशुराम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तो कुल्हाड़ी से लड़ने वाले एक महान यौद्धा हो गए थे।

नवपाषाण युग के निवासियों द्वारा व्यवहृत कुल्हाड़ियों के आधार पर हम उनकी बस्तियों के तीन महत्वपूर्ण क्षेत्र देखते है – उत्तरी पश्चिमी, उत्तर पूर्वी ओर दक्षिणी। उत्तर पश्चिमी समूह के नवपाषाण औजारों में वक्र धार की तिकोनी कुल्हाड़ियां है। उत्तर पूर्वी समूह की कुल्हाड़ियां पालिशदार पत्थर की होती थी। जिसमें तिकोना दस्ता लगा रहता था और कभी कभी स्कन्धीय हो (Shouldered hoe) भी लगे होते। दक्षिणी समूह की कुल्हाड़ियों की बगले अंडाकार होती और हत्था नुकीला रहता है।

उत्तर पश्चिम में, कश्मीरी नवपाषाण संस्कृति की कई विशेषताऐं है, जैसे आवास गर्त, मृदभांड की विविधता, पत्थर और हड्डी के औजारों का प्रकार और सूक्ष्म पाषाण का पूरा अभाव। इसका एक महत्वपूर्ण स्थल है बुर्जाहोम, जिसका अर्थ है जन्म स्थान। यह श्रीनगर से उत्तर पश्चिम की ओर 16 किलोमीटर दूर हैं वहां नव पाषाण लोग एक झील के किनारे गर्तावासों (गड्ढों) में रहते थे और शिकार और मछली पर जीते थे। लगता है, वे खेती से परिचित थे। एक अन्य नव पाषाण स्थल है गुफकराल (कुकाल अर्थात कुम्हार की गुहा) जो श्रीनगर से 41 किलोमीटर दक्षिण – पश्चिम में है। यहां के लोग कृषि और पशुपालन दोनों धंधे करते थे। कश्मीर में नवपाषाण युगीन लोग न केवल पत्थर के पालिशदार औजारों का प्रयोग करते थे, अपितु इससे भी मजेदार बात है कि वे हड्डी के बहुत सारे औजारों और हथियारों का भी प्रयोग करते थे। जहाँ प्रचुर मात्रा में हड्डी का उपकरण पाया गया हो भारत में ऐसा एक ही स्थान चिरांद है, जो गंगा के उत्तर किनारे पर पटना से 40 किलोमीटर पश्चिम में है। ये उपकरण हरिण के सींगों के हैं और परवर्ती नवपाषाणीय परिवेश में 100 सेंटीमीटर वर्षा वाले क्षेत्र मे पाये गए हैं यहां बस्ती इसलिए संभव हुई कि गंगा, सोन, गंडक और घाघरा इन चारों नदियों का संगमस्थल होने के कारण यहां खुली जमीन उपलब्ध थी। यहाँ पत्थर के औजारों की कमी ध्यान देने योग्य हैं। बुर्जाहोम के लोग रूखड़े धूसर मृदभांडों का प्रयोग करते थे। यह रोचक बात है कि यहां कब्रों में पालतू कुते भी अपने मालिकों के शवों के साथ दफनाऐ जाते थे। गड्ढो में रहने ओर पालतु कुतों को उनके मालिकों की कब्रों में दफनाने की प्रथा भारत में अन्य किसी भी भाग में नव पाषाण युगीन लोगों में शायद नहीं थी। बुर्जाहोम के बारे में सबसे पूर्व की तिथि 2400 ई. पू. है, किन्तु चिराँद में मिली हड्डियों की तिथि 1600 ई.पू. से पहले नही रखी जा सकती है और सम्भवत वे औजार पाषाण ताम्र अवस्था के है। नव पाषाण युग के लोगों का दूसरा समूह दक्षिण – भारत में गोदावरी नदी के दक्षिण में रहता था। वे लोग आमतौर से नदी के किनारे ग्रेनाइट की पहाड़ियों के ऊपर या पठारों में बसते थे। वे पत्थर की कुल्हाड़ियों का और कई प्रकार के प्रस्तर फलकों का भी प्रयोग करते थे। पक्की मिट्टी की मूर्तिकाओं (फिगरिनों) से प्रकट होता है कि वे बहुत से जानवर पालते थे। उनके पास गाय, बैल, भेड़ और बकरी होती थी। वे सिलबट्टे का प्रयोग करते थे जिससे प्रकट होता है कि वे अनाज पैदा करना जानते थे।

तीसरा क्षेत्र जहां नवपाषाण युग के औजार मिले हैं, असम की पहाड़ियों में पड़ता है। नव पाषाण औजार भारत की उत्तर पूर्वी सीमा पर मेघालय की गारों पहाड़ियों में भी पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त, हम विन्ध्य के उत्तरी पृष्ठों पर मिर्जापुर और इलाहाबाद जिलो में भी कई नवपाषाण स्थल पाते हैं। इलाहाबाद जिले के नवपाषाण स्थलों की यह विशेषता है कि यहां ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भी चावल का उत्पादन होता था।

जिन कई नव पाषाण स्थलों का या नवपाषाण परतों वाले स्थलों का उत्खनन हुआ है उनमें प्रमुख है कर्नाटक में मास्की, ब्रम्हगिरि, हल्लूर, कोडक्कल, पिक्लीहल, सगनकल्लु, टी. नरसीपुर और तैक्कलककोट तथा तमिलनाडु में पैयमपल्ली। उतनूर आन्ध्रप्रदेश का एक महत्वपूर्ण नवपाषाण स्थल है। जान पड़ता है दक्षिण भारत में नवपाषाणावस्था 2000 ई. पू. से 1000 ई. पू. तक जारी रही। कर्नाटक के पिक्लीहल के नव पाषाणयुगीन निवासी पशु पालक थे और गाय, बैल, बकरी भेड़ आदि पालते थे। वे खंभे और खूंटे गाड़ – गाड़कर मवेशियों के बाड़े बनाते और उनके बीच में मौसमी शिविरों में रहते थे। इन बाड़ों मे गोबर जमा करते। फिर उस सारे शिविर स्थल में आग लगाकर उसे साफ कर देते ताकि अगले मौसम में फिर शिविर लगाए जाऐं। पिक्लीहल में राख के ढेर और निवास स्थान दोनो मिले हैं।

नव पाषाण युग के निवासी सबसे पुराने कृषक समुदाय थे। वे पत्थर के कुदालों (हो) और खोदने के डंडों से, जिनके एक और एक से आधे किग्रा. वजन के प्रस्तर, बल्लम लगे रहते थे, जमीन को तोड़ते थे। पत्थर के पालिशदार औजारों के अलावा वे सूक्ष्म पाषाण फलकों का भी प्रयोग करते थे। वे मिट्टी के सरकंडें के बने गोलाकार या आयताकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

घरों में रहते थे बताया जाता है कि गोलाकार घरों में रहने वालों की सम्पत्ति पर सामुदायिक प्रभुत्व होता था। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि ये नवपाषाण युगीन लोग स्थाई रूप से घर बनाकर बसने वाले हो चले थे। ये रागी और कुल्थी पैदा करते थे। मेहरागढ़ में बसने वाले नवपाषाण युग के लोग अधिक उन्नत थे। वे गेहूं और रूई उपजाते थे और कच्ची ईंटों के घरों में रहते थे।

चूंकि नवपाषाण अवस्था के कई स्थिरवासी अनाजों की खेती से परिचित हो गए थे और पालतू पशु भी रखने लगे थे, इसलिए अनाज रखने के बरतनों की उन्हें जरूरत हुई। फिर पकाने, खाने और पीने के पात्रों की भी आवश्यकता हुई। अतः कुम्मकारी सबसे पहले इसी अवस्था में दिखाई देती है। आरंभ में हाथ से बनाए गए मृदभांड मिलते हैं। बाद में मिट्टी के बर्तन चाक पर बनने लगे। इन बर्तनों में पॉलिशदार काला भांड, धूसर भांड और मन्दवर्ण भांड शामिल हैं।

नवपाषाण युग के सेल्ट, कुल्हाड़ियाँ, बसूले, छेनी आदि औजार उड़ीसा और छोटा नागपुर के पहाड़ी इलाकों में भी पाए गए हैं। परन्तु मध्य प्रदेश के कुछ भागों में तथा उच्च दक्कन के कई प्रदेशों में नवपाषाण बस्तियों का आभास आमतौर से बहुत कम मिलता है, जसका कारण यह है कि वहां उन किस्मों के पत्थर नहीं थे जिन्हें आसानी से खराद कर चिकना किया जा सके। 9000 ई. पू. और 3000 ईसा पूर्व के बीच की अवधि में पश्चिम एशिया में भारी तकनीकी प्रगति हुई, क्योंकि इसी अवधि में लोगों ने खेती, बुनाई, कुम्भकारी, भवन निर्माण, पशुपालन आदि कौशल विकसित किया। फिर भी भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाणयुग ईसा पूर्व छठे शताब्दी के आस पास शुरू हुआ। चावल, गेहूं, जौ आदि सहित कई महत्वपूर्ण फसलें इस उपमहाद्वीय में इसी अवधि से उपजाई जाने लगी और संसार के इस भाग में कई गांव बसे। लगता है यहां आकर मानव ने सभ्यता के द्वार पर पांव रखा।

## 1.7 सारांश

प्रस्तर युग के लोगों की एक भारी लाचारी थी। उन्हें पूर्णतः पत्थर के ही औजारों और हथियारों पर आश्रित रहना पड़ा इसलिए वे पहाड़ी इलाकों से दूर जाकर बस्तियाँ नहीं बना सकते थे। वे पहाडियों से युक्त नदी घाटियों में ही अपना निवास बना सके। साथ ही वे अपने काफी प्रयास के बावजूद सिर्फ उतना ही अनाज पैदा कर सकते थे जितने से किसी तरह अपना जीवन बसर कर सकें।

## 1.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. निम्नलिखित पदों और धारणाओ का आशय स्पष्ट करें।

(अ) पुरापाषाण काल

(ब) नवपाषाण काल

(स) मध्यपाषाण काल

(द) होलोसीन या न्यूनतम युग

(य) प्लीस्टोसीन या अभिनूतन युग

(र) खाद्य संग्राहक

प्रश्न 2. भारत में पाषाण युग किन – किन अवस्थाओं में विभाजित है ? इस विभाजन का आधार क्या है ।

प्रश्न 3. प्राचीन भारत में पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाग युगों में परस्पर भेद किन – किन आधारों पर किया जाता है ? प्रत्येक युग की मुख्य – मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।

प्रश्न 4. नवपाषाण युग मानव के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला समझा जाता है, क्यों ?

प्रश्न 5. संस्कृति के विकास में कुम्हार के चाक, जुलाहे के चरखे और गाड़ी के पहिये के अविष्कार का महत्व बताएँ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–2 : प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत

**संरचना**


2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 प्राचीन स्रोत

2.3 पुरातात्विक स्रोत

2.4 अभिलेख

2.5 सिक्के

2.6 स्मारक और भवन

2.7 मूर्तियाँ

2.8 चित्रकला

2.9 अवशेष

2.10 साहित्यिक स्रोत

- 2.10.1 बौद्ध साहित्य
- 2.10.2 जैन साहित्य
- 2.10.3 धर्मेतर भारतीय साहित्य

2.11 विदेशियों के वृतान्त

- 2.11.1 यूनान और रोम के लेखक
- 2.11.2 चीनी यात्रियों के वृतान्त
- 2.11.3 अरब यात्रियों के वृतान्त

2.12 सारांश

2.13 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.0 प्रस्तावना

इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भाँति उपलब्ध सामग्री की समीक्षा करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्विक साधन और विदेशियों के वर्णन सभी का महत्व है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए शुद्ध ऐतिहासिक साहित्यिक सामग्री अन्य देशाों की अपेक्षा बहुत कम उपलब्ध है। भारत में यूनान के हिरोडोटस यारोम के लिवी जैसे इतिहास लेखक नहीं हुए इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा बन गई थी कि भारतीयों को इतिहास की ठीक संकल्पना ही नहीं थी। ऐसा समझना भारी भूल है। वस्तु स्थिति यह है कि प्राचीन भारतीयों की इतिहास की संकल्पना आधुनिक इतिहासकारों की संकल्पना से पूर्णतया भिन्न थी। आजकाल का इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं में कार्य कारण संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु प्राचीन इतिहासकार केवल उन घटनाओं का वर्णन करता था जिनसे जनसाधारण को कुछ शिक्षा मिल सके। महाभारत में इतिहास की जो परिभाषा दी है उससे भारतीयों की इतिहास विषयक संकल्पना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथ के अनुसार ऐसी प्राचीन रूचिकर कथा जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा मिल सके इतिहास कहलाती है। प्राचीन काल में भारतवासी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों को जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक समझते थे। इन पुरुषार्थों

को करने की प्रोरणा देने में इतिहास भी एक साधन था। इसलिए प्राचीन भारतीय इतिहासकार उन घटनाओं को कोई महत्व नही देते थे जिनसे इन चारों पुरुषार्थों की शिक्षा न मिल सके। इसीलिए प्राचीन भारत का इतिहास राजनीतिक कम और सांस्कृतिक अधिक है। भारतीय समाज के निर्माण में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है किन्तु धर्म के अतिरिक्त अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारण थे जिन्होंने भारत में अनेक आंदोलनों, संस्थाओं और विचारधाराओं को जन्म दिया।

## 2.1 उद्देश्य

भारतीय इतिहास का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए इन सबका अध्ययन करना आवश्यक है।

## 2.2 प्राचीन स्रोत

आधुनिक इतिहासकार इतिहास में केवल राजनीतिक घटनाओं का ही वर्णन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। उसके वर्णन में जनसाधारण उतना ही महत्त्व रखते है। जितना कि शासक और योद्धा। वही उन सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मानव, उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए प्रसिद्ध इतिहासकार दामोदर धर्मानन्द कोसांबी के अनुसार उत्पादन के साधनों और उनके पारस्परिक संबंधों के तिथि क्रमानुसार अध्ययन से ही हमें विकास के क्रम की जानकारी मिल सकती है। उनके अनुसार इनके आधार पर हम जान सकते हैं कि जनसाधारण किस प्रकार जीवन यापन करते थे।

इतिहासकार प्राचीन भारतीय इतिहास को तीन भागों में बांटते हैं। वह काल जिसके लिए कोई लिखित साधन उपलब्ध नहीं है, जिसमें मानव का जीवन अपेक्षाकृत पूर्णतया सभ्य नहीं था, 'प्रागैतिहासिक काल' कहलाता है। इतिहासकार उस काल को 'ऐतिहासिक' काल की संज्ञा देते हैं जिसके लिए लिखित साधन उपलब्ध हैं और जिसमें मानव सभ्य बन गया था। प्राचीन भारत के इतिहास मे एक ऐसा भी समय था जिसके लिए लेखन कला के प्रमाण तो हैं किन्तु या तो वे अपुष्ट है या फिर उनकी गूढ लिपि का अर्थ निकालना कठिन है। इस काल को भारतीय इतिहासकार आद्य इतिहास कहते हैं। हड़प्पा की संस्कृति और वैदिककालीन संस्कृति से पूर्व का भारत का इतिहास 'प्रागितिहास' और लगभग ईसा पूर्व 600 के बाद का इतिहास 'इतिहास' कहलाता है। इसका कारण यह है कि भारत में प्राचीनतम लिखित सामग्री अशोक के अभिलेख है जिनका समय ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी है और इस भाषा के विकास में भी लगभग 300 वर्ष लगे होंगे। इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध और महावीर की ऐतिहासिकता में भी कोई संदेह नहीं है।

प्रागैतिहासिक काल का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को पूर्णतः पुरातात्विक साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। आद्य इतिहास लिखते समय वह साहित्यिक तथा पुरातात्विक दोनों प्रकार के साक्ष्यों का उपयोग करता है और इतिहास लिखते समय वह इन दोनों साधनों के अतिरिक्त विदेशियों के वर्णनों का भी उपयोग करता है। विदेशियों के वर्णन भी साहित्यिक साधन है किन्तु उनकी उपयोगिता के विशद वर्णन की आवश्यकता के कारण उनका विवेचन अलग शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इन सभी स्त्रोतों का उपयोग करके इतिहासकार काल विशेष का सही – सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

## 2.3 पुरातात्विक स्त्रोत

प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए पुरातात्विक सामग्री का विशेष महत्व है। उसके तीन प्रमुख कारण हैं। पहला यह कि भारतीय ग्रंथों का रचना काल ठीक से ज्ञात नहीं है। इसलिए उनसे किसी काल विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। दूसरे, साहित्यिक साधनों में लेखक का दृष्टिकोण भी बहुधा सही चित्र प्रस्तुत करने में बाधक हो जाता है। उदाहरण के लिए चीनी यात्रियों ने भारतीय समाज का वर्णन केवल बौद्ध दृष्टिकोण से ही किया इसलिए उनके वर्णन पूर्ण रूप से ठीक नही है। तीसरे, ग्रंथों की प्रतिलिपि करने वालों ने अपनी इच्छानुसार अनेक प्राचीन प्रकरणों को छोड दिया और नये प्रकरण जोड दिये। पुरातात्विक सामग्री में इस प्रकार की हेर – फेर करने की बहुत कम संभावना थी, इसलिए पुरातात्विक स्त्रोत अधिक विश्वसनीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 2.4 अभिलेख

पुरातात्विक स्त्रोतों के अन्तर्गत सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्त्रोत अभिलेख है। प्राचीन भारत के अधिकतर अभिलेख पत्थर या धातु की चादरों पर खुदे मिले हैं, अतः उनमें साहित्त की भांति हेर–फरे करना संभव नहीं था। यद्यपि सभी अभिलेखों पर उनकी तिथि अंकित नहीं है फिर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर उनका काल मोटे रूप में निध ारित हो जाता है। सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं। केवल भूतपूर्व निजाम के राज्य में स्थित मास्की नामक स्थान और गुज्जर्रा (मध्यप्रदेश) से प्राप्त अभिलेखों में अशोक के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। अशोक के अन्य अभिलेखों में उसे देवताओं का प्रिय, प्रियदर्शी राजा कहा गया है। इन अभिलेखों से अशाक के धर्म और राजत्व के आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। अशोक के अधिकतर अभिलेख (ब्राह्मी लिपि) में हैं जिससे भारत की हिंदी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती और मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ। केवल उत्तर – पश्चिमी भारत में मिले कुछ अभिलेख 'खरोष्ठी लिपि' में है। खरोष्ठी लिपि फारसी लिपि की भाँति दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। ब्राम्ही लिपि को सबसे पहले 1837 ईसा पूर्व में प्रिसेप नामक विद्वान ने पढा था। इनके अतिरिक्त अशोक के ही कुछ अभिलेख अरामाइक लिपि में है।

अशोक के बाद के अभिलेखों को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं – सरकारी अभिलेख और निजी अभिलेख। सरकारी अभिलेख तो राजकवियों की लिखी हुई प्रशस्तियां है या भूमि अनुदान पत्र। प्रशस्तियों का प्रसिद्ध उदाहरण समुद्र गुप्त का प्रयाग अभिलेख है जो अशोक स्तंभ पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में समुद्र गुप्त की विजयों और नीतियों का पूरा विवेचन मिलता है। इसी प्रकार राजा भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में इस शासक की उपलब्धियों का विवेचन है। इस प्रकार के अभिलेखों के अन्य उदाहरण कलिंगराज खारवेल का हाथीगुंफा अभिलेख, गौतमी बलश्री का नासिक अभिलेख, रूद्रदमन का गिरनार शिलालेख, स्कंद गुप्त का भितरी स्तंभ लेख और जूनागढ़ का शिलालेख, बंगाल के शासक विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख और चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय का ऐहोल अभिलेख है।

भूमि अनुदान पत्र अधिकतर ताँबे की चादरों पर उत्कीर्ण है। इन अनुदान पत्रों में भूमिखण्डों की सीमाओं के उल्लेख के साथ – साथ उस अवसर का वर्णन है जब वह भूमिखण्ड दान में दिया गया। इन अनुदान पत्रों में शासकों की उपलब्धि ायों का भी वर्णन मिलता है। परंतु इन प्रशस्तियों और अनुदान पत्रों में राजकवियों ने कुछ अतिशयोक्ति भी की है। अतः उनके वर्णन को इतिहासकार को पूर्णतया सत्य नहीं मान लेना चाहिए। बड़ी संख्या में पूर्व मध्यकालीन भूमि अनुदान पत्र मिलने से यह निष्कर्ष निकाला गया कि भारत में पूर्व मध्यकाल (लगभग 600–1200 ई.) में सामंतीय अर्थव्यवस्था स्थापित हो गई थी।

जो अभिलेख चट्टानों या स्तंभों पर खुदे हैं उनके प्राप्ति स्थानों से उस शासक के राज्य की सीमाओं का भी अनुमान लगाया जाता है जैसे कि अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों से उसके राज्य के विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। निजी अभिलेख बहुधा मंदिरों में या मूर्तियों पर उत्कीर्ण है। इन पर जो तिथियाँ खुदी है उनसे इन मंदिरों के निर्माण या मूर्ति प्रतिष्ठापन का समय ज्ञात होता है। इस प्रकर इन अभिलेखों से मूर्ति कला और वास्तुकला के विकास पर प्रकाश पड़ता है। और तत्कालीन धार्मिक दशा की जानकारी प्राप्त होती है। इन अभिलेखों से भाषाओं के विकास पर प्रकाश पडता है। उदाहरणस्वरूप गुप्त काल से पहले अधिकतर अभिलेख प्राकृत भाषा में है और उनमें ब्राम्हणेतर धार्मिक संप्रदायों जैसे कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उल्लेख है। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल के अधिकतर अभिलेख संस्कृत में हैं और उनमें विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म का उल्लेख है।निजी अभिलेखों से तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी ज्ञान होता है। क्योंकि उनमें तत्कालीन करों आदि का भी उल्लेख होता है। उनमे कुछ उच्च पदाधिकारियों के पदों, तत्कालीन करों आदि का भी उल्लेख होता है।

कुछ अभिलेखों से उन तथ्यों की पुष्टि होती है जिनका उल्लेख हमें साहित्य में मिलता है जैसे कि हमें पंतजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेघ यज्ञ किये थे। उसी के वंशज धनदेव के अयोध्या अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है। कुछ अभिलेखों से हमें नये तथ्य मालूम होते हैं। जैसे कि समुद्र गुप्त के प्रयाग स्तंभ अभिलेख और खारवेल के हाथीगुंफा से हमें इन शासकों की उपलब्धियों का ज्ञान होता है। रूद्रदमन का जूनागढ़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शिलालेख यह बतलाता है कि उसका राज्य विस्तार क्या था। सातवाहन राजाओं का तो पूरा इतिहास ही उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है। साहित्य से इन शासकों की उपलब्धियों पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत के पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पांड्य और चोल वंशों का इतिहास लिखने में इन शासकों के अभिलेख बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

विदेशों से प्राप्त कुछ अभिलेखों से भी भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। एशिया माइनर में बोगज कोई नामक स्थान पर लगभग ईसा पूर्व 1400 का संधिपत्र अभिलेख मिला है। इनमें मित्र, वरूण, इन्द्र, और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम दिये हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों के वंशज एशिया माइनर में भी रहते थे। इसी प्रकार मिस्र में तेलुअल अमनों में मिट्टी की कुछ तख्तियां मिली हैं जिन पर बेबीलोनिया के कुछ शासकों के नाम खुदे हैं जो (नाम) ईरान और भारत के आर्य शासकों के नामों जैसे हैं। पर्सिपोलिस और बेहिस्तून अभिलेखों से पता चलता है कि ईरानी सम्राट दारा प्रथम ने सिन्धु नदी की घाटी पर अधिकार कर लिया था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में भारतीय और विदेशी अभिलेख बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिए भी जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं उनकी पुष्टि अभिलेखों से हुई है।

## 2.5 सिक्के

पुरातात्विक सामग्री में सिक्कों का स्थान भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्राचीनतम सिक्कों पर अनेक प्रकार के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। उन पर किसी प्रकार के लेख नहीं है। ये सिक्के 'आहत सिक्के' कहलाते हैं। इनपर जो चिन्ह बने हुए हैं उनका ठीक – ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है। इन सिक्कों के राजाओं के अतिरिक्त संभवतः व्यापारियों, व्यापारिक श्रेणियों और नगर निगमों ने चालू किया था। इनसे इतिहासकारों को विशेष सहायता नहीं मिली है किन्तु जब उत्तर – पश्चिमी भारत पर बैक्ट्रिया के हिन्द यूनानी शासकों ने अधिकार कर लिया और सिक्का लेखों वाले अपने सिक्के चलाये तो भारतीय शासक भी सिक्का लेख वाले चलाने लगे। इन सिक्कों पर सिक्का लेख के अतिरिक्त बहुधा सिक्के को चालू करने वाले शासक की आकृति भी होती थी। ये सिक्के प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए यूनान और रोम के इतिहासकारों ने केवल चार या पांच हिन्द यूनानी शासकों का उल्लेख किया है किन्तु इनके सिक्कों के आधार पर इनके राज्यकाल का पूरा इतिहास लिखना संभव हो सका है। यूनानी शासकों के बाद जिन शक और पहल्व और कुषाण शासकों ने उत्तर – पश्चिमी भारत में शासन किया उन्होंने भी यूनानियों के अनुरुप सिक्के चलाये। इसके बाद भारतीय राजतंत्र और गणतंत्र राज्यों के शासकों ने भी ऐसे ही सिक्के चलाए। पांचाल के मित्र शासको और मालव तथा यौधेय आदि गणराज्यों का पूरा इतिहास उनके सिक्कों के आधार पर लिखा गया है। गुप्त सम्राटों का इतिहास अधिकतर उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है, किन्तु उनके सिक्कों से भी उनकी उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद के भारत के इतिहास को जानने के लिए तत्कालीन सिक्के बहुत कम उपयोगी सिद्ध हुए हैं क्योंकि हर्ष जैसे प्रसिद्ध शासक के तथा चालुक्य, राष्ट्रकूट, प्रतीहार और पालवंश के शासकों के बहुत कम सिक्के मिले हैं।

सिक्के यदि बडी संख्या में एक स्थान पर मिलें तो यह अनुमान लगाया जाता है कि सिक्कों का प्राप्ति स्थान उस शासक के राज्य का भाग था। यदि सिक्कों पर कोई तिथि उत्कीर्ण हो तो उसका राज्यकाल पता चल जाता है। सिक्कों के पृष्ठ भाग पर जिस देवता की आकृति बनी हो उससे शासक के धार्मिक विचार जाने जाते हैं। सिक्कों में जब सोने की अपेक्षा खोट की मात्रा अधिक होती है तो अनुमान लगाया जाता है कि उस समय उस राज्य की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। गुप्त राजाओं के सिक्कों से हमें उनके काल की कुछ प्रमुख घटनाओं की जानकारी मिलती है। उदाहरण के तौर पर समुद्र गुप्त के कुछ सिक्कों पर यूप बना है और अश्वमेघ पराक्रमः शब्द खुदे हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ किया था। चन्द्र गुप्त के चांदी के सिक्कों से यह अनुमान लगाया गया है कि उसने शकों को पराजित किया होगा क्योंकि उस समय चांदी के सिक्के केवल पश्चिमी भारत में ही चलते थे। गुप्तकालीन सिक्के बहुत कलात्मक हैं। इन सिक्कों में तत्कालीन जनता की साहित्य और कला में रूचि की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यद्यपि मुद्राओं में सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक महत्व की अनेक सूचनाऐं मिलती हैं किन्तु यह नकारा नहीं जा सकता कि मुद्रा प्रणाली का आगमन मानव की आर्थिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण चरण है और मुद्राशास्त्र का प्रयोग मुख्यतः आर्थिक इतिहास के गठन के लिए होना चाहिए, जो दुर्भाग्य से भारत में हो नहीं रहा। सिक्कों का भिन्न – भिन्न धातुओं में पाया जाना, धातुओं की मात्रा का निर्धारण, सिक्कों के भार मानक का निर्धारण, सिक्कों की प्रधानता एवं अनुपस्थिति ये सभी प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास लेखन को नई दिशा प्रदान कर सकते हैं और इस दिशा में डॉ. कोसांबी ने आहत मुद्राओं का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह विशेष महत्व रखता है।

## 2.6 स्मारक और भवन

प्राचीनकाल के महलों और मंदिरों की शैली से वास्तुकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत के मंदिरों की कुछ अपनी विशेषताऐं हैं। उनकी कला और शैली 'नागर शैली' कहलाती है। दक्षिण भारत के मंदिरों की शैली 'द्राविड़ शैली' कहलाती है। दक्षिणापथ के मंदिरों के निर्माण में नागर और द्राविड़ दोनों शैलियों का प्रभाव पड़ा, अतः 'वेसर शैली' कहलाती है। इस प्रकार स्मारकों और भवनों से वास्तुकला के विकास के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है। मंदिरों, स्तूपों और विहारों से तत्कालीन धार्मिक विश्वासों का पता चलता है। दक्षिण – पूर्वी एशिया और मध्य एशिया में जो मंदिरों और स्तूपों के अवशेष मिले हैं उनसे भारतीय संस्कृति के प्रसार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडा है। जावा का स्मारक 'बोरो बुदूर' इस बात का प्रमाण है कि नवीं शताब्दी में वहां महायान बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस प्रकार कला के माध्यम से हम भारत और विदेशों के सांस्कृतिक संबंधों का अध्ययन करते हैं।

## 2.7 मूर्तियां

इसी प्रकार प्राचीनकाल में कुषाणों, गुप्त शासकों और गुप्तोत्तर काल में जो मूर्तियां बनाई गई उनसे जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं और मूर्ति–कला के विकास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। कुषाण कला की मूर्तिकला में विदेशी प्रभाव अधिक है। गुप्तकाल की मूर्तिकला में अंतरात्मा तथा मुखाकृति में जो सामंजस्य है वह अन्य किसी कला की कला में नहीं मिलता। गुप्तोत्तर काल की कला में सांकेतिकता अधिक है जिसे कला में निपुण व्यक्ति ही समझ सकते थे। उसमें वह स्वाभाविकता नहीं है जो गुप्त काल की मूर्तिकला में मिलती है। प्राचीन भारत की मूर्तिकला से जनसाधारण के जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पडा है। भारहुत, बोधगया, साँची और अमरावती की मूर्तिकला में जनसाधारण के जीवन की अति सजीव झांकी मिलती है।

## 2.8 चित्रकला

इसी प्रकार अजंता के चित्रों में मनोभावों की सुंदर अभिव्यक्ति मिलती है। चित्रकला ने माता और शिशु या मरणासन्न राजकुमारी जैसे चित्रों में ऐसे मनोभावों का चित्रण किया है जो शाश्वत है और जो किसी देश या काल विशेष की बपौती नहीं है। उनसे गुप्तकाल की कलात्मक उन्नति का पूर्ण आभास मिलता है। जीवन और कला का अन्योन्याश्रय संबंध है। चित्रकला से हमें तत्कालीन जीवन की झलक देखने को मिलती है।

## 2.9 अवशेष

बस्तियों के स्थलों के उत्खनन से जो अवशेष मिले हैं उनसे प्रागितिहास और आद्य इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। आदि मानव ने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन कों सुखमय बनाने का प्रयत्न किया इसकी जानकारी हमें उसकी बस्तियों से प्राप्त पत्थर और हड्डी के औजारों, मिट्टी के बर्तनों मकानों के खण्डहरों से ही होती है। उदाहरण के लिए पाकिस्तान में सोहन नदी की घाटी में पुरापाषाण युग से मिले पत्थर के खुरदरे औजारों से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में आदि मानव ईसा से 4 लाख से 2 लाख वर्ष पूर्व रहता था। ईसा से 10 हजार से 6 हजार वर्ष पूर्व के काल में मानव के जीवन में बडी क्रांतिकारीपरिवर्तन हुए यह खेती करने लगा, पशु पालने लगा, मिट्टी के बर्तन बनाने लगा, पत्थर के चिकने औजार बनाने लगा और कपड़ा बनाना सीख गया। इस नवपाषाण युग की जानकारी हमें उसके अवशेषों से ही हुई है। किस प्रकार जंगली फसलों से उसने खेती करना सीखा, वह अधिक पशुओं को पैदा करने लगा, उसने अधिक भूमि पर अधिकार कर लिया और उसकी जनसंख्या में वृद्धि हुई इस विकास प्रक्रिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की पूरी जानकारी हमें नव पाषाण युग के अवशेषों से ही हुईहै। जहां एक स्थान पर मनुष्यों की बस्तियों के कई स्तर निकलते हैं वहां उनसे सभ्यता के विकास क्रम पर प्रकाश पड़ता है जैसे कि कई स्थानों पर नीचे के स्तरों में हडप्पा में पूर्व की संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं और ऊपर के स्तर पर हडप्पा संस्कृति के। जिन जिन स्थानों पर एक ही आकृति के मृदभांड मिले हैं उन्हें इतिहासकार एक संस्कृति के अन्तर्गत रखते हैं। मृदभांडों का क्रम यह है कि पहले काले और लाल मृदभांड और फिर चित्रित भूरे रंग के मृदभांड मिले हैं।

अवशेषों में जो मुहरें मिली हैं उनसे भी प्राचीन भारत की इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली है। मोहनजोदड़ो में 500 से अधिक मुहरें मिली थीं। उन्हीं के आधार पर हड़प्पा संस्कृति के निवासियों के धार्मिक विश्वासों का अनुमान लगाया गया है। इसी प्रकार बसाड़ (प्राचीन वैशाली) में जो 274 मिट्टी की मुहरें मिली थीं उनमें चौथी शताब्दी ईसवी में एक ऐसी श्रेणी का पता लगा जिसके साहूकार व्यापारी और माल ढोने वाले सभी प्रकार के सदस्य थे। इस श्रेणी का कार्य वैशाली तक ही सीमित नहीं था। इसके सदस्य उत्तर भारत के अनेक नगरों के निवासी थे। संभवतः कुछ शिव और विष्णु के मंदिर भी अपनी संपत्ति का प्रबंध इसी श्रेणीके द्वारा कराते थे। इन मुहरों से यह निष्कर्ष निकलता है। कि गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था में श्रेणियों का बहुत महत्व था।

, अब पुरातत्वेत्ता वैदिक साहित्य, महाभारत और रामायण में उल्लिखित स्थानों का उत्खनन करके उनकी भौतिक संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उदाहरण के लिए हस्तिनापुर की खुदाई के आधार पर डॉ.बी.सी. लाल का मत है कि महाभारत में वर्णित कौरव– पांडवों का युद्ध लगभग ई.पू. 900 में हुआ। केवल साहित्यिक साक्ष्य में हमें प्राचीन भारत के जीवन का सही चित्र नहीं मिलता क्योंकि ग्रंथों के लिखे जाने का निश्चित समय हमें ज्ञात नहीं है। फिर साहित्यिक साक्ष्य में लेखक की कल्पना का पुट भी अवश्य रहता है। यह लेखक के अपने विचारों को प्रकट करता है घटना को अपने यथार्थ रूप में नहीं। इस प्रकार साहित्यिक साक्ष्य यद्यपि घटना का पूरा विवरण देता है फिर भी वह लेखक के विचारों से प्रभावित अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त कोई भी ग्रंथ विशेष रूप से देश के उस भाग की दशा का वर्णन करता है जिसमें उसकी रचना हुई। पुरातात्विक साक्ष्य का साहित्यिक साक्ष्य के साथ तर्कसंगत संश्लेषण करके आधुनिक इतिहासकार सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है। पुरातात्विक साक्ष्य से साहित्यिक साक्ष्य की पुष्टि ही नहीं होती, यह साक्ष्य उन कालों की घटनाओं पर भी प्रकाश डालता है जिनके विषय में हमें साहित्यिक साक्ष्य से कोई जानकारी नहीं मिलती और जिन्हें हम 'अंधकार युग' कहते थे जैसे कि मौर्य काल की समाप्ति से लेकर गुप्तकाल के आरंभ से पूर्व का काल। पुरातात्विक साक्ष्य से सांस्कृतियों के क्रमिक विकास पर भी पर्याप्त प्रकाश पडा है।

पुरातात्विक साक्ष्यों ने मानव की आर्थिक प्रगति के एक अन्य चरण पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। यह चरण भारत में लोह युग के आगमन से संबद्ध है। लोहे के प्रयोग का आरंभ एक महत्वपूर्ण तकनीकी उपलब्धि थी। लोहे के अवशेष भारत में बलूचिस्तान, उत्तर पश्चिमी भारत, गंगा, यमुना के दोआब, पूर्वी भारत, मध्य भारत (मालवा और बरार) तथा दक्षिणी भारत में मिले हैं। इन छह केन्द्रों के मध्य भारत का केन्द्र सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर दिलीप कुमार चक्रवर्ती का मत है कि भारत मे लोहे का प्रयोग ईसा पूर्व 1100 में हुआ। साहित्यिक साक्ष्य से तिथि ईसा पूर्व 700 के लगभग प्रतीत होती है। उनका विचार है कि मध्य और दक्षिण भारत में लोहे को पिघलाने की प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से प्रारंभ हुई। भारत इसके लिए संभवतः हित्ती (हिट्टाइट) लोगों का ऋणी नहीं है। इन निष्कर्षों से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया का समझने में बहुत सहायता मिली है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लोहे के प्रयोग से कृषि में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और जिन लोगों ने पहले लोहे के औजार और हथियारों का प्रयोग आरंभ किया वे लोहे का प्रयोग न करने वाले लोगों से अधिक शक्तिशाली हो गए और समाज में उनका प्रधान स्थान हो गया।

इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य की सहायता से हम प्राचीन भारत के इतिहास को पहले की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत ढंग से समझ सके हैं क्योंकि पुरातात्विक साक्ष्य से हम लेखक के काल्पनिक पुट को अलग कर सके हैं।

## 2.10 साहित्यिक स्त्रोत

प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक वृद्धि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि वैदिक ऋषियों और बौद्ध जैन आचार्यों की सूचियां विद्यमान हैं किन्तु प्राचीन भारतीयों की इतिहास विषयक संकल्पना आधुनिक इतिहासकारों की संकल्पना से भिन्न होने के कारण हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में कोई शुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मिलते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वैसे युवान च्वांग ने लिखा है कि भारत के प्रत्येक प्रदेश में राजकीय अधिकारी प्रमुख घटनाओं को लिखते थे। महाकाव्यों और पुराणों में हमें राजवंशों की सूचियां मिलती हैं किन्तु उसमें भी प्राचीन राजाओं के नाम कहां तक ऐतिहासिक हैं यह कहना कठिन है।

प्राचीन भारतीय साहित्य को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं धामिक साहित्य और धर्मेत्तर साहित्य। धार्मिक साहित्य का हम तीन भागों में विवेचन करेंगे। ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य। ब्राह्मण साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। इस ग्रंथ से प्राचीन आर्यों के धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर कुछ अधिक और राजनीतिक जीवन पर कुछ कम प्रकाश पडता है। उत्तरवैदिक काल (लगभग 1000 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व) के आर्यों के जीवन का अध्ययन करने के लिए इतिहासकार यजुर्वेद और सामवेद के अधिकतर मंत्र ऋग्वेद संहिताओं का उपयोग करते हैं। इन तीनों संहिताओं में यजुर्वेद और सामवेद के अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गए हैं। इसलिए अथर्ववेद का ही विशेष महत्व है। अथर्ववेद में हमें उस समय का चित्र मिलता है जब आर्यो ने अनार्यों के अनेक धार्मिक विश्वासों को अपना लिया था। सभी वेदों के अलग अलग ब्राह्मण ग्रंथ हैं। ये गद्य में हैं और कर्मकांड की पद्धति का उल्लेख करते हैं किन्तु इनसे हमें उत्तर वैदिक काल में आर्यों के विस्तार और उनके धार्मिक विश्वासों की जानकारी मिलती है। उपनिषद भी इसी काल की रचनाऐं हैं। इनसे हमें आर्यों के प्राचीनतम दार्शनिक विचारों का ज्ञान होता है, जैसे कि सृष्टि की रचना किसने की? जीव क्या है? मृत्यु के उपरान्त जीव का क्या होता है? आदि। उपनिषदों की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा यही है कि जीवन का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा का विश्व की आत्मा से मिलना है। उसी से मनुष्य को वास्तविक सुख मिलता है। इसको 'पराविद्या' या 'अध्यात्मविद्या' कहा गया है। उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्द्रोग्य, वृहदारण्यक मैत्रायनी और कौषीतकी महत्वपूर्ण है।

वैदिक काल के अंत में वेदों का अर्थ ठीक प्रकार से समझने के लिए वेदांगों की रचना हुई। वेदों के छह अंग हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष। वैदिक स्वरों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए शिक्षा शास्त्र का निर्माण हुआ। ऐसे सूत्र जिनमें विधि और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। कल्पसूत्र कहलाते हैं। कल्पसूत्रों के तीन भाग हैं। श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। श्रौत सूत्रों में यज्ञ संबंधी नियमों का उल्लेख है। गृह्य सूत्रों में मनुष्यों के लौकिक तथा पारलौकिक कर्तव्यों का विवेचन है। धर्म सूत्रों में धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों का उल्लेख है। व्याकरण ग्रंथों में सबसे महत्वपूर्ण पाणिनिकृत अष्टाध्यायी है। ईसा पूर्व दूसरी शती में पतंजलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य नामक टीका लिखी जिससे हमें पुण्य शुंग के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। यास्क ने निरूक्त (ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी) की रचना की। इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन है। वेदों में अनेक छंदों का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में ही दशास्त्र का बहुत विकास हो चुका था। ज्योतिष शास्त्र की भी प्राचीनकाल में बहुत उन्नति हुई।

सूत्र साहित्य के बाद स्मृतियों की रचना हुई। सबसे प्राचीन स्मृति मनु की है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व 200 से 200 ईसा के बीच माना जाता है। याज्ञवल्क्य (100 ई से 300 ई) कृत स्मृति एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ है। नारद (300 ई.से400ई) और पाराशर (300 ई से 500 ई) की स्मृतियों से गुप्तकाल के सामाजिक व धार्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पडा है। बृहस्पति (300 ई. से 500 ई.) और कात्यायन (400 ई. से 600 ई.) की स्मृतियां भी गुप्तकाल की ही रचनाऐं हैं।

महाकाव्यों में रामायण और महाभारत सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। पहली या दूसरी शताब्दी में रामायण में केवल बारह हजार श्लोक थे। अपने वर्तमान रूप में रामायण संभवतः दूसरी शती ईसवी के अंत में विद्यमान थी। महाभारत का रचनाकाल ईसा पूर्व 400 से 400 ई. के बीच माना जाता है। तब भी इन महाकाव्यों से उत्तर वैदिक काल में आर्यों के जीवन के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। वाल्मिकि रामायण मे वर्णित व्यवसायों और भोजन के आधार पर देवराज चानना इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि इस ग्रंथ में दो विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों पर रहने वाले दो प्रमुख मानवीय वर्गों का वर्णन है। कृषि पर आधारित लोग वनों को साफ करके उन्हें कृषि योग्य बना रहे थे। इसी प्रकार महाभारत और मनुस्मृति का तुलनात्मक अध्ययन करके बी.एस. सुक्थंकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिन भृगुवंश के लोगों ने मनुस्मृति की रचना की थी उन्होंने भारत वंश की कथा के इतनी लोकप्रिय होने के कारण धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रतिपादित करने वाले आख्यानों को इस कथा में जोडकर इसे एक धर्मशास्त्र बना दिया क्योंकि उस समय वैदिक साहित्य में प्रतिपादित सिद्धांतों को ठीक प्रकार से समझना जनसाधारण के लिए कठिन हो गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुख्य पुराण अठारह है। इनमें मार्कण्डेय, ब्राह्माण्ड, वायु, विष्णु, भागवत और मत्स्य संभवतः प्राचीन पुराण है शेष बाद की रचनाऐं हैं। मत्स्य, वायु और विष्णु पुराणों में प्राचीन राजवंशों का वर्णन है। इन राजवंशों का जो वर्णन इन पुराणों में मिलता है वह एक दूसरे से भिन्न है और वह कहीं – कहीं अन्य साधनों से प्राप्त साक्ष्य से मेल नहीं खाता। किन्तु महाभारत युद्ध के पश्चात् जिन राजवंशों ने ईसा की छठी शताब्दी तक राज्य किया उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने का एक मात्र साधन पुराण ही है। प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास लिखने के लिए भी पुराण बहुत उपयोगी है। रोमिला थापर की हाल की रचनाओं पौराणिक प्रमाणों की उपयोगिता पर नवीन प्रकाश डाला है। उन्होंने वंशावलियों की तिथिक्रमता और ऐतिहासिक उपादेयता को सामाजिक आर्थिक दृष्टिकोण से देखा है और कबीलों के संगठन, उनके उपनिवेशन, आर्थिक आधार आदि को उजागर किया है। पुराण अपने वर्तमान रूप में संभवतः ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी मे लिखे गए।

ब्राह्मण साहित्य से प्राचीन भारत के सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है किन्तु इससे राजनीतिक इतिहास की विशेष जानकारी नहीं मिलती।

### 2.10.1 बौद्ध साहित्य

भारतीय इतिहास के साधन के रूप में बौद्ध साहित्य का विशेष महत्व है। सबसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथ त्रिपिटक हैं। इनके नाम हैं सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के बाद इनकी रचना हुई। सुत्तपिटक में बुद्ध के धार्मिक विचारों और वचनों का संग्रह है। विनयपिटक में बौद्ध संघ के नियमों का उल्लेख है और अभिधम्मपिटक में बौद्ध दर्शन का विवेचन है। त्रिपिटक में ईसा से पूर्व की शताब्दियों में भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। जातकों में बुद्ध के पूर्वजन्मों की काल्पनिक कथाऐं हैं। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में जातकों की रचना आरंभ हो चुकी थी, यह तथ्य भारहुत और साँची के स्तूप की वेष्टनी पर उत्कीर्ण दृश्यों से स्पष्ट है। परन्तु जातकों में भी गद्यांशों की अपेक्षा पद्यांश अधिक प्राचीन है। गद्यांश भी संभवतः अपने वर्तमान रूप में ईसा की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। लंका के इतिवृत महावंश और दीपवंश भी भारत के प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं। परन्तु इन दोनों ही ग्रंथों में कपोलकल्पित और अतिरंजित सामग्री बहुत है। दीपवंश की रचना संभवतः चौथी और महावंश की पांचवी शताब्दी में हुई। मिलिन्द पन्ह में यूनानी राजा मिनांडर और बौद्ध भिक्षु नागसेन का दार्शनिक वार्तालाप है। इसमें ईसा की पहली दो शताब्दियों के उत्तर पश्चिमी भारत के जीवन की झलक भी देखने को मिलती है। दिव्यावदान में अनेक राजाओं की कथाऐं हैं। इसमें अनेक अंश चौथी शती ई. तक जोड़े गए। आर्य मंजु श्री मूल कल्प में बौद्ध दृष्टिकोण से गुप्त सम्राटों का वर्णन मिलता है। बौद्ध साहित्य से भारत और विदेशों के सांस्कृतिक संबंधों पर बहुत प्रकाश पड़ा है। प्रारंभिक बौद्ध धार्मिक साहित्य से हमें प्राचीन भारत के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की जानकारी तो मिलती ही है, छठी शती ई.पू. की राजनीतिक दशा का भी पर्याप्त वर्णन उपलब होता है। अंगुतर निकाय में जिन सोलह महाजनपदों का वर्णन मिलता है, वह कल्पना पर आधारित नहीं हैं। ये सोलह जनपद उस समय वस्तुतः विद्यमान थे।

### 2.10.2 जैन साहित्य

जैन आगमों में सबसे महत्वपूर्ण बारह अंग है। आचारांग सूत्र में जैन भिक्षुओं के आचार नियमों का उल्लेख है। भगवती सूत्र से महावीर के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। नागाधम्मकहा में महावीर की शिक्षाओं का संग्रह है। उवासगदसाओं में उपासकों के जीवन संबंधी नियम दिये गए हैं। अंतगडदसाओं और अणुतरोववाइद्वसाओ में प्रसिद्ध भिक्षुओं की जीवनकथाऐं हैं। विवागसुयमसुत में कर्मफल का विवेचन है। इन बारह अंगों में प्रत्येक का उपांक भी है। इन पर अनेक भाष्य लिखे गए जो निर्युक्ति, चूर्णि, टीका कहलाते हैं। जैन आगमों का वर्तमान रूप एक सभा में निश्चित किया गया था। जो 513 या 526 ई. में वलभी में हुई थी। भगवती सूत्र में सोलह महाजनपदों का भी उल्लेख है। भ्रदबाहुचरित से चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल की घटनाओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। एतिहासिक दृष्टि से वसुदेव हिण्डी, बृहत्कल्प सूत्र भाष्य, आवश्यक चूर्णि कालिकापुराण, कथा कोष महत्वपूर्ण जैन ग्रंथ है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व है जिसकी रचना ईसा की बारहवी शताब्दी में हुई।

पूर्व मध्यकाल (लगभग 600 से 1200 ई.) में अनेक जैन कथाकोशों और पुराणों की रचना हुई जैसे हरिभद्र सूरि (705 से 775 ई.) ने समरादित्यकथा, धूर्ताख्यान और कथाकोश उद्योतन सूरि (778 ई.) ने कुवलयमाला, सिद्धर्षिसूरि (605

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ई.) ने उपमितिभव प्रपंच कथा जिनेश्वर सरि ने कथाकोषप्रकरण और नवीं शताब्दी ईसवी में जिनसेन ने आदि पुराण और गुणभद्र ने उत्तर पुराण की रचना की। इस जैन साहित्य से तत्कालीन भारतीय समाज की सामाजिक और धार्मिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

### 2.10.3 धर्मेतर भारतीय साहित्य

धार्मिक साहित्य के लेखकों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म के सिद्धांतों का उपदेश देना था इसलिए उससे राजनीतिक गतिविधियों पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। धर्मेतर साहित्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी का उल्लेख हम कर चुके हैं। इससे हमें मौर्य काल से पूर्व के भारत की राजनीतिक सामाजिक व धार्मिक दशा की कुछ जानकारी मिलती है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस, सोमदेव के कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामकंजरी से मौर्यकाल की कुछ घटनाओं पर प्रकाश पडता है। किन्तु कौटिल्य के अथशात्त्र के कुछ अध्यायों से मौर्य शासन के आदेश और पद्धति का पता चलता है। अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के उद्देश्य से कृषि का उत्पादन बढाने के लिए सरकार ने स्वयं उस भूमि में खेती कराई जहां पहले खेती नहीं होती थी। उसने सिंचाई के साधनों में वृद्धि की और यातायात के साधनों का विकास करके व्यापार की उन्नति की। सरकार ने स्क्किों का प्रचलन बढ़ाकर भी व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उद्योगों और व्यापार पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण था। कामंदक के नीतिसार (लगभग 400 से 600 ई.) से गुप्तकालीन राज्यतंत्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कामंदक की विचारधारा पर कौटिल्य के अतिरिक्त महाभारत और स्मृतियों की परंपरा का भी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सोमदेव सूरि का नीतिवाक्यामृत (दसवीं शती ई. का अंत) अर्थशास्त्र की कोटि का ही ग्रंथ है। यह ग्रंथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अपेक्षा छोटा है किन्तु इसकी रचनाशैली अधिक आकर्षक है। इसके अध्ययन में मधुर काव्य के समान आनंद प्राप्त होता है।

पंतजलि के महाभाष्य और कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र नामक नाटक से शुंग वंश के इतिहास पर प्रकाश पडता है। कालिदास के रघुवंश में (जिसकी रचना कदाचित् चौथी शती ई. में हुई) संभवतः समुद्रगुप्त की दिग्विजय की झलक मिलती है। सोमदेव के कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी में राजा विक्रमादित्य की कुछ परंपराओं का उल्लेख है, परंतु यह कहना कठिन है कि उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितने हैं और लेखक की कल्पना कितनी। शूद्रक के मच्छकटिक नाटक और दण्डी के दशकुमार चरित में भी तत्कालीन समाज का सुंदर चित्रण मिलता है।

गुप्तकाल के बाद का इतिहास जानने के दो प्रमुख साधन राजकवियों द्वारा लिखित अपने संरक्षकों के जीवनचरित और स्थानीय इतिवृत्त है। जीवनचरितों में सबसे प्रसिद्ध बाणभट्टकृत हर्षचरित है जिसमें उसने हर्ष की उपलब्धियों का वर्णन किया है। वाकपति ने गौड़वहो में कन्नौज के शासक यशोवर्मा की ओर बिल्हण ने विक्रमंकदेव चरित में कल्याणी के परवर्ती चालुक्य नरेश विक्रमादित्य की उपलब्धियों का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त सन्ध्यासकरनन्दी ने रामचरित में बंगाल के शासक रामपाल की जीवनकथा लिखी है। इसी प्रकार जयसिंह ने कुमारपाल चरित में और हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य में गुजरात के शासक कुमारपाल का, पद्मगुप्त ने नव साहसांकचरित में परमार वंश का और जयानक ने पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज चौहान की उपलब्धियों का उल्लेख किया है। इन जीवनचरितों से तत्कालीन राजनीतिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु इन ग्रंथों में कुछ अतिश्योक्ति पाई जाती है। इन्हें भी हम शुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं कह सकते।

अधिकतर इतिहासकारों का मत है कि उपलब्ध संगम साहित्य की रचना ईसा की पहली दो शताब्दियों में हुई इस तमिल साहित्य से दक्षिण भारत के तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत में भी राजकवियों ने अपने संरक्षकों की उपलब्धियों का वर्णन करने के लिए कुछ जीवनचरित लिखे। इस प्रकार का एक ग्रंथ नन्दिककलम्बकम है। जिसमें पल्लव राजा नंदि वर्मा तृतीय की उपलब्धियों का वर्णन है। ओट्टकूतन नामक लेखक ने तीन चोल शासकों विक्रम चोल, कुलोत्तुंग द्वितीय और राजराज द्वितीय की उपलब्धियों का तीन अलग – अलग ग्रंथों में वर्णन किया। परन्तु इन सभी लेखकों के वर्णन पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य में शुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ केवल कल्हणकृत राजतरंगिणी है। सातवीं शताब्दी ईसवी के बाद के कश्मीर के शासकों की उपलब्धियों का वर्णन करने में कल्हण ने पर्याप्त सतर्कता बरती है। उसने सभी शासकों के गुणदोषों का निष्पक्ष रूप से विवेचन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गुजरात में अनेक इतिवृत लिखे गए। इन इतिवृतों में सबसे प्रसिद्ध रासमाला, सोमेश्वर कृत कीर्ति कौमुदी, अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन, मेरूतंग का प्रबन्ध चिंतामण, राजशेखर का प्रबंध कोश, जयसिंह के हम्मीर मद मर्दन और वस्तुपाल एवं तेजपाल प्रशस्ति, उदय प्रभु की सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी और बालचन्द्र का वसंतविलास है। इनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य भरे पड़े हैं। कुमारपाल के दो जीवन चरितों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इन ग्रंथों से गुजरात में चौलुक्य शासकों के राज्यकाल के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है।

सिंध में भी इसी तरह के इतिवृत उपलब्ध हैं। इन्हीं इतिवृतों के आधार पर तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में अरब लोगों ने अरबी में सिंध का इतिहास लिखा जिसका फारसी अनुवाद चचनामा नामक पुस्तक में उपलब्ध है।

नेपाल के इतिवृतों में केवल वहां के शासकों के नामों और उनके राज्यकाल का उल्लेख है। इन वंशावलियों में पहली शती ईसा से पूर्व के शासकों के नाम अनैतिहासिक प्रतीत होते हैं किन्तु उसके बाद के नाम ऐतिहासिक हैं। इन इतिवृत्तों में जिन शासकों के नाम का उल्लेख है वे अभिलेखों से सामंजस्य स्थापित करने पर पूर्णतया ठीक नहीं प्रतीत होते। इसलिए इन वंशावलियों को हम पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं मान सकते।

गुजरात, सिंध और नेपाल के किसी लेखक ने अपने प्रदेश के इतिवृत्तों का उपयोग करके उस प्रकार का एतिहासिक ग्रंथ नहीं लिखा जैसा कि कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा था। इसीलिए प्राचीन भारत का यही अकेला ऐतिहासिक ग्रंथ उपलब्ध है।

प्राचीन भारतीय साहित्य प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु इससे तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस साहित्य की तीन बड़ी कमियां हैं। एक तो ग्रंथ विशेष की रचना की तिथि निश्चित नहीं है। दूसरे, किसी भी ग्रंथ से प्रायः उसी प्रदेश की जानकारी मिलती है। जिसमें उसकी रचना हुई थी। तीसरे, इन ग्रंथों की प्रतियां लिखने वाले विद्वानों ने बहुधा अपनी इच्छानुसार उनके पाठ में हेर–फेर कर दिया जिससे यह पता नहीं लगता कि मूल पाक्या था। इतिहासकारों को साहित्यिक कृतियों का प्रयोग करते समय एक अत्यंत गंभीर कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अधिकांश ग्रंथों में चाहे व ब्राहम्ण ग्रंथ हों अथवा बौद्ध, जैन साहित्य हो अथव संगम साहित्य, सभी में स्तरीकरण की समस्या को भुलाया नहीं जा सकता। उदाहरणर्थ, ऋग्वेद के प्रथम एवं दशम मण्डल, उसी ग्रंथ के अन्य खण्डो की अपेक्षा परवर्तीकालीन माने गए हैं। रामायण एवं महाभारत जैसे विशद् महाकाव्यों में तो यह समस्या और भी अधिक गंभीर हो जाती है क्योंकि इन ग्रंथों की रचना सदियों तक चलती रही अतः इन ग्रंथों को शब्दशः किसी एक विशेष काल से संबद्ध नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बौद्ध के वैज्ञानिक अध्ययन से भी यह तथ्य विशेष रूप से सामने आया है कि एकरूप प्रतीत होने वाले कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों में भी विभिन्न स्तर है। इन कमियों के बावजूद जब ऊपर वर्णित कोसांबी की इतिहासविषयक परिकल्पना को ध्यान में रखते हैं तो प्राचीन भारत में संबद्ध साहित्यक स्त्रोतों की उपयोगिता स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनसे राजाओं की वंशावलियों के निर्माण में सहायता नहीं मिली है किन्तु जनजीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है।

## 2.11 विदेशियों के वृत्तांत

विदेशियों के वृत्तांत भी साहित्यिक साक्ष्य है। विदेशी लेखकों की धर्मेतर घटनाओं में विशेष रूचि थी, अतः उनके वर्णनों से राजनीतिक और सामाजिक दशा पर अधिक प्रकाश पड़ता है। इन लेखकों का समय भी प्रायः निश्चित है, इसलिए उनके वर्णन भारतीय लेखकों के वर्णनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। परन्तु यूनानी लेखक भारतीय परिस्थितियों तथा भाषा से अनभिज्ञ थे, अतः उनके सभी वर्णन पूर्णतया सही नहीं है। इसी प्रकार चीनी यात्रियों के वर्णन भी पूर्णतया ठीक नहीं है क्योंकि वे प्रत्येक घटना का वर्णन बौद्ध दृष्टिकोण से करते थे। अलबिरूनी ने भी प्रायः उपलब्ध भारतीय साहित्य के आधार पर लिखा अपने अनुभव के आधार पर नहीं।

इन सब कमियों के बावजूद यदि हम अन्य साधनों से प्राप्त साक्ष्य से विदेशियों के वर्णनों का मिलान करके उनका उपयोग करें तो वह प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सहायक हो सकता है।

विदेशियों के वृतांतों का विवेचन हम तीन वर्गों में करेंगे। 1. यूनान और रोम के लेखक 2. चीन के लेखक और 3. अरब के लेखक।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 2.11.1 यूनान और रोम के लेखक

यूनान और रोम के लेखकों में सबसे प्राचीन हिरोडोटस और टीसियस के वृत्तांत हैं। संभवतः इन दोनों लेखकों ने भारत के विषय में अपना ज्ञान ईरान में प्राप्त किया था। हिरोडोटस के वर्णन में कुछ अनुपयोगी तथ्य मिलते हैं। किन्तु उसमें भी अनेक कलिपत कहानियां है। टीसियस के वर्णन में अधिकतर कल्पित कहानियां हैं जो पूर्णतया अविश्वसनीय हैं। इन दोनों लेखकों की अपेक्षा उन यूनानी लेखकों के वर्णन अधिक महत्वपूर्ण हैं जो सिकन्दर के साथ भारत आए थे। रउदाहरण के लिए नियार्कस, आनेसिक्रिटस के वर्णन। इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण वर्णन मैगस्थनीज का है। मैगस्थनीज की लिखी पुस्तक **इंडिका** अब उपलब्ध नहीं है। यूनान और रोम के लेखकों ने इंडिका के आधार पर अपने वर्णन लिखे हैं। इन लेखकों के वर्णन बहुत उपयोगी हैं। क्योंकि उन्होंने उन तथ्यों को लिखा है जिन्हें भारतीय लेखक कोई महत्व नहीं देते थे। इनसे प्राचीन भारत का सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली है। उदाहरण के लिए सिकन्दर के आक्रमण की तिथि पर ही मौर्य शासकों की तिथियां निश्चित की गई हैं। इन लेखकों के वर्णन में भी कुछ कमियाँ हैं वे भारतीय भाषाऐं नहीं जानते थे और भारतीय संस्थाओं और रीति रिवाजों की उन्हें जानकारी नहीं थी। जो तथ्य उन्होंने अपनी आंखें से देखे थे वे प्रायः पूर्णतया विश्वसनीय हैं। किन्तु जो वर्णन उन्होंने सुनी हुई बातों के आधार पर लिखा है या अनुमान से लिखा है वह विश्वसनीय नहीं है। जैसे मैगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दास प्रथा नहीं है या भारत में सात जातियां हैं। हम अन्य साक्ष्यों के आधार पर निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये दोनों बातें ठीक नहीं है। इन लेखकों के वर्णन चन्द्रगुप्त के समय की राजनीतिक घटनाओं पर कम सामाजिक रीति रिवाजों और शासन प्रबन्ध पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

यूनानी लेखकों के ग्रंथों में पेरिप्लस ऑफ दी एरिथियन सी का उल्लेख करना आवश्यक है। इस पुस्तक के यूनानी लेखक का नाम हमें ज्ञात नहीं है। उसके विषय में इतना पता है कि वह यूनान का रहने वाला था किन्तु मिस्र में जाकर रहने लगा था। उसने 80 ईसवी के लगभग भारतीय समुद्रतट की यात्रा की। उसने अपने वर्णन में भारतीय बंदरगाहों के नाम तथा इनसे आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के नाम लिखे हैं। टॉलमी ने दूसरी शती ईसवी में भारत का भौगोलिक वर्णन लिखा। उसने अन्य लेखकों के वर्णन के आधार पर अपना वर्णन लिखा था। अतः उसके वर्णन में अनेक भूलें हैं। परन्तु फिर भी उसके वर्णन से हमें अनेक महत्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। प्लिनी ने अपना वर्णन पहली शती ईसवी में लिखा। भारतीय पशुओं, पौधों और खनिज पदार्थों के बारे में उसका भी वर्णन बहुत उपयोगी है। इन लेखकों को दूरस्थ देशों के विषय में जानकारी प्रापत करने की जो लगन थी वह प्रशंसनीय है।

### 2.11.2 चीनी यात्रियों के वृतांत

चीनी यात्रियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण फाह्यान, यूनान च्वांग और ई–चिंग के वर्णन हैं। इनके वर्णन चीनी भाषा में अभी तक उपलब्ध है और उनका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी कर दिया गया है। फाह्यान पांचवीं शती ईसवी में भारत आया था और 14 वर्ष भारत में रहा। उसने विशेष रूप से भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति के विषय में लिखा। उसे भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से कोई सरोकार नहीं था। युवान च्वांग हर्ष के राज्यकाल में भारत आया था और वह 16 वर्ष भारत में रहा। उसने धार्मिक अवस्था के साथ – साथ तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी वर्णन किया है। भारतीयों के रीति–रिवाजों और शिक्षा पद्धति पर भी युवान च्वांग के वर्णन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सातवीं शताब्दी के अत में ई–चिंग भारत आया था। वह बहुत समय तक विक्रमशील और नालंदा के विश्वविद्यालयों में रहा। उसने बौद्ध शिक्षा संस्थानों और भारतीयों की वेशभूषा, खानपान आदि के विषय में भी लिखा है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि सभी चीनी यात्री भिक्षु थे, इसलिए उनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक था। फाह्यान और ई–चिंग ने तो धर्मेतर दशा का बहुत ही कम वर्णन किया है। उन्होंने अपने वर्णन में उन राजाओं के नाम भी नहीं लिखे जो उस समय भारत में राज्य कर रहे थे। युवान च्वांग ने हर्ष, भास्करवर्मन आदि के विषय में लिखा है। परंतु इन सभी चीनी यात्रियों की बौद्ध धर्म में अटूट श्रद्धा थी, अतः वे निष्पक्ष रूप से भारत का वर्णन लिखने में असफल रहे। युवान च्वांग ने लिखा है कि हर्ष महायान बौद्ध धर्म का अनुयायी था और अन्य धर्मों का आदर नहीं करता था। परंतु अन्य साधनों से हमें ज्ञात होता है कि युवान च्वांग ने बुद्ध की प्रतिमा के साथ साथ सूर्य और शिव की प्रतिमाओं का भी पूजन किया था। इस प्रकार की भूल का मुख्य कारण यही था कि चीनी यात्री प्रत्येक बात को बौद्ध दृष्टिकोण से देखते थे और वे विशेष रूप से भारतीय बौद्धों के ही संपर्क में आये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 2.11.3 अरब यात्रियों के वृत्तांत

आठवीं शताब्दी से अरब लेखकों ने भारत के विषय में लिखना आरंभ कर दिया था। सुलेमान नवीं शती ईसवी के मध्य में भारत आया था। उसने पाल और प्रतीहार राजाओं के विषय में लिखा। अल मसूदी 941 ई. से 943 ई. तक भारत में रहा। उसने राष्ट्रकूट राजाओं की महत्ता के विषय में लिखा है। किन्तु अरब लेखकों में सबसे प्रसिद्ध अबूरिहान है। उसका दूसरा नाम अलबिरूनी था। वह महमूद गजनवी का समकालीन था। उसने संस्कृत भाषा सीखी और भारत की सभ्यता एवं संस्कृति को पूर्ण रूप से जानने का प्रयत्न किया। उसने अपने ग्रंथ तहकीकउल हिंद में भारत का बहुत तर्कसंगत और पूर्ण वर्णन लिखा है। उसके वर्णन में धार्मिक पक्षपात बिल्कुल नहीं है। उसने बड़े धैर्य से भारतीय समाज और संस्कृति को जानने का प्रयत्न किया। परंतु उसके वर्णन के दो प्रमुख दोष हैं। पहला दोष यह है कि उसने अपने वर्णन में भारत की राजनीतिक दशा के विषय में कुछ नहीं लिखा और दूसरा दोष यह है कि उसके वर्णन का मुख्य आधार उस समय उपलब्ध भारतीय साहित्य था। उसने निजी अनुभव के आधार पर कुछ नहीं लिखा। अलबिरूनी ने भारतीय गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, सृष्टिशास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, दर्शन, धार्मिक क्रियाओं, रीतिरिवाजों और सामाजिक विचारधारा का प्रशंसनीय वर्णन किया है। आधुनिक इतिहासकार काल विशेष से संबंध रखने वाली साहित्यिक तथा पुरातात्विक सभी सामग्री का उपयोग करके सभी चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। साहित्यिक स्त्रोतों का उपयोग करते समय वह उस विचारधारा का ध्यान रखता है जिससे प्रेरित होकर लेखक ने अपने ग्रंथ की रचना की थी। उदाहरण के लिए आर्य मंजु श्री मूल कल्प के लेखक का अपना ग्रंथ लिखते समय मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म का इतिहास लिखना था। इसलिए उसने बौद्ध धर्म के संरक्षक शासकों का गुणगान किया और अन्य शासकों की निंदा की। इतिहासकार लेखक के वर्णन का सही अर्थ तभी समझ सकता है जब वह उसके इस उद्देश्य को ध्यान में रखें। इसी प्रकार अभिलेखों का ठीक अर्थ तथा समझा जा सकता है जब हम यह भलीभांति समझलें कि अभिलेख का उद्देश्य क्या था और लेखक की विचारधारा क्या थी। प्रागैतिहासिक काल का इतिहास लिखते समय इतिहासकार साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य का समन्वय करके यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। इतिहास लिखते समय वह यथासंभव अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने का प्रयत्न करता है। सच्चा इतिहासकार अतीत का वर्णन करते समय उस वर्णन पर आधुनिक संकल्पनाओं को थोपने का प्रयत्न नहीं करता।

## 2.12 सारांश

आधुनिक इतिहासकार अतीत की विचारधारा का ध्यान रखकर अपने मन में उस का का परिवेश तैयार करता है और उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर उस परिवेश के अनुरूप तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। निपुण इतिहासकार को ऐसा सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए सदैव बहुत सतर्क रहना पड़ता है जिससे उसकी व्यक्तिगत विचारधारा से वह चित्र दूषित न हो जाए।

## 2.13 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने में अभिलेखों के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. ''सिक्के यद्यपि देखने में छोटे होते है, लेकिन उनसे कई बार महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है।'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. मृदभाण्डों से हमें इतिहास को समझने में क्या सहायता मिलती है ?

प्रश्न 4. ''ब्राह्मण साहित्य विपुल है, लेकिन उससे प्राप्त जानकारी न्यून है।'' क्या आप इस कथन से सहमत हैं।

प्रश्न 5. ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध साहित्य की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 6. यूनान एवं रोम के लेखकों के विवरण से हमें क्या ज्ञात होता है ?

प्रश्न 7. चीनी लेखकों का वृतान्त किन दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

प्रश्न 8. प्राचीन भारतीय इतिहास के मुख्य स्त्रोतों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-3 : प्राचीन भारतीय इतिहास के जैन स्त्रोत (जैन साहित्य)

**संरचना**


3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 जैन आगम

3.2.1 अंग

3.2.2 उपांग

3.2.3 छेद सूत्र

3.2.4 मूल सूत्र

3.2.5 प्रकीर्णक

3.2.6 चूलिका सूत्र

3.2.7 जैन आगमिक भाषा–अर्द्धमागधी

3.3 निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रंथ

3.3.1 निर्युक्ति

3.3.2 भाष्य

3.3.3 चूर्णि

3.3.4 टीका ग्रंथ

3.4 दार्शनिक साहित्य

3.5 जैन पुराण और चरित साहित्य

3.6 जैन काव्य एवं कथा साहित्य

3.7 महाकाव्य के भेद

3.8 सारांश

3.9 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 3.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के इतिहास की जानकारी के लिए जैन साहित्य अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। जैन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय संस्कृति और इतिहास के परिज्ञान में अधिक पूर्णताः एवं विश्वसनीयता प्राप्त होती है। प्रारम्भिक जैन साहित्य प्राकृतिक भाषा में लिखा गया।

## 3.1 उद्देश्य

जैन साहित्य को मोटे तौर पर पांच भागों में बांटा जा सकता है–

1. जैन आगाम
2. निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रंथ
3. दार्शनिक साहित्य
4. जैन पुराण और चरित साहित्य
5. जैन काण्य एवं कथा साहित्य।

## 3.2 जैन आगम

जैन साहित्य में जैन आगम सबसे प्राचीन एवं सर्वोपरि है। इसमें 12 अंग, 12 उपांग, 6 छेद सूत्र, 4 मूल सूत्र, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिका सूत्र आदि ग्रन्थों को शामिल किया जाता है। इनकी रचना एवं संकलन ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी ईस्वी तक के दीर्घकाल में भिन्न भिन्न धार्मिक अधिवेशनों एवं व्यक्तियों के प्रयासों से हुआ। जैन आगम साहित्य से जैन धर्म एवं दर्शन के बारे में विस्तृत जानकारी तो मिलती ही है, लेकिन इसमें यत्र तत्र तत्कालीन इतिहास की कुछ सूचनाओं का भी उल्लेख है।

### 3.2.1 अंग

जैन आगमों में सबसे महत्वपूर्ण 12 अंग है जिनका वर्णन निम्नानुसार है–

**(i) आचारांग** :– इस ग्रंथ में अपने नामानुसार मुनि आचार नियामों का वर्णन किया गया है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच – बीच में कहीं – कहीं आ जाते है। अर्द्धमागधी – प्राकृत भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। उपद्यान नामक नवमें अध्ययन में महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया गया है।

**(ii) सूत्रकृतांग** :– यह दो श्रुतस्कंधों में विभक्त की गई है – एक अंग – प्रविष्ट और दूसरा अंग बाह्य। प्राचीन मतों, वादों व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

**(iii) स्थानांग** : – यह श्रुतांग दस अध्ययनों में विभाजित है। इसमें सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इस श्रुतांग में नाना प्रकार का विषय वर्णन प्राप्त होता है, जैसे – दर्शन, जीव, अजीव, क्रिया, वेद, पुरूषों के प्रकार आदि।

**(iv) समवायांग** : – इस श्रुतांग में 275 सूत्र है। इसमें क्रम से वस्तुओं का निर्देश और कहीं कहीं उनके स्वरूप व भदोपभेदों का वर्णन किया गया है। आत्मा एक है, लोक एक है, धर्म अधर्म एक एक है इत्यादि।

**(v) भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति** : – इसे संक्षेप में केवल भगवती के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप में है। गौतम गणधर जिज्ञासा – भाव से प्रश्न करते है, और स्वयं तीर्थंकर महावीर उत्तर देते है।

**(vi) ज्ञातृधर्म कथा** :– इस अंग में भिन्न भिन्न कथानक तथा उनके द्वारा तप, त्याग व संयम सम्बन्धी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। इसमें विदेह राजकन्या मल्लि एवं द्रोपदी के पूर्वजन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है।

**(vii) उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)** : – इस श्रुतांग में आनन्द, कामदेव, चुलनीप्रिय, आदि दस उपासकों के कथानक है। इस कथानकों के द्वारा जैन गृहस्थों के धार्मिक नियम समझाये गये है और यह भी बताया गया है कि उपासकों को अपने धर्म परिपालन में कैसे कैसे विघ्नों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है।

**(viii) अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)** : – इनमे ऐसे महापुरूषों के कथानक उपस्थित किए गए है, जिन्होंने घोर तपस्या कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तकृत कहलाये।

**(ix) अणुत्तरोवाय दसाओ** : – इस श्रुतांग में कुछे ऐसे महापुरूषों का चरित्र वर्णन है, जिन्होने अपनी धर्म – साधना के द्वारा मरण कर उन अनुत्तर स्वर्ग विमानों में जन्म लिया। जहॉ से केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

**(x) प्रश्न व्याकरण** : – प्रतीत होता है कि मूलतः इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विधाओं व मंत्रों आदि का प्रश्नोतर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विष्य प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नही होता।

**(xi) विपाक सूत्र** : – इस अंग में जीवन के कर्मानुसार दुख और सुख रूप कर्मफलों का वर्णन किया गया है। कर्म सिद्वान्त और जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है।

**(xii) दृष्टिवाद** : – यह श्रुतांग अब नही मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पांच विभाग थे – परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग ओर चूलिका इन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इसके अन्तर्गत लिपि – विज्ञान, गणित आदि का वर्णन था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 3.2.2 उपांग – 12

उपर्युक्त श्रुतांगों के अतिरिक्त वलभी वाचना द्वारा 12 उपांगों, 6 छेद सूत्रों, 4 मूल सूत्रों, 10 प्रकीर्णकों और 2 चूलिका सूत्रों का संकलन किया गया था।

(i)प्रथम उपांग ''औपतातिक'' में नाना विचारों, भावनाओं और साधनों से मरने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरण सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहां नगरों, चैत्यों, राजाओं व रानियों आदि के वर्णन सम्पूर्ण रूप से पाए जाते है।

(ii) दूसरे उपांग का नाम 'राय–पसेणिय' है, जिसका संस्कृत रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है, क्योंकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किए गए प्रश्नों का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नही जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कौशल का इतिहास प्रसिद्ध राजा पसेण्डी (प्रसेनजित) रहा हो।

(iii) तीसरे उपांग 'जीववाजीवाभिगम' है। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद – प्रभेदों का विवरण महावीर ओर गौतम के बीच प्रश्नोतर रूप में उपस्थित किया गया है। इसमें द्वीपों, सागरों, लोकोत्सवों, यानों, अलंकारों, व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी पाए जाते है।

(iv) चौथा उपांग ''प्रज्ञापना'' है। इसमें क्रमशः जीव से सम्बन्ध रखने वाले, प्रज्ञापना, स्थान, स्थिति एवं कषाय, इन्द्रिय, कर्म, उपयोग, वेदना आदि विषयों का प्ररूपण है। इसे जैन सिद्धान्त का ज्ञान कोश कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है। जिनका समय ई.पू. दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(v) पांचवे उपांग ''सूर्यप्रज्ञप्ति'' में 20 पाहूड है, जिनके अन्तर्गत 108 सूत्रों में सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष सम्बन्धी मान्यताओं के अध्ययन के लिए यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(vi) छठा उपांग जम्बूद्वीप – प्रज्ञप्ति है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम भाग के चार परिच्छेदों में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल विभागों का तथा कुलकरों, तीर्थंकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(vii) सातवां उपांग चन्द्र प्रज्ञप्ति अपने विषय विभाजन व प्रतिपादन में सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनो अवश्य अपने अपने विषय में भिन्न रहें होंगें, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये है।

(viii) आठवें उपांग कल्पिका में 10 अध्ययन है, जिसमें कुणिक, अजातशत्रु ने अपने पिता श्रेणिक बिम्बिसार को बन्दीगृह में डालने, श्रेणिक की आत्महत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिसमें मगध के प्राचीन इतिहार पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(ix) नौवें उपांग कल्पावतंसिका में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएं है, जो अपने सत्कर्मो द्वारा स्वर्गवासी हुए।

(x-xi) दसवें व ग्यारहवें उपांग पुष्पिका और पुष्पचूला में 10 – 10 अध्ययन है, जिसमें ऐसे पुरूष – स्त्रियों की कथाऐं है जो धार्मिक साधना द्वारा स्वर्गगामी हुए और देवता होकर अपने विमानों द्वारा महावीर की वन्दना करने आए।

(xii) बारहवें अंतिम उपांग वृष्णिदशा में बारह अध्ययन है, जिनमें द्वारका के राजा कृष्ण वासुदेव का, 22 वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एवं वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पांच उपांग सामूहिक रूप से निर्यावलियाओं भी कहलाते है, और उनमे उन्हे उपांग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नही जो अदितः ये ही पांच उपांग रहे हो और वे अपने विषयानुसार अंगों से सम्बद्ध हो। पीछे द्वादशांग की देखादेखी उपांगों की संख्या बारह तक पहूंचा दी गई हो।

### 3.2.3 छेद सूत्र – 6

छह छेद सूत्रों के नाम क्रमशः (1) निशीथ (2) महानिशीथ (3) व्यवहार (4) आचार दशा (5) कल्पसूत्र (6) पंचकल्प या जीतकल्प है, जिसमे बड़े विस्तार के साथ जैन मुनियों की ब्राह्य और आभ्यन्तर साधनाओं का वर्णन किया गया है और विशेष नियमों के भंग होने पर समुचित प्रायश्चितों का विधान किया गया है, प्रसंगवश यहां नाना तीर्थकरों व गणधरों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सम्बन्ध घटनाओं के उल्लेख भी आए है। इन रचनाओं में कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्व है और साधुओं में उसके पठन – पाठन की परम्परा आज तक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये रचनाऐं बड़े महत्व की है।

### 3.2.4 मूलसूत्र – 4

चार मूलसूत्रों के नाम है – उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक ओर पिण्डनिर्युक्ति। ये चारों सूत्र मुनियों, के अध्ययन और चिन्तन के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण माने गए है, क्योंकि उनमें जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों, विचारों व भावनाओं और साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्र में साधुओं की छह नित्यक्रियाओं अर्थात सामयिक, चतुर्विंशति – स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कर्योत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। पिण्डनियुक्ति में अपने नामानुसार पिण्ड अर्थात मुनि के ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। निर्युक्ति आगमों पर सबसे प्राचीन टीकाओं को कहते है, और इनके कर्ता भद्रबाहु माने जाते है। शेष दो मूल सूत्र अर्थात उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनाऐं है, जो भाषा, साहित्य एवं सिद्धात, तीनों दृष्टियों से अपनी विशेषता रखी है। उत्तराध्ययन में उन उपदेशों का उल्लेख है, जो महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व दिए थे। दशवैकालिक में 12 अध्ययन है, जिनमें विशेषतः मुनि आचार का प्ररूपण किया गया है।

### 3.2.5 प्रकीर्णक – 10

दसपईण्णा नामक ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में टीकाकारों ने कहा कि तीर्थंकरों द्वारा दिए गए उपदेश के आधार पर नाना श्रमणों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रकीर्णक कहलाए। ऐसे प्रकीर्णकों की संख्या सहस्त्रों में बताई जाती है, किन्तु जिन रचनाओं को वलभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस है। जिनके नाम है।

1. चतुः शरण (चउसरण)
2. आतुर – प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण)
3. महाप्रत्यारख्यान (भ्महापच्चखाण)
4. भक्तपरिज्ञा (भत्तपइण्णा)
5. तन्दुलवैचारिक (तन्दुलवैयालिप)
6. संस्तारक (संथारग)
7. गच्छाचार (गच्छायार)
8. गणिविद्या (गणिविज्जा)
9. देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थव) और
10. मरणसमाधि (मरणसमाहि)

ये रचनाऐं प्रायः पद्यात्मक है। (1) चतुःशरण में आरम्भ में छह आवश्यकों का उल्लेख करके पश्चात अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म – इन चार को शरण मानकर पाप के प्रति निन्दा और पुण्य के प्रति अनुराग प्रकट किया गया है। इसमें तिरेसठ गाथाऐं मात्र है। (2) आतुर प्रत्याख्यान में बालमरण और पंडित मरण में भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमें केवल 70 गाथाऐं है (3) महाप्रत्याख्यान में 142 अनुष्टुभ छंदमय गाथाओं द्वारा दुश्चरित्र की निन्दापूर्वक, सच्चरित्रात्मक, भावनाओं व्रतों व आराधनाओं और अन्ततः प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है (4) भक्त परिज्ञा में 172 गाथाओं द्वारा भक्त परिज्ञा, इंगिनी और पादपोपमन रूप मरण के भेदों का स्वरूप बताया गया है। मन को संयत रखने का उपदेश दिया गया हे, मन को बंदर की उपमा दी गई है जो स्वभावतः अत्यंत चंचल है (5) तंदुलवैचारिक 123 गाथाओं युक्त पद्य गद्य मिश्रित रचना है। जिसमें गौतम, आहार विधि, बालजीवन क्रीड़ा आदि अवस्थाओं का वर्णन है (6) संस्तारक में 122 गाथाओं द्वारा साधु के अंत समय में तृण का आसन (संथारा) ग्रहण कने की विधि बताई गई है, जिस पर अविचलित रूप से स्थित रहकर वह पंडित मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता हैं (7) गच्छाचार में 137 गाथाओं द्वारा मुनियों व आर्यिकाओं के गच्छ में रहने व तत्सम्बन्धी विनय व नियमोपनियमों के पालन की विधि समझाई गई है। यहां मुनियों और साध्वियों को कामवासना की जागृति से बचाने पर जोर दिया गया है। (8) गणिविद्या में 86 गाथाओं द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमें होरा शब्द भी आया है। (9) देवेन्द्रस्तव में 307 गाथाऐं है, जिनमें 24 तीर्थकरों की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर में कल्पों और कल्पातीत देवों का वर्णन करता है। (10) मरण समाधि में 663 गाथाऐं है जिसमें आराधना, अराधक, आलोचना, संलेखन, क्षमापन आदि 14 द्वारों से समाधि मरण की विधि समझाई गई है। दसों प्रकीर्णकों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानतः मुनियों को अपने अन्त समय में मन को धार्मिक भावनाओं में लगाते हुए शांति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

### 3.2.6 चूलिका सूत्र – 2

दो चूलिका सूत्र नन्दी ओर अनुयोगद्वार है। जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाऐं हैं (1) नन्दी सूत्र के कर्ता तो एक मतानुसार वलभी वाचना के प्रधान देवद्धिगणी क्षमाश्रमण ही है। नन्दीसूत्र में 90 गाथाऐं और 59 सूत्र है। यहां भगवान महावीर तथा उनके संघवर्ती श्रमणों व परम्परागत भद्रबाहू, स्थूलभद्र, महागिरी आदि आचार्यो की स्तुति की गई है। तत्पश्चात ज्ञान के पांच भेदों का विवेचन कर, आचारांग आदि 12 श्रुतांगों के स्वरूप को विस्तार में व्यक्त किया गया है। यहां भारत, रामायण, कौटिल्य, पातंजल आदि शस्त्रपुराणों तथा वेदों एवं 72 कलाओं का उल्लेख कर मुनियों के लिए उसका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है (2) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत्य माना जाता है। उसमे प्रश्नोतर रूप में पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयों का भी प्ररूपण किया गया है। इसके साथ ही काव्य, सम्बन्धी, नवरसों, स्व, ग्राम, मूर्च्छना, आदि लक्षणों एवं चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रों के उल्लेख भी आए है, इन पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है।

### 3.2.7 अर्द्धमागधी भाषा

उपर्युक्त 45 आगम ग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी भाषा का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है – जो भाषा आधे मगध प्रदेश में बोली जाती थी अथवा जिसमें मगधी भाषा की आधी प्रवृत्तियां पाई जाती थी। विद्वानों का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एवं बुद्व दोनों के उपदेशों की भाषा उस समय की अर्द्ध मागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके होंगें।

**सूत्र या मुक्त?** इन आगमों के बारे में एक बात और विचारणीय है। उन्हे प्रायः सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता हे, जैसे आचारांग सूत्र, उतराध्ययन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ में संस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में ये रचनाऐं सूत्र रूप सिद्ध नही होती। सूत्र का मुख्यतः लक्षण संक्षिप्त वाक्य में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है और उसमें पुनरावृति को दोष माना जाता हैं किन्तु ये जैन श्रुतांग न तो वैसी संक्षिप्त रचनाऐं है और न उनमें विषय व वाक्यों की पुनरावृति की कमी है। अतएव उन्हें सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत नामानुसार ये रचनाऐं सुत्त कही गई है। जैसे आयारांग सुत्त। इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महावीर के काल में सूत्र शैली का प्रारम्भ भी संभवतः नही हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदों के सुक्तों का। और संभवतः वही नाम मूलतः इन रचनाओं को, बौद्ध साहित्य के सूक्तों को, उनके प्राकृत रूप में दिया गया होगा।

## 3.3 निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रन्थ

जैन आगमों की व्याख्या के लिए उन पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये है जिन्हे चार वर्गो में बांटा जा सकता है। पालि त्रिपिटक पर बुद्धघोष की अट्ठकथाओं की भांति आगम साहित्य पर भी निर्युक्ति, संग्रहणी, भाष्य, महाभाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, विवृति, दीपिका, अवचूरी, विवेचन, व्याख्या, अक्षरार्थ, पंजिका, टब्बा, भाषाटीका, वचनिका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है।

यह विपुल साहित्य प्रायः आगम – सूत्रों से सम्बद्ध है किन्तु साथ ही स्वतन्त्र भी है। इस साहित्य के विविध रूप मे देखने में आते है। इसका कतिपय भाग आगम उत्तरकालीन भी है, विशेषकर नन्दी और अनुयोग जैसे परवर्ती आगम सूत्रों की दृष्टि से। इस साहित्य को निर्युक्ति (प्राकृत गाथाबद्ध), भाष्य (प्राकृत गाथाबद्ध), चूर्णि (संस्कृत – प्राकृत मिश्रित गद्यबद्ध) और टीका (संस्कृत गद्यबद्ध प्राकृत कथाओं सहित) इन चार विभागों में विभक्त किया गया है। इनमें आगम को जोड़ देने से यह साहित्य पंचागी नाम से कहा जाता है।

### 3.3.1 निज्जुति (निर्युक्ति)

व्याख्यात्मक ग्रन्थों में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। सूत्र में निश्चय किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा है (णिज्जुता ते आत्था, जं बद्धा तेण होई णिज्जुति) नियुक्ति आगामों पर आर्या छन्द में प्राकृत गाथाओं में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्तों का उपयोग किया है, जिका उल्लेख मात्र यहां मिलता है। यह साहित्य इतना सांकेतिक और संक्षिप्त है कि बिना भाष्य और टीका के सम्यक् प्रकार से समझ में नही आता। इसलिए टीकाकारों ने मूल आगम के साहित्य की रचना की गई जान पड़ती है। संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य आसानी से कण्ठस्थ किया जा सकता था और धर्मोपदेश के समय इसमें से कथा आदि के उद्धरण दिए जा सकते थे। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आगामों के मूल सूत्रों में गिनी गई है, इससे निर्युक्ति – साहित्य की प्राचीनता का पता चलता है कि वल्लभी वाचना के समय ईसवी सन् की पांचवी छठी शताब्दी के पूर्व ही निर्युक्तियां लिखी जाने लगी थी। नयचक्र के कर्ता मल्लवादी (वि.सं. की 5 वीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ में निर्युक्ति की गाथा का उद्धरण दिया है। इससे भी उक्त कथन का समर्थन होता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्य, प्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशश्रुतस्कन्ध, उतराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित इन सुत्रों पर निर्युक्तियां लिखी गई हैं। सुर्य प्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अनुपल्ब्ध है। इसके साथ ही पिण्डनिर्युक्ति, औघनिर्युक्ति ओर आराधनानिर्युक्ति के ही अंश है। आराधनानिर्युक्ति का उल्लेख मूलाचार (5.82) में मिलता है और सम्भवतः यह निर्युक्ति भगवती–आराधना, मरणसमाही आदि में सम्मिलित कर ली गई है (ए.एन. उपाध्ये, बृहत्कथाकोश की प्रस्तावना, पृ.31) पंचकल्पनिर्युक्ति का बृहत्कल्पनिर्युक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। महानिशीश के अनुसार पंचमंगलश्रुतकन्ध पर भी निर्युक्ति लिखी गई थी। निर्युक्तियों के लेखक परम्परा के अनुसार अष्टांगनिमित्वेता और मंत्रविद्या के पारगामी भद्रबाहू (द्वितीय) माने जाते है जो छेदसूत्र के कर्ता, अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहू से भिन्न है। दुर्भाग्य से बहुत से आगामों की निर्युक्ति और भाष्य की गाथाऐं परस्पर इतनी मिश्रित हो गई है कि चूर्णिकार भी उन्हे पृथक नही कर सकें। निर्युक्ति मे अनेक ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक और पौराणिक परम्पराऐं, जैन सिद्वान्त के तत्व और जैनों के परम्परागत आचार विचार सन्निहित है।

### 3.3.2 भाष (भाष्य)

निर्युक्ति की भांति भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में सक्षिप्त शैली में लिखे गए है। बृहकल्प, दशवैकालिक आदि सूत्रों के भाष्य और निर्युक्ति की गाथाऐं परस्पर अत्यधिक मिश्रित हो गई है, इसलिए अलग से उनका अध्ययन करना कठिन हैं निर्युक्तियों की भाषा के समान भाष्यों की भाषा भी प्रमुख रूप से प्राचीन प्राकृत (अर्धमागधी) है, अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसैनी के प्रयोग भी देखने में आते है। मुख्य छन्द आर्य है। भाष्यों का समय सामान्य तौर पर ईसवी सन् की लगभग चौथी पांचवी शताब्दी माना जा सकता है। भाषा साहित्य में विशेष रूप से निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य का स्थान अत्यन्त महत्व का है। इस साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियां, लौकिक कथाऐं और निर्ग्रन्थों के परम्परागत प्राचीन आचार विचार की विधियों आदि का प्रतिपादन है। जैन श्रमण संघ के प्राचीन इतिहास को सम्यक प्रकार से समझने के लिए उक्त तीनों भाष्यों का गंभीर अध्ययन आवश्यक है। संघदासगणि क्षमाश्रमण, जो वसुदेवहिण्डी के कर्ता संघदासमणि वाचक से भिन्न है, कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पभाष्य के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित भाष्यों का उल्लेख किया गया है – 1. बृहत्कल्प लघुभाष्य 2. बृहत्कल्प बृहत्भाष्य (यह अपूर्ण है, तीसरे अपूर्ण उद्देश तक प्राप्त), 3. महतृपंचकल्पभाष्य 4. व्यवहार लघुभाष्य 5. व्यवहार बृहतभाष्य (अप्राप्त), 6. निशीथ लघुभाष्य 7. निशीश बृहतभाष्य (अभाष्य) 8. विशेषावश्य – महाभाष्य 9. जीतकल्प 10. उतराध्यन 11. आवश्यक सूत्रमूलभाष्य 12. आवश्यक सुत्रभाष्य 13. ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य 14. औघनिर्युक्ति महाभाष्य 15. दशवैकालिकभाष्य 16. पिण्डनिर्युक्ति भाष्य । महाकाव्य भाष्यों (महाभाष्यों) की संख्या आठ है : विशेषावश्यक, बृहत्कल्पलघु, बृहत्कल्पबृहत, पंचकल्प, व्यवहारलघु, निशीथलघु, जीतकल्प और ओघनिर्युक्तिमहा.। महाभाष्य दो प्रकार के लिखे गये है : (1) जिन पर लघुभाष्य नहीं, सीधे निर्युक्ति पर स्वतन्त्र महाभाष्य, जैसे विशेषावश्यक – महाभाष्य और ओघनियुक्ति – महाभाष्य (2) लघुभाष्य को लक्ष्य में रखकर महाभाष्य, जैसे बृहत्कपभाष्य (यह महाभाष्य अपूर्ण है) निशीथ और व्यवहार पर भी महाभाष्य लिखे गये थे, लेकिन वे अनुपलब्ध है। आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिक आदि पर लघुभाष्य लिखे गए है जिनमें निर्युक्ति गाथाओं के साथ साथ गाथाओं का मिश्रण हो गया है।

### 3.3.3 चुण्णि (चूर्णि)

आगमों के ऊपर लिखे हुए व्याख्या साहित्य में चूर्णियों का स्थान बहुत महत्व का है। चूर्णियां गद्य में लिखी गई है। चूर्णियां केवल प्राकृत में ही न लिखी जाकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखी गई थी, इसलिए भी इस साहित्य का क्षेत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

निर्युक्ति और भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत थ। चूर्णियों में प्राकृत की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा को मिश्र प्राकृत भाषा कहना सर्वथा उचित ही है। चूर्णियों में प्राकृत की लौकिक, धार्मिक अनेक कथाऐं दी है, प्राकृत भाषा में शब्दों की व्युत्पती दी है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य उद्धत किए है। चूर्णियों में निशीथ की विशेषचूर्णि तथ आवश्यकचूर्णि का स्थान बहुत महत्व का है। इसमें जैन पुरातत्व से सम्बन्ध रखने वाली विपुल सामग्री मिलती है। देश–देश के रीति रिवाज, मेले, त्यौहार, दुष्काल, चोर लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि विषयों का इस साहित्य में वर्णन है। जिससे जैन आचार्यो की जनसम्पर्क–वृति, व्यवहार कुशलता और वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय वज्रशाखीय, जिनदासगणी महतर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध है, उनका समय ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आस पास माना जाता है। निम्नलिखित आगमों पर चूर्णियां उपलब्ध है – आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापनाशरीरपद, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उतराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार

### 3.3.4 टीका

निर्युक्ति में भाष्य ओर चूर्णियों की भांति आगमों के ऊपर विस्तृत टीकाऐं भी लिखी गई है जो आगम सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। ये टीकाऐं संस्कृत में है। यद्यपि कुछ टीकाओं का कथा सम्बन्धी अंश प्राकृत में भी उद्वत किया गया है। जान पड़ता है कि आगमों की अन्तिम वल्लभी वाचना के पूर्व ही आगमों पर टीकाऐं लिखी जाने लगी। विक्रम की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी दशवैकालिक चूर्णि में अनेक स्थलों पर इन प्राचीन टीकाओं की ओर संकेत किया है।

टीकाकारों में याकिनीसूनू हरिभद्रसूरी (705–775 ईस्वी सन्) का नाम उल्लेखनीय है। जिन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर टीकाऐं लिखी। प्रज्ञापना पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी है। इन टीकाओं में लेखक ने कथा भाग को प्राकृत में ही सुरक्षित रखा है। हरिभद्रसूरी के लगभग सौ वर्ष पश्चात शीलांकसूरी ने आचारांग और सूत्रकतांग पर संस्कृत टीकाऐं लिखी। इनमें जैन आचार विचार और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है।

हरिभद्रसूरी की भांति टीकाओं मे प्राकृत कथाओं को सुरक्षित रखने वाले आचार्यो में वादिवेताल शान्तिसूरी, नेमिचन्द्रसूरी और मलयगिरी का नाम उल्लेखनीय है। उक्त दोनो टीकाओं में बंभदत और अगड़दत की कथाऐं तो इतनी लम्बी है कि वे एक स्वतन्त्र पुस्तक के विषय है। इन टीकाकारों में ई.सन् की 12वीं शताब्दी के विद्वान अभयदेवसूरी, द्रोणाचार्य, मलधारि, हेमचन्द्र, मलयगिरी तथा क्षेमकिर्ती (ईस्वी सन् 1275), शांतिचन्द्र (ई. सन् 1593) आदि के नाम उल्लेखनीय है। वास्तव में आगम सिद्धान्तों पर व्याख्यात्मक साहित्य का इतनी प्रचुरता से निर्माण हुआ है कि वह एक अलग ही साहित्य बन गया। इस विपुल साहित्य ने अपने उत्तरकालीन साहित्य के निर्माण में योगदान दिया जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत भाषा का कथा साहित्य, चरित साहित्य, धार्मिक साहित्य और शास्त्रीय साहित्य उत्तरोतर विकसित होकर अधिकाधिक समृद्ध होता गया। अलग पृष्ठों में क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

## 3.4 दार्शनिक साहित्य

इस पाठ मे कालक्रम से दिगम्बर जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो द्वारा जैन दर्शनिक साहित्य में किए गए योगदान का उल्लेख किया जाएगा। इस क्रम मे उनकी प्रमुख कृतियों तथा उनके वैयक्तिक, वैभिष्ट्य को विस्तार भय से, अति संक्षिप्त शैली में आंकलित करने का प्रयास किया जाएगा।

**1. आचार्य कुन्दकुन्द** :– जैन दार्शनिक साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास ईसा की प्रथम शताब्दी से आरम्भ होता है। इस शताब्दी में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के एक प्रभावक आचार्य हुए। इनका नाम पद्मनन्दि थ। उनके ग्रन्थ दिगम्बर आम्नाय मे आगम ग्रन्थों के समान ही प्रमाण माने जाते है। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समसयार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अने ग्रन्थ उनके बनाए हुए है। इनके शुरू के तीन ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूग्र है। जैसे वेदान्त दर्शन मे उपनिषद, भगवत्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रस्थानत्रयी कहते है। वैसे ही जैन दर्शन में प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाटक–त्रयी के नाम से ख्यात है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रियाँ, आत्मा और ज्ञान के बारे में विस्तार से चर्चा की है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने मती, द्रण्य, गुण और पर्याय में भेदाभेद का विवेचन संयुक्तिक और सुन्दर शैली में किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**2. सूत्रकर उमास्वाति** :– आचार्य कुन्दकुन्द के बाद में एक आचार्य हुए जिन्होने वैदिक दर्शन के सूत्र ग्रन्थों की भांति ही जैन दर्शन को संस्कृत भाषा के सूत्रों में संग्रहित करने का सफल प्रयत्न किया। उक्त सूत्र ग्रन्थ को तत्वार्थ सूत्र कहते है। इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है। इसी से इसको "मोक्ष शास्त्र" भी कहते है। इसका आरम्भ होता है मोक्ष – मार्ग से। आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही सूत्रकार ने सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चरित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया है और सात तत्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बताया है। उन्ही सात तत्वों का निरूपण इस ग्रन्थ में है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नौ तत्वों का निरूपण किया है। किन्तु सूत्रकार ने पुण्य और पाप तत्व को आश्रव ओर बन्ध तत्व में गर्भित करके तत्वों की संख्या सात ही रखी है।

**3. आचार्य समन्तभद्र** :– जैनाचार्यो में समन्तभद्र स्वामी का स्थान बहुत ऊँचा है। उत्तरकाल में होने वाले प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यो ने अपने ग्रन्थ के आदि में बड़े ही सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया है। नवीं शताब्दी के विद्वान जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के आरम्भ में लिखा है कि उस समय जितने वादी, वाग्मी, कवि और गायक थे उन सबके हृदय पर आचार्य सामन्तभद्र के ग्रन्थों में सबसे प्रधान ग्रन्थ है। इसमें आप्त के स्वरूप की मीमांसा करते हुए उसे सर्वज्ञ और निर्दोष बताया है। विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा करके आचार्य समन्तभद्र ने तत्व को भावभावात्मक, द्वैताद्वैतात्मक, नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक आदि स्वीकार किया है, स्यादवाद या अनेकान्तवाद का दार्शनिक क्षेत्र में सफल प्रयोग करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को ही है।

**4. आचार्य सिद्धसेन** :– जैन वाङ्गमय में आचार्य सिद्धसेन का स्थान बहुत ऊँचा है। सिद्धसेन प्राचीन तर्क ग्रन्थकार थे। द्वात्रिंशद् – द्वात्रिंशिका, सन्मति – तर्क, न्यायावतार ओर कल्याणमंदिर के स्त्रोत को इनकी कृति माना जाता है। सन्मति सूत्र में नयवाद पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सन्मति सुत्र के दूसरे काण्ड में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के क्रमवाद तथा युगपद्वाद में रोष दिखाकर अभेदवाद की स्थापना है। न्यायावतार में प्रमाण का विवेचन है।

**5. आचार्य पूज्यपाद** :– इनका नाम देवनन्दि था। किन्तु ये पूज्यपाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध है। ये गंग राजा दुर्विनीत के शिक्षा गुरू थे। पूज्यपाद भारत के आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों में से है। इन्होने जैन्नैद्र व्याकरण रचा है। तथा 'तत्वार्थसूत्र' पर सबसे पहली टीका इन्ही की पाई जाती है।, जिसका नाम स्वार्थसिद्धी है। इस टीका में इन्होने कई स्थानों पर सांख्य, योग, बौद्ध, आदि दर्शनों के कतिपय मन्तण्यों की चर्चा की है।

**6. आचार्य मल्लवादी** :– श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचर्य मल्लवादी का स्थान बहुत उँचा है। इनका बनाया 'द्वादशार नयचक्र' नाम का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ सिंह गणि क्षमाश्रमण की टीका के साथ उपलब्ध है। जैन दर्शन में अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था प्रमाण और नय के अधीन है। नयचक्र में जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, नय का प्रतिपादन है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है। किन्तू मूल नयचक्र उपलब्ध नही है। केवल उसकी टीका ही उपलब्ध है।

**7. जिनभद्र गणि क्षमा–श्रमण** :– श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण एक बहुत समर्थ विद्वान हुए है। उनका विशेषावश्यक भाष्य सुप्रसिद्ध महत्पपूर्ण ग्रन्थ है उसी के कारण भाष्यकार नाम से उनकी ख्याति है। यों तो विशेषावश्यक भाष्य आगमिक चर्चाओं से भरपूर है, किन्तु उसकी ज्ञान विषयक चर्चा जैन दर्शन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। क्षमा श्रमण जी तर्क कुशल होते हुए भी आगम प्रधान थे। उनका तर्क आगमानुसारी होता था। इसी से उन्होने अपने पूर्वज तर्क प्रधान आचार्य सिद्धसेन के मत की कड़ी आलोचना की है।

**8. पात्रकेसरी** :- दिगम्बर परम्परा में पात्रकेसारी नाम के एक समर्थ आचार्य हो गए है। उन्होने 'जिलक्षण कदर्थन' नाम का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। जो अब अनुपलब्ध है।

**9. भट्टाकलंक** :– भट्टाकलंक का स्थान जैन बाड्मय में अनुपम है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैन बाड्मय को समृद्ध बनाया। ये जैन न्याय के सर्जक कहे जाते है ओर उनके नाम के आधार पर श्लेषात्मक भाषा में जैन न्याय को आकलंक – न्याय भी कहा जाता है। जैन न्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किए गए मन्तव्यों को बिना किसी भेदभाव के ज्यों का त्यों अपनाया है।

**10. हरिभद्र** :– मुनि श्री जिनविजयजी ने आचार्य हरिभद्र सूरी का समय ई.सन 700 से 800 निर्धारित किया हैं। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक मान्य आचार्य थे। इन्होने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है। कहा जाता है कि इन्होने 1400 प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में विशेष प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार है – अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्त, जय पताका, दिड्नागकृत न्याय प्रवेश की वृत्ति, षड्दर्शन, समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**11. स्वामी विद्यानन्द** :– स्वामी विद्यानन्द दिगम्बर – सम्प्रदाय में एक बहुत ही विशिष्ट विद्वान हो गए है। ये ब्राह्मण मीमांसक थे। आचार्य समन्तभद्र के आप्त मीमांसा नायक प्रकरण को सुनकर ये जैन दर्शन से प्रभावित हुए और जैन बन गए। उन्होने आत्ममीमांसा पर अलंकदेव के अत्यन्त गुढार्थक् अष्टशती भाष्य को आत्मसात् करके अष्टसहस्त्री नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके प्रारम्भ में ही उन्होने भावना, विधि और नियोग की जमकर आलोचना की है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। उसकी प्रशस्त शैली, मार्मिक शब्द योजना और अकाट्य तर्क कुशलता देखकर विद्वान मुग्ध हो जाते है।

**12. आचार्य माणिक्यनन्दि** :– आचार्य माणिक्यानन्दि सूत्रकार थे। इनका परीक्षामुख नामक एक सुत्र ग्रन्थ उपलब्ध है। जो न्याय शास्त्र की दृष्टि से निबद्ध किया गया है। इसमें छह उद्देश्य है– प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास

**13. अमयदेव सूरि** :– इन्होने सिद्वसेन के 'सन्मति तर्क' पर एक टीका संस्कृत में रची है। इसमें सैकड़ो दार्शनिक ग्रन्थों का निचोड़ भरा हुआ है। इसे दसवीं शताब्दी के दार्शनिक वादों का संग्रह कहा जा सकता है।

**14. आचार्य प्रभाचन्द्र** :–आचार्य प्रभाचन्द्र भी अभयदेव सूरी की कोटि के विद्वान थे। इन्होने अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर 'न्याय कुमुदचन्द्र' नाम के और परीक्षा सूत्र पर 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम का सुविस्तृत टीका ग्रन्थ अत्यन्त प्रांजल भाषा में निबद्व किए है। पहला ग्रन्थ उनकी दार्शनिकता और दूसरा उनकी तार्किकता का प्रतीक है।

**15. वादिराज सुरि** :– वादिराज सुरि दिगम्बर – सम्प्रदाय के महान तार्किकों में से है। ये प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन थे। षट्तर्क षष्मुख, स्यादवाद – विद्यापति, जगदेक – मल्लवादी इसकी उपाधियां थीं। इन्होने अकलंकदेव के 'न्याय–विनिश्चय' पर 'न्याय विनिश्चय पर विवरण' नामक अत्यन्त विद्वतापूर्ण मौलिक टीकाग्रन्थ का निर्माण किया है।

**16. देवसूरि** :– इन्होने दिगम्बराचार्य माणिक्यनंदि के परीक्षामुख सूत्र का अनुकरण करके 'प्रमाणनयत्वालोक' नामक न्याय सूत्र ग्रन्थ रचा है और उस पर 'स्यादवाद रत्नाकर' नामक टीका भी रची है।

**17. आचार्य हेमचन्द्र** :– आचार्य हेमचन्द्र तो अत्यन्त प्रसिद्व है। आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह को प्रभावित करके अपना अनुयायी बनाया था। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वमुखी थी। व्याकरण, काण्य, अलंकार, कोश, दर्शन, योग आदि सभी विषयों पर इनकी रचनाऐं उपलब्ध है।

## 3.5 जैन पुराण और चरित साहित्य

कथा और आख्यानों की भाँति जैन मुनियों ने महापुरूषों के चरितों की भी रचना की है। जब ब्राह्मणों के पुराण ग्रन्थों की रचना होने लगी तथा रामायण, महाभारत ओर हरिवंशपुराण आदि की लोकप्रियता बढ़ने लगी तो जैन विद्वानों ने भी राम, कृष्ण और तीर्थकर आदि महापुरूषों के जीवन चरित लिखना आरम्भ किया। तरेसठशलाकापुरूषों के चरित में चौबीस तीर्थकर, बाहर चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नो प्रतिवासुदेवों के चरितों का समावेश किया गया। कल्पसूत्र में ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ ओर महावीर आदि तीर्थंकरों के चरितों का वर्णन किया गया।

जैनधर्म के उन्नायक महान् आचार्यो के चरित भी जैन आचार्यों ने लिखे। उदाहरण के लिए जिनदत्तसूरि ने गणधरसार्धशतक की रचना की। इसमें आर्यसमुद्र, मंगु, वज्रस्वामी, भद्रगुप्त, तोसलिपुत्र, आर्यरक्षित, उमास्वाति, हरिभद्र, शीलांक, नेमीचन्द्र, उद्योतनसूरी, जिनचन्द्र, अभयदेव, आदि आचार्यो के चरित लिखे गये। आगे चलकर जिनसेन, गुणभद्र और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकामहापुरूष चरित की सत्त्कृत में रचना की। फिर पुष्पदत ने अपभ्रंश में और चामुण्डराय ने कन्नड़ में महापुरूषों जीवनरचित लिखे। तमिल में भी चरितों की रचना हुई। इन चरितों में लौकिक और धार्मिक कथाओं का समावेश किया गया।

**1. पउमचरिय (पद्मचरित)**– वाल्मीकि की रामायण को भांति पउमचरिय में जेन परम्परा के अनुसार 118 पर्वो में पद्म (राम) के चरित का वर्णन किया गया है। पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि हैं जो नागिल वंश क आचार्य राहु के प्रशिष्य थे। स्वयं ग्रन्थकर्ता के कथानुसार महावीर निर्वाण के 530 वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के 60 के लगभग) पूर्वों के आधार से उन्होने जैन महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छंद में इस राघवचरित की रचना की।

**2. जंबूचरिय (जंबूचरित)** – जंबूरचित प्राकृत भाषा की एक सुन्दर कृति है, जिसके रचियता नाईलगच्छीय वीरभद्रसुरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य गुणपाल मुनि थे। जैन परम्परा में जंबूस्वामी अंतिम केवली माने जाते है, इनके पश्चात किसी जैन श्रमण को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हुई। जंबूचरिय में इन्ही जम्बूस्वामी के चरित का वर्णन किया है।



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**3. सुरसंदरीचरिय** :– कहाणयकोस के कर्ता जिनेश्वरसूरी के शिष्य साधु धनेश्वर ने सुबोध प्राकृत गाथाओं में वि. सं. 1095 (ईसवी सन 1038) में चड्डावल्लि नामक स्थान में इस ग्रन्थ की रचना की। धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागपाश से छुड़ाता है। दीर्घकालीन विरह के पश्चात चित्रवेग का विवाह उसकी प्रियतमा के साथ होता है। वह सुरसुंदरी और अपने प्रेम तथा विरह मिलन की कथा सुनाता है। सुरसुंदरी का मकरकेतु के साथ विवाह हो जाता है। अन्त में दोनो दीक्षा ले लेते है।

**4. रयणचूड़रायचरिय (रत्नचुड़राजचरित)**– इसके रचियता सुप्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्र है। इसमें काव्य की छटा जगह जगह देखने में आती है। अनेक सूक्तियां भी कही गई है। लेखक ने अनेक स्थलों पर बड़े स्वाभाविक चित्र उपस्थित किये है। गौतम गणधर राजा श्रेणिक को रत्नचूड़ की कथा सुनाते है। ग्रन्थकार की अन्य रचनाओं में आत्मबोधकुलक (अथवा धर्मोपदेशकुलक) और महावीरचरिय है।

**5. पासनाहचरिय (पार्श्वनाथचरित)**– पार्श्वनाथचरित कहारयणकोस के कर्ता गुणचन्द्रगणि (आचार्य पद के बाद देवेन्द्रसूरि) की दूसरी उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रन्थ की वि.सं. 1168 (सन् 1111 में) भड़ौंच में रचना की गई। पार्श्वनाथचरित में पांच प्रस्तावों में 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित है। प्राकृत गद्य–पद्य में लिखी गई इस सरस रचना में समासार वदावली और छन्द की विविधता देखने में आती है। काव्य पर संस्कृत शैली का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक संस्कृत के सुभाषित यहां उद्धत है।

**6. महावीरचरिय (महावीरचरित)**– महावीरचरित गुणचन्द्रगणि की तीसरी रचना है। वि.सं. 1139 (ईसवी सन 1082) में उन्होने 12, 025 श्लोकप्रमाण इस प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की थी। गुणचन्द्र की रचनाओं से इनके मंत्र, तन्त्र, विद्या – साधन तथा वाममार्गियों और कापालिकों के क्रियाकाण्ड आदि के विशाल ज्ञान का पता लगता है। महावीरचरित में आठ प्रस्ताव है।

**7. सुपासनाहचरिय (सुपार्श्वनाथचरित)**–सुपार्श्वनाथचरित प्राकृत पद्य की रचना है। जिसमें सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चरित लिखा गया है। सुपार्श्वनाथ का चरित तो यहां संक्षेप में ही समाप्त हो जाता है, अधिकांश भाग में उनके उपदेश की ही प्रधानता है।

**8. सुदंसणाचरिय (सुदर्शनाचरित)**– सुदंसणाचरिय में शकुनिकाविहार नामक मुनिसुव्रतनाथ के जिनालय का वर्णन किया गया है। यह सुन्दर रचना प्राकृत पद्य में है। संस्कृत और अपभ्रंश का भी इसमें प्रयोग है। ग्रन्थ कर्ता जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि (सन् 1270 में स्वर्गसथ) गुर्जर राजा की अनुमतिपूर्वक वस्तुपाल मंत्री के समक्ष अबूर्दगिरी (आबू) पर इन्हे सुरिपद प्रदान किया गया था। इस चरित में धनपाल सुदर्शना, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री नाम के आठ अधिकार है। जो 16 उद्देश्यों में विभक्त है। सब मिलाकर चार हजार से अधिक गाथायें है। रचना प्रौढ़ है, शार्दूलविक्रीड़ित आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

**9. कण्हचरिय (कृष्णचरित)**– रामचरित की भांति कृष्ण के भी अनेक चरित प्राकृत में लिखे गये है। इसके कर्ता सुंदसणाचरिय के रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि है। यह चरित श्राद्धदिनकृत्य की वृति में से उद्धत किया गया है, जिसमें नेमिनाथ का चरित भी अन्तर्भूत है। प्रस्तुत चरित में वसुदेव के पूर्वभव, कंस का जन्म, वसुदेव का भ्रमण, अनेक राज्यों से कन्याओं का ग्रहण, चारूदत का वृतान्त, रोहिणी का परिणयन, कृष्ण और बलदेव के पूर्वभव, नारद का वृतान्त, देवकी का ग्रहण, कृष्ण का जन्म, नेमिनाथ का पूर्वभव, नेमि का जन्म महोत्सव, कंस का वध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्र महिषियां, प्रद्युम्न का जन्म, पाण्डवों की परम्परा, द्रोपदी के पूर्वभव, जरासंघ के साथ युद्ध, कृष्ण की विजय, राजीमति का जन्म, नेमिनाथ और राजीमति के विवाह की चर्चा, नेमिनाथ का विवाह किये बिना ही मार्ग से लौट आना। कृष्ण मर कर तीसरे नरक में गये, आगे चलकर वे यमन नाम के तीर्थंकर होंगें। बलदेव उनके तीर्थ में सिद्धि प्राप्त करेंगें।

**10. कुम्मापुतचरिय (कूर्मापुत्रचरित)**– कुर्मापुत्रचरित में कूर्मापुत्र की कथा है, जो 198 प्राकृत पद्यों में लिखी गई है। इस ग्रन्थ के कर्ता जिनमाण्क्यि अथवा उनके शिष्य अनंतहंस माने जाते है। ग्रन्थ की रचना का समय सन् 1513 है। सम्भवतः इसकी रचना उतर गुजरात में हुई है। कुम्मापुतचरिय की भाषा सरल है, अलंकार आदि का प्रयोग यहां नही है। व्यावकरण के नियमों का ध्यान रखा गया है।

**11. मणिपतिचरित**– मणिपतिचरित के कर्ता बुहद्गच्छीय मानदेव के प्रशिष्य और उपाध्याय जिनपति के शिष्य हरिभद्रसूरी है। इस चरित में 646 गाथायें है। हरिभद्रसूरी ने वि.सं. 1172 (ईस्वी सन 1115) में इसकी रचना की है। इस पर संस्कृत में भी रचनायें की गई है। कथाओं का संकलन किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**12. अन्य चरित – ग्रन्थ** :– इसके अतिरिक्त अभयदेवसूरी के शिष्य चन्द्रप्रभमहतर ने सम्वत 1127 (सन 1070) में देवावड़ नगर में वीरदेव के अनुरोध पर विजयचन्दकेवली चरिय की रचना की। इसमें 1163 गाथाओं में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप, नैवेध और फल, इस अष्टविध पुजा के महामात्य के उदाहरण कथाओं द्वारा प्रस्तुत किये है। अभयदेवसूरी के शिष्य वर्धमानसूरी ने सन 1083 में 15,000 गाथाप्रमाण मनोरमाचरिय और 11000 श्लोकप्रमाण आदिनाहचरिय की रचना की।

प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश में भी चरितग्रन्थों की रचना हुई, और आगे चलकर पंप, रत्न और होत्र के कन्नड़ भाषा में तीर्थकरों के चरित लिखे। इनमें अपभ्रंश चरित साहित्य एवं चरित काव्य की परम्परा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

## 3.6 जैन काव्य एवं कथा साहित्य

रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है – **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। कवि अभ्यास और समाधि का आश्रय लेकर काव्य की रचना करता है। उसमें जीवन के लिए श्रेयस्मुद्घाटक तत्वों का यथासंभव समावेश होता है।

काव्य के दो भेद हैं – दृश्य और श्रव्य। जो श्रवणेन्द्रिय (कान) के साथ नेत्रेन्द्रिय का विषय है, उसे दृश्य काव्य कहते है। जो केवल श्रवणेन्द्रिय का विषय है उसे श्रव्य काव्य कहते है। श्रव्य काव्य के दो भेद स्वीकृत है। गद्य और पद्य काव्य के दो भेद स्वीकृत है – 1. प्रबन्ध काव्य 2. मुक्तक काव्य। जिसमें वर्णनीय प्रसंगों में पारम्परिक सम्बन्ध होता है, उसे प्रबन्ध काव्य कहते है। जिनसेन ने निर्देश दिया है – "पूर्वापरार्थघटनैः प्रबन्धः" अर्थात् पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह पूर्वक कथात्मक रचना प्रबन्ध काव्य है। पूर्वापर सम्बन्ध रहित काव्य को मुक्तक काव्य कहते है। प्रबन्ध काव्य दो प्रकार के मिलते है – 1. महाकाव्य और 2. कथा काव्य जो जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है उसे महाकाव्य कहते है, जिसका विभाजन सर्गों में होता है तथा आकृति भी विशाल होती है। आचार्य जिनसेन ने महाकाव्य की परिभाषा दी है – जो ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्र का रसात्मक चित्रण उपस्थित करता है तथा धर्म, अर्थ और काम के फल को प्रदर्शित करता है, यह महाकाव्य है।

जिसमें रसात्मक एवं अलंकृत शैली में रोमांचक तत्वों के समावेश के साथ कथावस्तु का उपस्थापन किया जाता है वह कथाकाव्य है। यह छन्दोबद्ध रचना है। इसलिए आख्यायिका एवं गद्य कथा से भिन्न है। परन्तु तत्वतः एक ही है। कथा काव्य के दो भेद स्वीकृत है – सकल कथा और खण्डकथा सकल कथा में महाकाव्य की तरह ही जीवका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, लेकिन सर्गबन्ध, छंद प्रयोग आदि महाकाव्य के बन्धनों से रहित होने के कारण यह महाकाव्य से भिन्न विद्या है। जैन परम्परा के अधिकांश चरितकाव्य इसी विधा के अन्तर्गत आते है। खण्डकथा काव्य में जीव के एक पक्ष या एक घटना का चित्रण किया जाता है।

मुक्तक काव्य पाठ्य एवं गेय के भेद से दो प्रकार के होते है। पद्य संख्या के आधार पर मुक्तक के अनेक भेदों का निर्देश साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने किया है जैसे – 1. मुक्तक – एक श्लोकीय रचना, 2. संदानिकतक – दो श्लोकों या छंदो वाली रचना 3. विशेषक – तीन श्लोकों में समाप्त होने वाली रचना, 4. कलापक – चार श्लोकों वाली रचना 5. कुलक – पांच या छह श्लोकों से युक्त काव्य, 6. पर्यायबद्ध – वसंतादि एक ही विषय का वर्णन करने वाला काव्य, 7. कोश – परस्पर निरपेक्ष श्लोकों का संग्रह, 8 प्रघटक – एक कवि द्वारा रचित मुक्तकों का समुच्चय, 9. संघात एक कवि द्वारा एक विषय पर लिखे गये मुक्तकों का संग्रह, 10. विकर्णक – अनेक कवियों द्वारा रचित छंदो का संग्रह प्रस्तुत पाठ में जैन काव्यों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट है। अध्ययन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण जैन काव्य साहित्य को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जा रहा है। 1. महाकाव्य – 2. गीतीकाव्य (खण्ड काव्य) 3. स्त्रोत काण्ड साहित्य 4. चम्पू काव्य 5. गद्य काव्य, 6. दृश्य काव्य (नाटक)

## 3.7 महाकाव्य के भेद

महाकाव्य के दो रूप स्वीकार किए गये है – 1. संकलनात्मक या विकासात्मक 2. अलंकृत महाकाव्य

संकलात्मक या विकासात्मक महाकाव्य वे है जिन्हे अनेक विद्वानों ने अपनी प्रतिभा से सजाया, संवारा तथा विकसितकिया। रामायण, महाभारत इसी कोटि के महाकाव्य है। इनमें सरलता स्वाभाविकता का आधिक्य होता है। अलंकृत महाकाव्य एक ही कवि द्वारा विचरित किये जाते है, जिनमें बाह्य पक्ष (कलापक्ष) पर विशेष बल दिया जाता है। इनकी रचना रामायण महाभारत के बाद में उनका अनुकरण कर दी गइ है। इसलिए इन्हे अनुकृत महाकाव्य भी कहते हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन परम्परा में एक ओर जहां विकासात्मक महाकाव्यों की स्वल्पता है वहाँ दूसरी ओर अलंकृत शैली मे विचरित महाकाव्यों का बाहुल्य है। शैली की दृष्टि से अलंकृत महाव्यों को तीन रूपों में रखा जा सकता है।

1. शास्त्रीय महाकाव्य 2. ऐतिहासिक महाकाव्य 3. पौराणिक महाकाव्य।

आचार्यो एवं विद्वानों ने जैन महाकाव्यों की निम्नलिखित तीन प्रवृतियो की ओर निर्देश किया है –

1. कथा का विभाजन सर्ग, आश्वास, परिच्छेद, उच्छवास, काण्ड, पर्व, लम्भक, प्रकाश आदि में होता है।
2. महाकाव्यों का वर्ण्य – विन्यास शिल्प इस प्रकार है – प्रारम्भिक, मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन दुर्जनचर्या, आत्मलघुता, पूर्वाचार्यो का सादर स्मरण तथा अन्त में कवि एवं गुरू परम्परा का परिचय
3. कर्मफल, पुर्नजन्म आदि के प्रतिपादन के लिए अवान्तरकथाओं की योजना।
4. अधिकांश महाकाव्यों में शान्तरस की प्रधानता रहती है। श्रृंगार, वीर, अद्‌भुत आदि गौण रूप में उपस्थित रहते है।
5. जैन महाकाव्यों का लक्ष्य मुख्यतः धर्म के फल को प्रदर्शित करना है।

## 3.8 सारांश

जैन साहित्यों में त्रिवर्ग, धर्म, अर्थ और काम के फल की भी चर्चा होती है। और अंतिम फल के रूप में मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार किया जाता है।

## 3.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. अंगों के नाम बताऐं और किन्ही पांच का संक्षिप्त परिचय दें।

प्रश्न 2. भारतीय इतिहास जानने के जैन स्त्रोतों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3. आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. आगमों के व्याख्या – साहित्य के क्रमिक विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

**अथवा**

आगम साहित्य को पंचांगी क्यों कहते हैं।

प्रश्न 5. निर्युक्ति किसे कहते है ?

प्रश्न 6. चूर्णि किसे कहते हैं।

प्रश्न 7. निम्नलिखित आचार्यो की प्रमुख कृतियों का तथा जैन दर्शन के क्षेत्र में उनके विशिष्ट योगदान का उल्लेख करें।

अ. कुन्दकुन्द ब. उमा स्वामी स. समन्तभद्र द. सिद्धसेन य. अकलंक

प्रश्न 8. प्राकृत/अपभ्रंश चरित काव्यों का संक्षेप में चित्रण दें।

प्रश्न 9. परमचरिय का संक्षिप्त परिचय दें।

प्रश्न 10.महावीर चरिय के कर्ता कौन हैं ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–4 : हड़प्पा संस्कृति : कास्य युग सभ्यता

**संरचना**


4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 भौगोलिक विस्तार
4.3 नगर योजना और संरचनाएँ
4.4 पशुपालन
4.5 शिक्षण और तकनीकी ज्ञान
4.6 व्यापार
4.7 राजनैतिक संगठन
4.8 धार्मिक प्रथाएँ
4.9 सिन्धु घाटी के पुरुष देवता
4.10 वृक्षों और पशुओं की पूजा
4.11 हड़प्पाई लिपि
4.12 माप तौल
4.13 मृदभांड
4.14 मुहरें
4.15 प्रतिमाएँ
4.16 मूर्तिकाएँ (टेराकोटा फिगर्स)
4.17 उद्भव, उत्थान और अवसान
4.18 हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था
4.19 सारांश
4.20 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 4.0 प्रस्तावना

सिन्धु या हड़प्पा संस्कृति उन अनेकों ताम्र पाषाण संस्कृतियों से पुरानी है जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है लेकिन यह उन संस्कृतियों से कहीं अधिक विकसित है। इस संस्कृति का उदय ताम्र पाषाणिक पृष्ठभूमि पर भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग में हुआ। इसका नाम हड़प्पा संस्कृति पड़ा क्योंकि इसका पता सबसे पहले 1924 में पकिस्तान के पश्चिम पंजाब प्रान्त में अवस्थित हड़प्पा के आधुनिक स्थल में चला। सिन्ध के बहुत से स्थल प्राक्–हड़प्पीय संस्कृति का केन्द्रीय क्षेत्र बने। परिणाम स्वरूप वह संस्कृति परिपक्व होकर सिन्ध और पंजाब में नगर सभ्यता के रूप में परिणत हुई। इस परिपक्व हड़प्पा संस्कृति का केन्द्र स्थल पंजाब और सिन्धु में मुख्यतः सिन्ध घाटी में पडता है। यहीं से इसका विस्तार दक्षिण और पूरब की ओर हुआ। इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के अन्तर्गत पंजाब, सिन्ध, ब्लूचिस्तान के भाग ही नहीं बल्कि गुजरात, राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सीमान्त भाग भी थे। इसका फैलाव उत्तर में जम्मू से लेकर दक्षिण में नर्मदा के मुहाने तक और पश्चिम में बलूचिस्तान के मकरान समुद्र तट से लेकर उत्तर पूर्व मे मेरठ तक था। यह समूचा क्षेत्र एक त्रिभुज के आकार का है। इसका पूरा क्षेत्रफल लगभग 1,299,600 वर्ग किलोमीटर है। अतः यह क्षेत्र पाकिस्तान से बडा तो है ही प्राचीन मिस्र और मैसोपोटामिया से भी निश्चय ही बडा है। ईसा पूर्व तीसरी और दूसरी सहस्त्राब्दी में संसार भर मे किसी भी संस्कृति का क्षेत्र हड़प्पा संस्कृति के क्षेत्र से बड़ा नहीं था।

## 4.1 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हड़प्पा संस्कृति की जानकारी प्राप्त कर कसेंगे।

## 4.2 भौगोलिक विस्तार

अब तक इस उपमहाद्वीप में हड़प्पा संस्कृति के लगभग 1000 स्थलों का पता लग चुका है। इनमें कुछ हड़प्पा संस्कृति की आरंभिक अवस्था के हैं, कुछ परिपक्व अवस्था के और कुछ उत्तर अवस्था के हैं। किन्तु परिपक्व अवस्था वाले स्थलों की संख्या सीमित है और उनमे केवल आधे दर्जन को ही नगर की संज्ञा दी जा सकती है। इनमें दो सर्वाधिक महत्व के नगर थे पंजाब में हड़प्पा और सिन्ध में मोहनजोदड़े (अर्थात् प्रेतों का टीला)। दोनों पाकिस्तान में पड़ते हैं। दोनों एक दूसरे से 483 किलोमीटर दूर थे और सिन्धु नदी द्वारा जुड़े हुए थे। तीसरा नगर सिन्धु में मोहनजोदड़ो से से 130 किलोमीटर के करीब दक्षिण में चन्हुदडो स्थल पर था और चौथा नगर गुजरात में खंभात की खाडी के ऊपर लोथल स्थल पर। पांचवां नगर उत्तरी राजस्थान में कालीबंगा (अर्थात् ''काले रंग की चूड़ियां'') व छठा नगर बनवाली हरियाणा के हिसार जिले में था। काली बंगा की तरह इसने भी दो सांस्कृतिक अवस्थाऐं देखी हड़प्पा पूर्व और हड़प्पा कालीन। कच्ची ईंटों के चबूतरों, सड़कों और मोरियों के अवशेष हड़प्पा कालीन हैं। इन छहों स्थलों पर परिपक्व और उन्नत हड़प्पा संस्कृति के दर्शन होते हैं। सुतकाअडेंडोर और सुरकोतड़ा के समुद्रतटीय नगरों में भी इस संस्कृति के परिपक्व अवस्था दिखाई देती है। इन दोनों की विशेषता है एक – एक दुर्ग का होना। उत्तर हड़प्पा अवस्था गुजरात के काठियावाड़ प्रायद्वीप में रंगपुर और रोजड़ी स्थलों पर पाई गई है।

## 4.3 नगर योगना और संरचनाएँ

हड़प्पा संस्कृति की विशेषता थी इसकी नगर योजना प्रणाली। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दोनों नगरों के अपने-अपने दुर्ग थे जहां शासक वर्ग का परिवार रहता था। प्रत्येक नगर में दुर्ग के बाहर एक – एक उससे निम्न स्तर का शहर था जहां ईंटों के मकानों में सामान्य लोग रहते थे। इन नगरों में भवनों के बारे में विशिष्ट बात यह भी कि ये जाल की तरह विन्यस्त थे। तदनुसार सड़कें एक दूसरे को समकोण बनाते हुए काटती थीं और नगर अनेक खंडों में विभक्त थे। यह बात भी सिन्धु बस्तियों पर लागू थीं, चाहे वे छोटी हो या बड़ी। बड़े – बड़े भवन हड़प्पा और मोहनजोदड़ों दोनों के वैशिष्ट्रय है। जो बाद की संरचनाओं में अत्यंत समृद्ध है। उनके स्मारक इस बात का प्रमाण है कि वहां के शासक मजदूर जुटाने अैर कर संग्रह में परम कुशल थे। ईंटों की बड़ी – बड़ी इमारतें देखकर सामान्य लोगों की भी यह भावना है कि इनके शासक कितने प्रतापी और प्रतिष्ठावान थे।

मोहनजोदड़ों का शायद सबसे महत्वपूर्ण सार्वजनिक स्थल था विशाल स्नानगार, जिसका जलाशय दुर्ग के टीले में है। यह ईंटों के स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है। यह 11.88 मीटर लम्बा, 7.01 मीटर चौडा और 2.43 मीटर गहरा है। दोनों सिरों पर तल तक सीढ़ियां बनी हुई हैं। बगल में कपडे बदलने के कमरे हैं। स्नानागार का फर्श पक्की ईंटों का बना है। पास के एक कमरे में एक बड़ा सा कुआँ है। इससे पानी निकाल कर हौज में डाला जाता था। हौज के एक कोने में निर्गम मुख है जिससे पानी बहकर नाले में जाते था। बताया जाता है कि यह विशाल स्नानागार धर्मानुष्ठान संबंधी स्नान के लिए बना होगा जो भारत में हर धार्मिक कर्म में आवश्यक रहा है। मोहनजोदडो की सबसे बड़ी इमारत है अनाज रखने का कोठार जो 45.71 मीटर लम्बा और 15.23 मीटर चौडा है। पर हड़प्पा के दुर्ग मे छह कोठार मिले हैं। दो पांतों में खड़े इन छह कोठारों के आधार स्वरूप पंक्तिबद्ध ईंटों के चबूतरे बने हैं। हर एक कोठार 15.23 मीटर लम्बा और 6.09 मीटर चौडा है और नदी के किनारे से कुछेक मीटर दूरी पर है। इन बारह इकाइयों का समूचा तलक्षेत्र लगभग 838.1025 वर्गमीटर होता है, जो लगभग उतना ही होता है जितना मोहनजोदडो के कोठार का है। हड़प्पा के कोठारों के दक्षिण में खुला फर्श है और इस पर दो कतारों में ईंट के वृत्ताकार चबूतरे बने हुए हैं। स्पष्ट है कि इनका उपयोग फसल दबाने के काम में होता था क्योंकि फर्श की दरारों में गेहूं और जौ के दाने मिले हैं। हड़प्पा में दो कमरों वाले बैरक भी हैं जो शायद मजदूरों के रहने के लिए हैं

कालीबंगा में भी नगर के दक्षिण भाग में ईंटों के चबूतरे मिले हैं जो शायद कोठारों के लिए बने होंगे। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि कोठार हड़प्पा संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग थे।

हड़प्पा संस्कृति के नगरों में पक्की ईंटों का इस्तेमाल एक विशेष बात है क्योंकि मिस्र के समकालीन भवनों में ध ूप में सूखी ईंटों का ही प्रयोग हुआ था। समकालीन मेसोपोटामिया में पक्की ईंटों का प्रयोग मिला तो है पर हडप्पा संस्कृति के नगरों में ऐसी ईंटों का प्रयोग बहुत ही बडे पैमाने पर हुआ है।

मोहनजोदड़ो की जल निकासी प्रणाली अद्भुत थी। लगभग सभी नगरों के हर छोटे या बड़े मकान में प्रांगण और स्नानागार होता था। कालीबंगा के अनेक घरों में अपने – अपने कुऐं थे। घरों का पानी बह कर सडकों तक आता जहां इनके नीचे मोरियां बनी हुई थीं। अक्सर ये मोरियां ईंटों और पत्थर की सिल्लियों से ढकी रहती थीं। सड़कों की इन नालियों में नरमोखे (मैनहोल) भी बने थे। सड़कों और नालियो के अवशेष बनवाली में भी मिले हैं। कुल मिलाकर स्नानघरों और मोरियों की व्यवस्था अनोखी है। हड़प्पा की निकास प्रणाली तो और भी विलक्षण है। शायद कांस्य युग की दूसरी किसी भी सभ्यताा ने स्वास्थ्य और सफाई को इतना महत्व नहीं दिया जितना कि हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने दिया।

सिन्धु प्रदेश में आज पूर्व की अपेक्षा बहुत ही कम वर्षा होती है यह प्रदेश अब उतना उपजाऊ नही रहा। यहां के समृद्ध देहातों और शहरों को देखने से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में यह प्रदेश खूब उपजाऊ था। सम्प्रति यहां केवल 15 सेंटीमीटर वर्षा होती है। ईसा पूर्व चौथी सदी में सिकन्दर का एक इतिहासकार बता गया है कि सिन्ध इस देश के उपजाऊ भागों में गिना जाता था। पूर्व काल में सिन्ध प्रदेश में प्राकृतिक वनस्पति सम्पदा अधिक थी, जिसके कारण यहां अधिक वर्षा होती थी। यहां के वनों से ईंटें पकाने और इमारत बनाने के लिए लकड़ी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल में लाई जाती थी। लम्बे अरसे तक खेती का विस्तार बड़े पैमाने पर चराई और ईंधन के लिए लकड़ी की खपत होते रहने से यहां की प्राकृतिक वनस्पति सम्पदा क्षीण होती गई। इस प्रदेश की उर्वरता का एक विशेष कारण शायद सिन्धु नदी से हर साल आने वाली बाढ थी। गांव की रक्षा के लिए खड़ी की गई पक्की ईंट की दीवारें से प्रकट होता है कि बाढ़ हर साल आती थी। सिन्धु नदी मिस्र की नील नदी की अपेक्षा कहीं अधिक जलोढ़ मिट्टी बहाकर लाती थी और इसे बाड़ वाले मैदानों में छोड़ जाती थी। जैसे नील ने मिस्र का निर्माण और वहां के लोगों का भरण पोषण किया वैसे ही सिन्धु नदी ने सिन्ध प्रदेश का निर्माण और वहां के लोगों का भरण पोषण किया है। सिन्धु सभ्यता के लोग बाढ़ उतर जाने पर नवम्बर के महने में बाढ़ वाले मैदानों में बाज बो देते थे और अगली बाढ़ के आने से पहले अप्रेल महीने में गेहूं और जौ की अपनी फसल काट लेते थे। यहां कोई फावड़ा या फाल तो नहीं मिला है लेकिन कालीबंगा की प्राक्–हड़प्पा अवस्था में जो कूंड (हलरेखा) देखे गए हैंउनसे पता चलता है कि हडप्पा काल में राजस्थान में हल जोते जाते थे। हडप्पाई लोग शायद लकड़ी के हलों का प्रयोग करते थे। इस हल को आदमी खींचते थे या बैल इस बात का पता नहीं है। फसल काटने के लिए शायद पत्थर के हंसियों का प्रयोग होता था। गबरबन्दों या नालों को बांधों से घेरकर जलाशय बनाने की परिपाटी बलूचिस्तान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों की विशेषता रही है, किन्तु लगता है कि नहरों या नालों से सिंचाई की परिपाटी नहीं थी। हड़प्पाई गांव जो अधिकतर बाढ़ वाले मैदानों में थे प्रचुर अन्न उपजा लेते थे जो न केवल उनकी अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बल्कि खेती के काम से मतलब न रखने वाले नगर निवासी शिल्पियों, व्यापारियों और सामान्य नागरिकों की जरूरत पूरी करने के लिए भी पयाप्त होता था।

सिन्धु सभ्यता के लोग गेहूं, जौ, राई, मटर आदि अनाज पैदा करते थे। वे दो किस्म का गेहूं और जौ उगाते थे। बनवाली में मिला जौ बढ़िया किस्म का है। इनके अलावा वे तिल और सरसों भी उपजाते थे। परन्तु हडप्पा कालीन लोथल में रहने वाले हडप्पाईयों की स्थिति भिन्न रही है। लगता है कि लोथल के लोग 1800 ईसा पूर्व में ही चावल उपजाते थे। जिसका अवशेष वहां पाया गया है। मोहनजोदड़ो और हडप्पा में और शायद कालीबंगा में भी अनाज बड़े बड़े कोठारों में जमा किया जाता था। संभवतः किसानों से राजस्व के रूप में अनाज लिया जाता था। और वह पारिश्रमिक चुकाने और संकट की घड़ियों में काम के लिए कोठारों में जमा किया जाता था। यह बात हम मेसोपोटामिया के नगरों के दृष्टान्त से कह सकते हैं जहां मजदूरी में जौ दिया जाता था। सबसे पहले कपास पैदा करने का श्रेय सिन्धु सभ्यता के लोगों को है। चूंकि कपास का उत्पादन सबसे पहले सिन्धु क्षेत्र में ही हुआ इसलिए युनान के लोग इसे सिन्डन (Sindon) कहने लगे जो सिन्धु शब्द से उद्भूत हुआ है।

### 4.4 पशुपालन

कृषि पर निर्भर होते हुए भी हड़प्पाई लोग बहुत सारे पशु पालते थे। वे बैल–गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और सूअर पालते थे। उन्हें कूबड़ वाला सॉंड विशेष प्रिय था। कुत्ते शुरू से ही पालतू जानवरों में थे। बिल्ली भी पाली जाती थी। कुत्ता और

बिल्ली दोनों के पैरों के निशान मिले हैं। वे गधे और ऊंट भी रखते थे और शायद इन पर बोझा ढोते थे। घोडे के अस्तित्व का संकेत मोहनजोदडो की एक ऊपरी सतह से तथा लोथल में मिले एक संन्दिग्ध मूर्तिका (टेराकोटा) से मिला है। गुजरात के पश्चिम में अवस्थित सुरकोतडा में घोडे व 2000 ईसा पूर्व के आस पास के बताए गए हैं परन्तु पहचान सन्देहग्रस्त है। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि हडप्पा काल में इस पशु के प्रयोग का आम प्रचलन नहीं था।

हड़प्पाई लोगों को हाथी का ज्ञान था वे गैंडे से भी परिचित थे। मेसोपोटामिया के समकालीन सुमेर के नगरों के लोग भी इन्हीं लोगों की तरह अनाज पैदा करते थे और उनके पालतू पशु भी प्रायः वहीं थे जो इनके थे परन्तु गुजरात में बसे हडप्पाई लोग चावल उपजाते थे और हाथी पालते थे ये दोनों बातें मेसोपोटामिया के नगरवासियों के बारे में नहीं हैं।

### 4.5 शिल्प और तकनीकी ज्ञान

हड़प्पा संस्कृति कांस्य युग की है। यों तो इस संस्कृति के लोग पत्थर के बहुत सारे औजारों और उपकरणों का प्रयोग करते थे लेकिन वे कांस्य के निर्माण और प्रयोग से भी भली भांति परिचित थे। कांसा तांबे में टिन मिलाकर धातुशिल्पियों द्वारा बनाया जाता था। पर इनमें एक भी धातु हड़प्पाई लोगों को आसानी से उपलब्ध नहीं थी। इसलिए हड़प्पा में कांसे के औजार बहुतायत से नहीं मिलते हैं। अयस्कों (ताम्र–खनिजों) की अशुद्धियों से लगता है कि वहां तांबा राजस्थान की खेत्री ताम्र खानों से मंगाया जाता था, हालांकि यह बलूचिस्तान से भी मंगाया जा सकता था।

टिन शायद अफगानिस्तान से कठिनाई के साथ मंगाया जाता था यद्यपि बताया गया है कि उसकी कुछ पुरानी खदानें बिहार के हजारीबाग में पाई गई हैं। हड़प्पाई स्थलों में जो कांसे के औजार और हथियार मिले हैं उनमें टिन की मात्रा कम है। फिर भी ये जो कांसे की वस्तुऐं छोड़ गए हैं नगण्य नहीं है। इन वस्तुओं से संकेत मिलता है कि हड़प्पा समाज के शिल्पियों में कसेरों (कांस्य–शिल्पियों) के समुदाय का महत्पवूर्ण स्थान था। वे प्रतिमाओं और बर्तनों के साथ-साथ कई तरह के औजार और हथियार भी बनाते थे। जैसे कुल्हाड़ी, आरी, छुरी और बरछा। हड़प्पाई शहरों में कई अन्य महत्वपूर्ण शिल्प भी चलते थे। मोहनजोदडो से बुने हुए सूती कपड़े का एक टुकड़ा निकला है और कई वस्तुओं पर कपडे के छाप देखने में आये हैं। कताई के लिए तकलियों का इस्तेमाल होता था। बुनकर ऊनी और सूती कपड़ा बुनते थे। ईंटों की अविशाल इमारतें बताती हैं कि स्थापत्य (राजगिरी) एक महत्वपूर्ण शिल्प था। इससे राजगीरों (स्थपतियों) के एक वर्ग के अस्तित्व का भी आभास मिलता है। हड़प्पाई लोग नाव बनाने का काम भी करते थे। जैसे कि आगे बताया जाएगा, मुद्रा निर्माण (मिटटी की मुहरें बनाना) और मूर्तिका निर्माण (मिट्टी की पुतलियां बनाना) भी महत्वपूर्ण शिल्प थे। स्वर्णकार, चांदी, सोना और रत्नों के आभूषण बनाते थे, सोना चांदी संभवतः अफगानिस्तान से और रत्न दक्षिण भारत से आते थे। हड़प्पाई कारीगर मणियों के कार्य में भी निपूण थे। कुम्हार के चाक का खूब प्रचलन था और हड़प्पाई लोगों के मृदभांडों की अपनी खास विशेषताऐं थीं। ये भांडों को चिकने और चमकीले बनाते थे।

### 4.6 व्यापार

सिन्धु सभ्यता के लोगों के जीवन में व्यापार का बड़ा महत्व था। इसकी पुष्टि हड़प्पा मोहनजोदड़ो और लोथल मेंअनाज के बडे–बड़े कोठारों के पाये जाने से ही नहीं होती, बल्कि एक बडे भू भाग में ढेर सारी सीलों (मुहरों), एकरूप लिपि और मानकीकृत माप तौलों के अस्तित्व से भी होता है। हड़प्पाई लोग सिन्धु सभ्यथा क्षेत्र के भीतर पत्थर, धातु, शल्क (हड्डी) आदि का व्यापार करते थे। लेकिन वे जो वस्तुएं बनाते थे उनके लिए अपेक्षित कच्च माल उनके नगरों में उपलब्ध नहीं था। वे धातु के सिक्कों का प्रयोग नहीं करते थे। संभव है कि वे सारे आदान प्रदान विनिमय द्वारा करते हों। अपने तैयार माल और संभवतः अनाज भी नावें और बैलगाड़ियों पर लाद कर पडौस के इलाकों में ले जाते और उन वस्तुओं के बदले धातुएं ले आते। वे अरब सागर के तट पर जहाजरानी (नौचालन) करते थे। वे चक्र के उपयोगों से परिचित थे, और हड़प्पा में ठोस पहियों वाली गाड़ियां प्रचलित थीं। यह भी प्रतीत होता है कि हड़प्पाई लोग किसी न किसी प्रकार के आज के एक्के (रथ) का भी इस्तेमाल करते थे।

हड़प्पाई लोगों का वाणिज्यिक संबंध राजस्थान के एक क्षेत्र से था और अफगानिस्तान और ईरान से भी। उन्होंने उत्तरी अफगानिस्तान में एक वाणिज्य उपनिवेश स्थापित किया था जिसके सहारे उनका व्यापार मध्य एशिया के साथ चलता था। उनके नगरों का व्यापार दजला फरात प्रदेश के नगरों के साथ चलता था। बहुत सी हड़प्पाई सीलें मेसोपोटामिया की खुदाई में निकली हैं और प्रतीत होता है कि हड़प्पाई लोगों ने मेसोपोटामिया नागरिकों के कई प्रसाधनों का अनुकरण किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हड़प्पाई लागों ने लाजवर्द मणि (lapis lazuli) का सुदूर व्यापार चलाया था। अवश्य ही इस मणि से शासक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती होगी। 2350 ई.पू. के आस पास और उसके आगे के मेसोपोटामियाई अभिलेखों में मेलुहा के साथ व्यापारिक संबंध की चर्चा है मेलुहा सिन्धु क्षेत्र को दिया गया प्राचीन नाम है। मेसोपोटामिया के पुरालेखों में दो मध्यवर्ती व्यापार केन्द्रों का उल्लेख मिलता है दिलमुन आर माकन। ये दोनों मेसोपोटामिया और मेलुहा के बीच में हैं। दिलमुन की पहचान शायद फारस की खाडी के बहरैन से की जा सकती है। उस बन्दरगाह नगर में हजारों कब्रें खुदाई का इन्तजार कर रही है।

### 4.7 राजनैतिक संगठन

हमें हड़प्पाईयों के राजनैतिक संगठन के बारे में कोई स्पष्ट आभास नहीं है। हड़प्पा संस्कृति और सिन्धु सभ्यता की सांस्कृतिक एकता इसके सारे क्षेत्र में अनके बातों से स्पष्ट है जैसे मृदभांड के स्वरूप, चर्ट फलक, घनमाप, पक्की मिट्टी की पिंडिका (टेराकोटा केक) कंगन, पशु—मूर्तिकाऐं, विशेषतः सांड की मूर्तिकाऐं, ताम्र और और कांस्य उपकरण, उत्कीर्ण सील, सेलखड़ी मनके, ईंट की माप आदि। सुदूर व्यापार के साक्ष्य तो इसको और भी सुदृढ़ करते हैं। ऐसी सांस्कृतिक एकता किसी केन्द्रिक सत्ता के बिना संभव नहीं हुई होगी यदि हड़प्पाई सांस्कृतिक अचल को राजनैतिक अंचल का अभिन्न मानें, तो इस उपमहाद्वीप ने मौर्य साम्रज्य की स्थापना से पूर्व इतनी बडी राजनैतिक इकाई कभी नहीं देखी। इस इकाई की अद्भुत दृढ़ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि यह लगभग 600 वर्षों तक निरन्तर कायम रही।

मिस्र और मेसोपोटामिया के नितान्त विपरीत, किसी भी हड़प्पाई स्थल पर मंदिर नहीं पाया गया है। किसी भी प्रकार का कोई भी धार्मिक भवन नहीं इसका अपवाद विशाल स्नानागार हो सकता है। जिसका उपयोग प्रोक्षण (शुद्धि या सफाई) के लिए किया जाता होगा। हड़प्पा अंचल में धार्मिक विश्वासों और आचारों में एकरूपता नहीं है। इसलिए यह सोचना गलत होगा कि हड़प्पा में पुरोहितों का वैसा ही शासन था जैसा कि निचले मेसोपोटामिया के नगरों में था। शायद हड़प्पाई शासकों का ध्यान विजय की ओर उतना नहीं था जितना वाणिज्य की ओर, और हड़प्पा का शासन संभवतः वाणिक् वर्ग के हाथ में था।

### 4.8 धार्मिक प्रथाएँ

हड़प्पा मे पक्की मिट्टी की स्त्री मूर्तिकाएं भारी सख्या मे मिली है। एक मूर्तिका मे स्त्री के गर्भ से निकलता एक पौधा दिखाया गया है। यह संभवतः पृथ्वी देवी की प्रतिमा है और इसका निकट संबंध पौधों के जन्म और वृद्धि से रहा होगा। इसलिए मालूम होता है कि हड़प्पाई लोग धरती को उर्वरता की देवी समझते थे और इसकी पूजा उसी तरह करते थे जिसे तरह मिस्र के लोग नील नदी की देवी आइसिस की पूजा करते थे। लेकिन हड़प्पाई लोग मिस्र वासियों की तरह मातृ सत्तात्मक थे या नहीं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। मिस्र में राज्य या सम्पत्ति का उत्तराधिकार कन्या को मिलता था, किन्तु हड़प्पा समाज में उत्तराधिकार का स्वरूप क्या था यह हमें ज्ञात नहीं है।

कुछ वैदिक सूक्तों में पृथ्वी माता की स्तुति है किन्तु उनको कोई प्रमुखता नहीं दी गई है। सुदीर्घ काल के बाद ही हिन्दू धर्म में इस मातृदेवी को उच्च स्थान मिला है। ईसा की छठी सदी और उसके बाद से ही दुर्गा, अम्बा, काली, चन्डी आदि विविध मातृदेवियों को पुराणों और तंत्रों में आराध्य देवियों का स्थान मिला। काल क्रमेण प्रत्येक गांव की अपनी अलग-अलग देवी हो गई।

### 4.9 सिन्धु घाटी के पुरुष देवता

पुरूष देवता एक सील पर चित्रित किया गया है। उसके सिर पर तीन सींग हैं। वह एक योगी की ध्यान मुद्रा में एक टांग पर दूसरी टांग डाले बैठा (पदमासन लगाए) दिखाया गया है। उसके चारों और एक हाथी, एक बाघ और एक गैंडा है, आसन के नीचे एक भैंसा है और पांवों पर दो हरिण हैं। यह सील (मृन्मुद्रा) देखते ही हमें पौराणिक पशुपति महादेव की छवि ध्यान में आ जाती है। चारों पशु पृथ्वी के चारों ओर देखते हैं। ये देवताओं के वाहन हो सकते हैं, क्योंकि उत्तरकालीन हिन्दू धर्म में हम पाते हैं कि हरेक देवता का एक-एक खास वाहन माना गया है। शिव की प्रतिमा का ही नहीं हम लिंग पूजा का भी प्रचलन पाते हैं जो कालान्तर में शिव की पूजा से गहन रूप से जुड गई थी। हड़प्पा में पत्थर पर बने लिंग और योनि के अनेकों प्रतीक मिले हैं संभवतः ये पूजा के लिए बने थे। ऋग्वेद में लिंग पूजक अनार्य जातियों की चर्चा है। लिंग पूजा हड़प्पा काल में शुरू हुई और आगे चलकर हिन्दू समाज में पूजा की एक विशिष्ट विधि मानी जाने लगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 4.10 वृक्षों और पशुओं की पूजा

सिन्धु क्षेत्र के लोग वृक्ष पूजा भी करते थे। एक मृन्मुद्रा (सील) पर पीपल की डालों के बीच में विराजमान देवता चित्रित हैं। इस वृक्ष की पूजा आज तक जारी है।

हड़प्पा काल में पशु पूजा का भी प्रचलन था। कई पशु मृन्मुद्राओं पर अंकित हैं। इनमें सबसे महत्व का है कूबड़ वाला सांड। आज भी जब ऐसा सांड बाजार की गलियों में चलता है तो धर्मात्मा हिन्दू इसे रास्ता दे देते है। इसी तरह पशुपति महादेव के चतुर्दिक पशुओं की उपस्थिति से प्रकट होता है कि उनकी भी पूजा होती थी।

इन बातों से स्पष्ट होता है कि सिन्धु प्रदेश के निवासी वृक्ष, पशु और मानव के स्वरूप में देवताओं की पूजा करते थे, परन्तु वे अपने इन देवताओं के लिए मंदिर नही बनाते थे, जैसा कि प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया में बनाया जाता था।

धर्मोपासना सूचक वस्तुओं के रहते हुए भी हड़प्पा के नगरीकरण को धर्म से जोड़ना ठीक न होगा, जो बात कांस्य युग के नगरीय समाजों पर भी लागू होती है। जब तक सिन्धु लिपि पढी नही जाती तब तक हडप्पाई लोगों के धार्मिक विश्वासों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ताबीज बड़ी तादाद मे मिले हैं। शायद हडप्पाई लोग विश्वास करते थे कि भूत प्रेत उनका अनिष्ट कर सकते हैं और इसलिए उनसे त्राणार्थ ताबीज पहनते थे। आर्येतर परम्परा से संबंद्ध माने जाने वाले अथर्ववेद में अनेकों तंत्र मं. या जादू टोने दिये गए हैं और रोगों तथा भूत प्रेतों को भगाने के लिए ताबीज बताए गए हैं।

### 4.11 हड़प्पाई लिपि

प्राचीन मेसोपोटामियाईयों की तरह हड़प्पाई लोगों ने भी लेखन कला का आविष्कार किया था। यद्यपि हड़प्पाई लिपि का सबसे पुराना नमूना 1853 में मिला था और 1923 तक पूरी लिपि प्रकाश में आ गई किन्तु वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। कुछ लोग इसे द्रविड़ या आद्‌य द्रविड़ भाषा से जोड़ने का प्रयास करते हैं, कुछ लोग संस्कृत से तो कुछ लोग सुमेरी भाषा से, परन्तु इन पठनों में से कोई भी संतोषप्रद नही है। जब लिपि ही पढ़ी नहीं जा सकी है तब हम यह कैसे बताऐं कि साहित्य में हडप्पाई लोगों का क्या योगदान रहा, हम उनके विचारों और विश्वासों के बारे में ही कुछ नहीं कह सकते हैं। हडप्पाईयों के अभिलेख उतने लम्बे – लम्बे नहीं है जितने मिस्रियों और मेसोपोटामियाइयों के हैं। अधिकांश अभिलेख मृन्मुद्राओं (सीलों) पर हैं और हर एक में दो चार ही

शब्द हैं। इन मुहरों का प्रयोग धनाढ्‌य लोग अपनी निजी सम्पत्ति को (चिन्हित) करने और पहचानने के लिए करते होंगे। इस लिपि में कुल मिलाकर 250 से 400 तक चित्राक्षर (पिक्टोग्राफ) हैं और चित्र के रूप में लिखा हर अक्षर किसी ध्वनि, भाव या वस्तु का सूचक है। हडप्पा लिपि वर्णात्मक नहीं, बल्कि मुख्यतःचित्र लेखात्मक है। मेसोपाटामिया और मिस्र की समकालीन लिपियों के साथ इसकी तुलना करने के प्रयास किये गए हैं। परन्तुयह तो सिन्धु प्रदेश का देशी आविष्कार है और पश्चिम ऐशिया की लिपियों से इसका कोई संबंध दिखाई नहीं देता है।

### 4.12 माप तौल

लिपि का ज्ञान हो जाने से निजी सम्पत्ति का लेखा – जोखा रखना आसान हो गया होगा। सिन्धु क्षेत्र के नगर निवासियों को व्यापार और अन्य आदान प्रदानों में माप तौल की आवश्यकता हुई और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया। बाट के रूप में व्यवहृत बहुत सी वस्तुऐं पाई गई हैं। उनसे प्रकट होता है कि तौल में 16 या उसके आवर्त्तकों का व्यवहार होता था, जैसे 16,64,160,320 और 640 । दिलचस्प बात है कि सोलह के अनुपात की यह परम्परा भारत में आधुनिक काल तक चलती रही है हाल तक रूपयों सोलह आने का होता था। हडप्पाई लोग मापना भी जानते थे ऐसे डंडे पाये गए हैं जिन पर माप के निशान लगे हुए हैं। इनमें एक डंडा कांसे का भी है।

### 4.13 मृदभांड

हड़प्पाई लोग कुम्हार के चाक का उपयोग करने नें बड़े कुशल थे। उनके अनेक बर्तनों पर विभिन्न रंगों की चित्रकारी देखने को मिलती है। हड़प्पा भाडों पर आम तौर से वृत्त या वृक्ष की आकृतियां मिलती हैं। कुछ ठीकरों पर मनुष्य की आकृतियां भी दिखाई देती हैं।

### 4.14 मुहरें

हड़प्पा संस्कृति की सर्वोत्तम कलाकृतियां हैं उसकी मुहरें। अब तक लगभग 2000 मुहरें प्राप्त हुई हैं। इनमें से अधिकांश मुहरों पर लघु लेखों के साथ – साथ एकसिंगी सांड, भैंस, बाघ, बकरी और हाथी की आकृतियां उकेरी हुई हैं।



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 4.15 प्रतिमाएँ

हड़प्पाई शिल्पी लोग धातु की खूबतसूरत मूर्तियां बनाते थे। कांसे की नर्तकी उनकी मूर्ति कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। पूरी मूर्ति गले में पड़े हार के अलावा एकदम नग्न है। कुछ हड़प्पाई प्रस्तर प्रतिमाऐं मिली हैं। सेलखड़ी की एक मूर्ति के बायें कंधे तथा दायें हाथ के नीचे एक अलंकृत वस्त्र है और सिर के पीछे उसके बालों की छोटी लटें एक बुनी हुई पट्टिका द्वारा ठीक – ठीक रखी गई हैं।

### 4.16 मूर्तिकाऐं (टेराकोटा फिगर्स)

सिन्धु प्रदेश में भारी संख्या में आग में पकी मिट्टी (जो टेराकोटा कहलाती है) की बनी मूर्तिकाऐं (फिगरिन्) मिली हैं। इनका प्रयोग या तो खिलौने के रूप में या पूज्य प्रतिमाओं के रूप में होता था। इनमें पक्षी, कुत्ते, भेड़, गाय – बैल और बन्दर की प्रतिकृतियां मिलती हैं। पुरूषों और स्त्रियों की प्रतिकृतियां भी मिली हैं। जिनमें पुरूषों से स्त्रियों की संख्या अधिक है। जहां मुहरें और प्रतिमाऐं मंजी दक्षता के साथ बनाई गई है, वहां इन मृन्मूर्तिकाओं में अकृत्रिम कला का चमत्कार है। इन दोनों कोटियों के शिल्पों के बीच जो अन्तर है वह उनका इस्तेमाल करने वाले वर्गों के बीच अन्तर का सूचक है। प्रथम कोटि की कलाकृतियों का उपयोग उच्च वर्ग के लोगों में होता था, और द्वितीय कोटि का जन सामान्य में। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया की तरह यहां हम कोई महान प्रस्तर प्रतिमा नहीं पाते हैं।

### 4.17 उद्‌भव, उत्थान और अवसान :–

हड़प्पा संस्कृति का अस्तित्व मोटे तौर पर 2500 ई.पू. और 1800 ई.पू. के बीच रहा। लगता है, अपने अस्तित्व की पूरी अवधि भर यह संस्कृति एक ही प्रकार के औजारों, हथियारों और घरों का प्रयोग करती रही। सारी जीवन पद्धति में एकरूपता बनी रही। वहीं नगर योजना, वही मुहरें, वही मृन्मूर्तिकाएं और वही लम्बे – लम्बे चर्ट फलक दिखाई देते रहे। लेकिन इस अपरिवर्तनीयता पर बहुत अधिक जोर देना ठीक नहीं होगा। हमें मोहनजोदडों की मृदभांड कला में आवधिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। ईसापूर्व अट्ठारहवीं सदी में आकर इस संस्कृति के दो महत्वपूर्ण नगर हडप्पा और मोहनजोदडो लुप्त हा गए लेकिन अन्य स्थानों में हड़प्पा संस्कृति धीरे – धीरे क्षीण हुई और ह्रासोन्मुख स्थिति में यह गुजरात, राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अपने सीमान्त क्षेत्रों में लम्बे समय तक जीवित रही।

जितना ही कठिन हडप्पा संस्कृति का उद्‌भव जानना है उतना ही कठिन उसका अवसान जानना भी है। कई हडप्पा पूर्व बस्तियों के अवशेष पाकिस्तान के निचले सिन्ध और बलूचिस्तान प्रान्त में तथा राजस्थान के कालीबंगा में मिले हैं। हड़प्पा पूर्व किसान उत्तर गुजरात के नागवाड़ा में भी रहते थे। परन्तु किस तरह इन देशी बस्तियों से परिपक्व हडप्पा संस्कृति उद्‌भूत हुई यह बात स्पष्ट नहीं है। न ही हमें इस बात का ही कोई स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि हडप्पा की नगर संस्कृति के विकास में मेसोपोटामिया के नगरों से सम्पर्क कुछ प्रेरक रहा हो। परन्तु हड़प्पा संस्कृति देशी ढंग की थी इस बात में कोई शंका नहीं है। इसमें कई ऐसे तत्व हैं तो इसे पश्चिम एशिया की समकालीन संस्कृतियों से पृथक करते हैं। सिन्धु सभ्यता के नगरों की योजना जाल–पद्धति की है और इसमें सडकों नालियों और मलकुडों की अच्छी व्यवस्था है। दूसरी और मेसोपोटामिया के नगरों में बेतरतीब बढते जाने की प्रवृति देखी जाती है। हडप्पा संस्कृति के सभी नगरों में सभी मकान आयताकार हैं जिनमें पक्का स्नानघर और सीढ़ीदार कुआ संलग्न है। पश्चिम एशिया के नगरों में इस तरह की नगर योजना नहीं पाई गई है। संभवतः क्रीट द्वीप के क्नोसस नगर की छोड़ प्राचीन युग के किसी भी अन्य नगर में जल निकास का ऐसा उत्तम प्रबन्ध देखने को नहीं मिलता। हडप्पाई लोगों ने पक्की ईंटों के इस्तेमाल में जिस कौशल का परिचय दिया है, वैसा पश्चिम एशिया वाले नहीं दे पाये। हडप्पाईयों के मृदभांड और उनकी मुहरें अपने खास ढंग की है और इनकी मुहरों पर अंकित पशु मण्डल स्थानीय है। और सबसे बडी बात यह है कि उन्होंने अपनी एक खास लिपि बनाई जिसका मिस्र और मेसोपोटामिया की लिपि से कोई साम्य नहीं है। यद्यपि हड़प्पा संस्कृति कांस्य युग संस्कृति थी तथापि इसमें कांसे का उपयोग सीमित हुआ और ज्यादातर पत्थर के औजार ही चलते रहे। अंत में हडप्पा संस्कृति का क्षेत्र जितना बड़ा रहा उतना बडा और किसी भी समकालीन संस्कृति का नहीं रहा । हडप्पा नगर की संरचना पांच किलोमीटर के घेरे में फैली हुई है और इस तरह कांस्य युग में अपने ढंग की बृहत्तम संरचनाओं में आती है। अभी तक हडप्पा जैसा नगर विस्तार अन्यंत्र कहीं भी देखने को नहीं मिला है।

मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यताऐं तो 1800 ई.पू. के बाद भी टिकी रहीं, पर हड़प्पा की नगर संस्कृति लगभग उसी समय लुप्त हो गई। इसके बहुत से कारण बताए जाते हैं। कहा जाता है कि सिन्धु क्षेत्र मे वर्षा की मात्रा 3000 ई.पू. के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आस पास तनिक सी बढी और फिर ईसा पूर्व दूसरी सहस्त्राब्दी के आरंभ भाग में कम हो गई। इससे खेती और पशुपालन पर बुरा असर पडा। कुछ लोगों का मत है कि पडौस के रेगिस्तान के फैलाव के फलस्वरूप मिट्टी के लवणता बढ गई और उर्वरता घटती गई इसी से सिन्धु सभ्यता का पतन हो गया। दूसरा मत यह है कि जमीन धंस गई या उपर उठ गई जिससे इसमें बाढ का पानी जमा हो गया भूकम्प के कारण सिन्धु नदी की धारा बदल कई जिसके फलस्वरूप मोहनजोदडो की पृष्ठभूमि वीरान हो गई। यह भी मत है कि हडप्पा संस्कृति को आर्यों ने नष्ट किया।

कांस्य युग की इस विशालतम सांस्कृतिक सत्ता के वेघटन के परिणाम क्या – क्या हुए यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। हम नहीं जानते हैं कि क्या नगर के उजड़ जाने से वणिक और शिल्पी लोग देहात की ओर भाग गए और वहां हडप्पा के तकनीकी कौशलों को फैलाया। हमें सिन्धु, पंजाब और हरियाणा की नागरिकोत्तर काल की स्थिति के बारे में कुछ जानकारी है। सिन्धु क्षेत्र के भीतर हम कृषि बस्तियां तो पाते हैं लेकिन पूर्वकाल की संस्कृति के साथ उनका संबंध स्पष्ट नहीं होता है। हमें स्पष्ट और पर्याप्त जानकारी की अपेक्षा है।

### 4.18 हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था

हडप्पा संस्कृति शायद 1800 ईसा पूर्व के आरंभ तक जीती जागती रही। बाद में इसकी नागरिक अवस्था अलक्षित सी हो गई जिसके परिचण्यक थे सुव्यवस्थित नगर निवेश, व्यापक ईंट सरचनाऐं लिखने की कला, मानक बाट माप, दुर्गनगर और निम्न स्तरीय शहर के बीच अन्तर, कांसे के औजारों का इस्तेमाल और काले रंग की आकृतियों से चित्रित लाल मृदभांड का निमार्ण। इसकी शैलीगत एकरूपता समाप्त हो गई, और प्रखर शैलीगत विविधता ने प्रवेश करके हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था की सूचना दी। नागरिकोत्तकर हडप्पा संस्कृति के कुछ लक्षण पाकिस्तान और मध्य एवं पश्चिमी भारत में तथा पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी दिखाई देते हैं। इनका काल मोटे तौर पर 1800 ईसा पूर्व से 1200 ईसा पूर्व तक हो सकता है। हडप्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था को उपसिन्धु संस्कृति भी कहते हैं। उत्तर हडप्पा संस्कृति नाम और भी अधिक प्रचलित है।

उत्तर हडप्पा संस्कृतियां मूलतः ताम्रपाषणिक है जिनमें पत्थर और तांबे के औजार चलते हैं। इनमें धातु के ऐसे उपकरण नही बनते थे जिनकी ढलाई आसान नहीं है फिर भी कुल्हाडी, छेनी, कंगन, वक्र अस्तूरा, बसी और बरछा शामिल हैं। ताम्र पाषाण संस्कृति के लोग हडप्पा संस्कृति की उत्तर अवस्था में गांवों में बस गए और खेती, पशुपालन, शिकार और मछली पकडने का धंधा करने लगे। शायद देहातो में धातु संबंधी तकनीकी जानकारी के फैलने से खेती करने और बस्तियां बनाने में सहूलियत हुई। गुजरात के प्रभास पाटन (सोमनाथ) और रंगपुर जैसे कुछ स्थान तो हडप्पा संस्कृति के मानो औरस पुत्र है। किन्तु उदयपुर के निकटवर्ती अहाड़ में हडप्पाई तत्व कुछेक ही पाये जाते हैं। गिलुंद में जो अहाड़ संस्कृति का एक स्थानीय केन्द्र जैसा लगता है। ईंटों की संरचनाऐं भी मिली हैं। जिन्हें मोटे तौर पर 2000 ईसा पूर्व और 1500 ईसा पूर्व रखा जा सकता है। यों पकाई हुई ईटें हरियाणा के भगवानपुरा में उत्तर हडप्पाई अवस्था में मिली है पर इसके सिवा और कहीं नहीं पाई गई है हां पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर जिले के लाल किला के गैरिक मृदभांड (ओ.सी.पी.) स्थल पर चंद ईटें मिली हैं। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि हडप्पीय तत्व न तो मालवा की उस ताम्रपाषाण संस्कृति (लगभग 1700 ईसा पूर्व –1200 ईसा पूर्व) में मिलते हैं जिसकी सबसे बडी बस्ती नवदा टोली में है और न उन अनेकों जोरवे स्थलों में ही मिलते हैं जो तापी, गोदावरी और भीमा की घाटी में पाए गए हैं। जोरवे बस्तियों में सबसे बडी हैं दैमाबाद की जो करीब 22 हेक्टर में बसी हैं जहां 4000 की आबादी हो सकती है। इसे आद्य नगरीय कह सकते हैं। लेकिन अधिकांश जोरवे बस्तियां गांव ही हैं।

नागरिकोत्तर हड़प्पाई बस्तियां स्वात घाटी में मिली हैं। यहां के लोग पशु चारण के साथ साथ अच्छी खेती और पशुपालन भी करते थे। वे मन्द चाल वाले चाक पर बने काला धूसर ओपदार मृदभांडों का प्रयोग करते थे। ये मृदभांड ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी और उसके बाद के उन मृदभांडों से मिलते हैं जो उत्तरी ईरान के पठार से प्राप्त हुए हैं। स्वात घाटी के निवासी भी चाक पर लाल पर काले रंग वाले मृदभांड तैयार करते थे जो आरंभिक नागरिकोत्तर काल के मृदभांडों से निकट संबंध जताते हैं। इनसे प्रकट होता है कि हडप्पा से सम्बद्ध नागरिकोत्तर संस्कृति से इनका संबंध था। इसलिए स्वात घाटी को उत्तर हडप्पा संस्कृति का उत्तरी छोर मान सकते हैं। भारत स्थित पंजाब, हरियाणा,उत्तरप्रदेश और जम्मू में भी कई उत्तर हडप्पा स्थलों की खुदाई हुई है। इनमें जम्मू में मंडा, पंजाब में चंडीगढ और संघोल, हरियाणा में दौलतपुर और मितेथल उल्लेखनीय हैं। जान पडता है कि हडप्पाई लोगों ने चावल की खेती तब शुरू की जब वे हरियाणा में दौलतपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और उत्तरप्रदेश के सहारनपुर जिले में हुलास पहुंचे। रागी उत्तर भारत के किसी भी हडप्पा स्थल में अभी तक नहीं देखा गया है। आलमगीरपुर में उत्तर हडप्पाई लोग कपास भी उपजाते थे जैसा कि हडप्पा के मृदभाडों पर मिले कपड़े के छापों से मालूम होता है।

उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों के उत्तर हडप्पाई स्थलों मे जो चित्रित हड़प्पाई मृदभांड पाए गए हैं उनमें आकृतियां अपेक्षाकृत सरल हो गई हैं। हालांकि कुछ नए पात्र प्रकार भी मिलते हैं। कुछ उत्तर हडप्पाई पात्र प्रकार भगवानपुरा के चित्रित धूसर मृदभांड अवशेषों से समिश्रित पाए गए हैं लेकिन इस काल में हडप्पा संस्कृति पूर्ण विघटन की अवस्था में आ चुकी प्रतीत होती है।

उत्तर हडप्पाई अवस्था में लम्बाई मापने की कोई वस्तु नहीं पाई गई है। गुजरात में उत्तरकाल में पत्थर के घनाकार बाट और पक्की मिट्‌टी की पिंडिकाऐं (टेराकोटा केक) नहीं पाते हैं। आम तौर से सभी उत्तर हडप्पाई स्थलों में मानव मूर्तिकाओं और वैशिष्टय सूचक चित्राकृतियों का अभांव है। यद्यपि गुजरात में प्रकाचित वस्तु (फायन्स) अप्रचलित हो चुकी थी पर उत्तर भारत में यह खूब चलती थीं। नागरिकोत्तर अवस्था में पहुंचने पर पश्चिम एशियाई केन्द्रों से हडप्पाइयों का व्यापार समाप्त हो गया। लाजवर्द मणि, चर्ट, इन्द्रगोप मणि (कनेलिअन बेड) तथा तांबे और कांसे के पात्र व्यापार वस्तुओं में या तो लुप्त हो चुके थे या विरल। यह सब स्वाभाविक था क्योंकि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में उत्खनित अधिकांश उत्तर कालीन हडप्पा स्थल देहाती बस्तियां ही हैं।

हड़प्पा संस्कृति की उत्तरकालीन अवस्थाओं में कुछ बाहरी औजार और मृदभांड पाए गए हैं। जिनसे संकेत मिलता है कि सिन्धु घाटी में बाहर के लोग धीरे – धीरे प्रवेश करने लगे थे। मोहनजोदडो की अंतिम अवस्था में असुरक्षा और अशांन्ति के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। आभूषणों की निधियां स्थान – स्थान पर गड़ी मिली हैं और एक स्थान पर आदमी की खोपड़ियों का ढेर मिला है। मोहनजोदडो की उपरी सतहों पर नई किस्म की कुल्हाडियां, छुरे और पसलीदार और सपाट चूल वाली छुरियां मिली हैं। ये कुछ बाहरी आक्रमण के संकेत देते हैं। हडप्पा की उत्तर अवस्था के एक कब्रिस्तान में नए लोगों के अवशेष मिले हैं। जहां नवीनतम स्तरों पर नये प्रकार के मृदभांड हैं। नये प्रकार के मृदभांड बलूचिस्तान के कुछ स्थलों पर भी मिलते हैं। पंजाब और हरियाणा के कई स्थलों पर लगभग 1200 ईसा पूर्व के उत्तरकालीन हडप्पा गृदगांडों के राथ राथ धूरार गृदगांड और चित्रित धूरार गृदगांड पाए गए हैं जो आगतौर पर रो वैदिक जनों रो जुडे हैं। ये सारे काम उन बर्बर अश्वारोही जनों के हो सकते हैं जो ईरान से पहाडियों के रास्ते आए होंगे। लेकिन नये लोग उतनी अधिक संख्या में नहीं आए कि पंजाब और सिन्ध के हडप्पाई नगरों को तहस नहस कर दें।

## 4.19 सारांश

यद्यपि वैदिक आर्यजन अधिकांशतः उसी सप्त सिन्धु प्रदेश में बसे जहां एक समय हडप्पा संस्कृति विराजमान थी फिर भी हमें ऐसा कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता है कि सुदृढ़ हडप्पा जनों और आर्यजनों के बीच कोई भारी संग्राम हुआ था। वैदिक जनों का 1800 ई.पू. और 1200 ई.पू. के बीच हड़प्पा संस्कृति की उत्तरकालीन अवस्था के साथ लोगों के सामना हुआ होगा।

## 4.20 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. हड़प्पा सभ्यता को कांस्ययुग सभ्यता क्यों कहते हैं ?

प्रश्न 2. हड़प्पा नगरों का विन्यास कैसा था ? इसकी विलक्षणताओं का वर्णन करें।

प्रश्न 3. हड़प्पाई लोगों के मुख्य पेशों का वर्णन करें।

प्रश्न 4. शिल्प और तकनीक के क्षेत्र में हड़प्पाई लोगों की उपलब्धियां बताएँ।

प्रश्न 5. पक्की मिट्‌टी की मूर्तिकाऐं और मुहरें हड़प्पाई लोगों की धार्मिक प्रथाओं पर प्रचुर प्रकाश डालती है– विवेचन करें।

प्रश्न 6. हड़प्पा सभ्यता कैसे समाप्त हुई ? विवेचन करें।

प्रश्न 7. विश्व के अन्य भागों की कौन कौन सी कांस्य युग सभ्यताऐं हड़प्पा संस्कृति के समकालीन थी? उनमें से किन किन के साथ हड़प्पाई लोगों का व्यापारिक सम्पर्क था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई–5 : आर्यों का आगमन और ऋग्वेद युग

**संरचना**

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 मूल निवास स्थान और पहिचान
5.3 जातीय संघर्ष
5.4 भौतिक जीवन
5.5 कबायली राज व्यवस्था
5.6 कबीला और परिवार
5.7 सामाजिक वर्गीकरण
5.8 ऋग्वैदिक देवता
5.9 सारांश
5.10 अभ्यास प्रश्नावली

## 5.0 प्रस्तावना

आर्य लोग भारत यूरोपीय परिवार की भाषाऐं बोलते थे, जो अपने परिवर्तित रूपों में आज भी समूचे यूरोप और ईरान में तथा भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकतर भागों में बोली जाती है। जान पड़ता है कि आर्यों का मूल निवास आल्पस पर्वत के पूर्वी क्षेत्र में जो यूरेशिया कहलाता है, कहीं पर था आज कुत्ता, घोड़ा आदि कुछ पशुओ के नाम और भूर्ज, देवदारू, मैपिल आदि कुछ वृक्षों के नाम सभी भारत यूरोपीय भाषाओं मे समान पाए जाते है। ये समान शब्द यूरेशिया के पौधों और पशुओं के वाचक है। इनसे यह भी प्रकट होता है कि आर्यजन नदियों और वनों से परिचित थे। यह विचित्र बात है कि पर्वत के वाचक समान शब्द कुछ ही आर्य भाषाओं में है, हालाँकि आर्यो ने अनेकों पर्वतों को पार किया है। उनका आरभिक जीवन मुख्यतः पशुचारण का था, कृषि उनका गौण धन्धा था। आर्य लोग स्थिर निवासी नही थे, इसलिए उनके पीछे कोई ठोस भौतिक अवशेष नही छोड़ गए। उन्होंने कई प्रकार के पशुओं का इस्तेमाल किया, लेकिन उनके जीवन में घोड़ों का सबसे अधिक महत्व था। इसकी तेज रफ्तार के कारण उन्हे और उनके सहयोगी जनों को लगभग 2000 ई. पू. के बाद पश्चिम एशिया में चढ़ाई करने में सफलता मिली।

## 5.1 उद्देश्य

यहाँ आर्यों के आगमन एवं ऋग्वेद काल के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

## 5.2 मूल निवास स्थान और पहिचान

भारत आगमन के क्रम में आर्य लोग ईरान पहुंचे, जहां भारत ईरानी लोग बहुत पहले से रहते थे। हमें भारत में आर्यो की जानकारी ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद भारत यूरोपीय भाषाओं का सबसे पुराना निदर्श है। इसमें अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरूण आदि देवताओं की स्तुतियां संगृहीत है। जिनकी रचना विभिन्न गोत्रों के ऋषियों या मन्त्रदृष्टाओं ने की है। इसमें दस मण्डल या भाग है, जिनमें मण्डल 2 से 7 तक प्राचीनतम अंश है। प्रथम और दशम मण्डल सबसे बाद में जोड़े गए मालूम होते हैं। ऋगवेद की अनेक बातें अवेस्ता से मिलती है। अवेस्ता ईरानी भाषा का प्रचीनतम ग्रन्थ है। दोनो ग्रन्थों में बहुत से देवताओं के और सामाजिक वर्गो के भी नाम समान है। इराक में मिले लगभग 1600 ई.पू. के कस्सी अभिलेखों में तथा ईसा पूर्व चौदहवीं सदी के मितन्नी अभिलेखों में जो कुछ आर्य नामों का उल्लेख मिलता है उनसे संकेत मिलता है कि ईरान से आर्यो की एक शाखा पश्चिम की ओर चली गई थी।

भारत में आर्यो का आगमन 1500 ई.पू. से कुछ पहले हुआ। उनके आगमन का कोई स्पष्ट और ठोस पुरातात्विक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रमाण नही मिलता है। शायद वे छेदवाली कुल्हाड़ियां, कांसे की कटारें और खड्ग का प्रयोग करते थे। ये हथियार पश्चिमोत्तर भारत में मिले है। आरम्भिक आर्यो का निवास पूर्वी अफगानिस्तन और पंजाब में तथा पश्चिमी उतर प्रदेश के सीमावर्ती भूभागों में था। ऋग्वेद में अफगानिस्तान की कुभा आदि कुछ नदियों का तथा सिन्धु और उसकी पांच सहायक नदियों का नामोल्लेख है। सिन्धु आर्यो की सबसे प्रमुख नदी है। जिसका उन्होने बार बार उल्लेख किया है। उनके द्वारा उल्लिखित दूसरी नदी है सरस्वती, जो अब राजस्थान के रेगिस्तान में तिरोहित हो गई है, इसकी जगह अब घग्घर नदी बहती है। सम्भवत, आर्य लोग तांबा राजस्थान की खेत्री खानों से प्रात करते थे भारत में आर्य लोग जहां प्रथमतः बसे वह सारा प्रदेश सप्तसिन्धु (सात नदियों का देश) नाम से प्रसिद्ध है।

भारत में आर्य लोग कई खेपों में आए। सबसे पहले की खेप में जो आए वे है ऋग्वेदिक आर्य, जो इस उपमहाद्वीप में 1500 ई.पू. के आसपास दिखाई देते थे। उनका दास, दस्यु आदि नाम से स्थानीय जनों से संघर्ष हुआ। चूंकि दास जनों का उल्लेख प्राचीन ईरानी साहित्य में भी मिलता है, इसलिए प्रतीत होता है कि वे पूर्ववर्ती आर्यों की ही एक शाखा के थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि भरतवंश में एक राजा दिवोदास ने शम्बर को हराया । यहां दास शब्द दिवोदास के नाम से लगा है। ऋग्वेद में जो दस्यु कहे गए है। वे सम्भवतः इस देश के मूलवासी थे और आर्यो के जिस राजा ने उन्हे पराजित किया वह त्रसदस्यु कहलाया। वह राजा दासों के प्रति तो कोमल थे। पर दस्युओं का परम शत्रु था। ऋग्वेद में दस्युहत्या शब्द का बार बार उल्लेख मिलता है। दस्यु लोग शायद लिंगपूजक थे और दूध के लिए पशुपालन नही करते थे।

## 5.3 जातीय संघर्ष

हम यह तो नही जानते कि आर्यो के शत्रुओं के हथियार कैसे थे, पर यह ज्ञात होता है कि इन्द्र ने आर्यो के शत्रुओं को बार बार पराजित किया। ऋग्वेद में इन्द्र को पुरन्दर कहा गया है जिसका अर्थ है दुर्गो को तोड़ने वाला। लेकिन आर्य पूर्व जनों के इन दुर्गो का हमें कोई पता नही है। हो सकता है, इनमें कुछ दुर्ग उत्तरकालीन हड़प्पा बस्तियां रहे हो। आर्य लोग हर जगह जीते गए क्योंकि उनके पास अश्वचालित रथ थे और उन्होने ही पश्चिम एशिया और भारत में पहले पहल इन रथों को प्रचलित किया है। आर्य सैनिकों के पास शायद कवच (वर्मन) और उत्कृष्ट अस्त्र भी थे।

आर्यो को दो इस तरह के संघर्षो का सामना करना पड़ा, एक और उनकी आर्य पूर्व जनों से लड़ाई हुई तो दूसरी ओर अपने ही लोगों के बीच। आन्तरिक जातीय संघर्षो से आर्य समुदाय दीर्घ काल तक जर्जर रहे। परम्परानुसार तो यह कहा जाता है कि आर्यो के पांच कबीले अर्थात जन थे। जिनका समुदाय पंचजन कहलाता था। लेकिन और भी जन रहे होंगें। ये जन आपस में लड़ते थे और कभी कभी इसके लिए आर्योतर जनों का भी सहारा लेते थे। भरत और त्रित्सु दोनो आर्यो के शासकवंश थे, और पुरोहित वशिष्ठ इन दोनो वंशों के समर्थक थे। बाद में चलकर इस देश का नाम इसी भरत कुल के आधार पर भारत वर्ष पड़ा। इस कुल या कबीले का उल्लेख सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है। भरत राजवंश का दस राजाओं के साथ विरोध था जिसमें पांच आर्य जनों के प्रधान थे और शेष आर्येतर जनों के भरत और दस राजाओं के बीच जो लड़ाई हुई वह दाशराज युद्ध (दस राजाओं के साथ लड़ाई) के रूप में विदित है। यह युद्ध परूष्णी नदी के तट पर हुआ, जिसकी पहचान आज भी रावी नदी से की जाती है, इसमें सुदास की जीत हुई और इस प्रकार भरतों की प्रभुता कायम हुई। पराजित जनों मे सबसे महान पुरू थे। कालान्तर में भरतों और पुरूओं के बीच मैत्री हो गई और दोनो ने मिलकर एक नया शासक कुल बनाया जो कुरू के नाम से प्रसिद्व हुआ। फिर कुरू जनों ने पंचालों के साथ मिलकर उच्च गंगा के मैदान में अपना संयुक्त राज्य स्थापित किया। यहां कुरू – पंचालों ने उतर वैदिक काल में बड़ा महत्व प्राप्त किया।

## 5.4 भौतिक जीवन

ऋग्वैदिक आर्यो के भौतिक जीवन के बारे में कुछ आभास मिलता है। भारत में उनकी सफलता के कारण थे घोड़े, रथ और सम्भवतः काँसे के कुछ बेहतर हथियार भी, जिनके बारे में हमें पुरातात्विक प्रमाण नाम मात्र के मिले हैं। जब वे इस उपमहाद्वीप के पश्चिम भाग में बसे तब उन्हे राजस्थान की खेत्री खानों से तांबा मिलता रहा होगा। ऋग्वैदिक लोगों को खेती की बेहतर जानकारी थी। ऋग्वेद के प्रचीनतम भाग में फाल का उल्लेख मिलता है। हालाँकी कुछ विद्वान इसे प्रक्षिप्त पाठ मानते है। शायद यह फाल लकड़ी का रहा होगा उन्हे बोवाई, कटाई और दावनी का ज्ञान था विभिन्न ऋतुओं के बारे में भी उन्हे जानकारी थी जहां वैदिक जन बसे थे उन प्रदेशों के आर्य पूर्व जनों को खेती का अच्छा ज्ञान था।

इन सबके बावजूद ऋग्वेद में गाय की इतनी चर्चा है कि वैदिक आर्यो को मुख्य रूप से पशुचारक कहा जा सकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। उनकी अधिकांश लड़ाईयाँ गायों को लेकर हुई है। ऋग्वेद की युद्ध का पर्याय गविष्टि (गायो का अन्वेषण) है गाय सबसे उत्तम धन मानी गई है। जहां कही पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा की बात आई है उसमें आम तौर से गाय और दासियां होती और भूमि कभी नहीं होती । ऋग्वैदिक लोग गाय चराने, खेती करने और बसने के लिए जमीन पर कब्जा करते होंगे, परन्तु भूमि निजी सम्पति नही होती थी।

ऋग्वेद में बढ़ई, रथकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्हार आदि शिल्पियों के उल्लेख मिलते है। इससे पता चलता है कि आर्य लोगों में इन सभी शिल्पों का प्रचलन था। तांबे या कांसे के अर्थ में अयस शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि उन्हे धातुकर्म की जानकारी थी। परन्तु व्यापार के अस्तित्व का कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता है। आर्यजन या वैदिक जन समुद्र या महासागर जानते थे कि नहीं यह संदिग्ध है, क्योंकि ऋग्वेद में उल्लिखित समुद्र शब्द मुख्यतः जलराशि का वाचक है। किसी भी स्थिति में, आर्य लोग शहरों में नही रहते थे, सम्भवतः वे किसी न किसी तरह का गढ़ बनाकर मिट्टी के घरों वाले गांवों में रहते थे। और पुरातत्ववेत्ताओं को अभी तक ऐसी गढ़ वाली बस्तियों का पता नही लगा है।

हाल ही में हरियाणा में भगवानपुरा नामक स्थल की ओर पंजाब में तीन स्थलों की खुदाई हुई है। और इन सभी जगह उत्तरकालीन हड़प्पा मृदभांडों के साथ चित्रित धूसर मृदभांड पाए गए हैं। भगवानपुरा में प्राप्त वस्तुओं की तिथि 1600 ई.पूर्व से 1000 ई.पूर्व तक रखी गई है और यही मोटे तौर पर ऋग्वेद का काल भी है। इन चार स्थलों का भौगोलिक क्षेत्र भी वही है जो ऋग्वेद के पर्याप्त अंश से प्रतिभाषित है। यद्यपि इन सभी स्थलों में चित्रित धूसर मृदभांड मिले है, फिर भी लाहे की वस्तु और अनाज का पता नही है। इसलिए हम ऋग्वैदिक अवस्था के समान काल में चित्रित धूसर मृदभांड संस्कृति के अन्तर्गत एक लौह–पूर्व अवस्था की कल्पना कर सकते है। यह एक रोचक बात है कि भगवानपुरा में तेरह कमरों वाला एक मिट्टी का घर प्रकाश में आया है। यह या तो किसी बहुत बड़े परिवार का निवास गृह होगा या कबीला सरदार का आवास। इन सभी स्थलों पर पशुओं की हड्डियां भारी तादात में मिली है।

## 5.5 कबायली राज व्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में आर्यो का प्रशासन तन्त्र कबीले के प्रधान के हाथों चलता था, क्योंकि वही युद्ध का सफल नेतृत्व करता था। वह राजन (अर्थात राजा) कहलाता था। प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में राजा का पद आनुवांशिक हो चुका था। फिर भी प्रधान या राजा के हाथ में असीमित अधिकार नही रहता था। क्योंकि उसे कबायली संघटनों से सलाह लेनी पड़ती थी। हमें इस बात का भी आभास मिलता है कि कबीले की आम सभा जो समिति कहलाती थी अपने राजा को चुनती थी। राजा को अपने जनों का गोप्ता (रक्षक) कहा जाता था। यह कबीले के मवेशीयां की रक्षा करता था, यूद्ध में लड़ता था, और उसकी ओर से देवताओं की प्रार्थना करता था।

ऋग्वेद में कबीलों या कुलों के आधार पर बने बहुत से संघटनों के उल्लेख मिले है। जैसे सभा, समिति विद्थ, गण। ये संघटन वैचारिक, सैनिक और धार्मिक कार्य देखते थे। ऋग्वैदिक काल में महिलाएें थी सभा और विदध में भाग लेती थी। परन्तु सभा और समिति ये दोनो संघटन इतने महत्वपूर्ण थे कि प्रधान या राजा भी समर्थन के लिए इनका मुंह जोहते रहते थे। दैनन्दिनी प्रशासन में कुछ अधिकारी राजा को सहायता करते थे। सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी पुरोहित होता था। ऋग्वेद काल में वशिष्ठ और विश्वामित्र दो महान पुरोहित हुए थे। पुरोहित राजा को कर्तव्य का उपदेश देते थे। उनका गुणगान करते थे, और उसके प्रतिफल में गायों और दासियों के रूप में प्रचुर दान दक्षिणा पाते थे। पुरोहित के बाद शायद सेनानी का स्थान था जो भाला, कुठार, तलवार आदि अस्त्र चलाना जानता था। हमें ऐसे किसी अधिकारी का पता नही चलता जो कर संग्रह का काम करता हो। सम्भवतः प्रजा स्वयं राजा को उसका अंश स्वेच्छया दे देती थी।, जिसका नाम बलि (अर्थात चढ़ावा) था। युद्व में प्राप्त भेंट और लूट की वस्तुऐं वैदिक सभा में बांट दी जाती थी। ऋग्वेद में किसी तरह के न्यायाधिकारी का उल्लेख नही है। लेकिन वह कोई आदर्श समाज नही था कि जहां इसकी जरूरत न रही हो। चोरी और सेंधमारी होती थी और गायों की चोरी तो विशेष रूप से होती थी। ऐसी समाज विरोधी हरकतों को रोकने के लिए गुप्तचर रखे जाते थे।

अधिकारियों के पदनामों से उनके प्रशासनिक भूभाग के संकेत ही मिलता है। फिर भी लगता है कि कुछ अधिकारी क्षेत्रों से जुडे थे। चारागाहों और आबाद गांवों पर उनके विशेष अधिकार थे। चारागाह का अधिकारी व्राजपति कहलाता था। वही परिवारों के प्रधानों को, जो कुलप कहलाते थे, अथवा लड़ाकू दलों के प्रधानों को, जो ग्रामणी कहलाते थे, साथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करके युदध में ले जाता थां। आरम्भ में ग्रामीणी एक छोटी सी कबायली लड़ाकू टोली का मुखिया होता था। पर बाद में जब ऐसी टोली स्थिर वासी हो गई तब ग्रामीणी सरे गाँव का मुखिया हो गया और कालान्तर में वही व्राजपति बन गया।

राजा कोई नियमित या स्थाई सेना नही रखता था लेकिन युद्ध के समय एक नागरिक सेना (मिलिशया) संगठित कर लेता था जिसका सैनिक कार्य संचालन व्रात, गण ग्राम और सर्ध नाम से विदित विभिन्न कबायली टोलियां करती थी। कुल मिलाकर यह कबायली ढंग का शासन था। जिसमें सैनिक तत्व प्रबल होता था। नागरिक शासन या प्रादेशिक प्रशासन का अस्तित्व नही था। क्योंकि लोग निरन्तर स्थान बदलते ओर फैलते जाते थे।

## 5.6 कबीला और परिवार

समाजिक संगठन का आधार गौत्र या जन्ममूलक सन्बन्ध था। जैसा कि कई ऋग्वैदिक राजाओं के नामों से ज्ञात होता है, व्यक्ति की पहचान उसके कुल या गौत्र से होती थी। लोगों में सबसे अधिक आस्था अपने अपने कबीले के प्रति रहती थी, जिसे जन कहा जाता था एक पुरानी ऋचा में दो जनों की संयुक्त युद्ध क्षमता इक्कीस बताई गई है। इससे लक्षित होता है कि किसी जन में सदस्यो की सख्या कुल मिलाकर 100 से अधिक नही रहती होगी। ऋग्वेद में जन शब्द का उल्लेख लगभग 275 बार हुआ है पर जनपद (अर्थात राज्यक्षेत्र) शब्द एक बार भी नही आया है लोग कबीले के अंग थे, क्योंकि उन दिनों राज्य क्षेत्र या राज्य स्थापित नही हुआ था।

ऋग्वेद में दूसरा महत्वपूर्ण शब्द जो कबीले के अर्थ में मिलता है वह है विश्। इसका अनुवाद गौत्र या क्लैन भी किया जा सकता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख 170 बार हुआ है। संभवत विश को लड़ाई के उद्देश्य से ग्राम नामक छोटी कबायली टोलियों में बांटा गया था। जब ये ग्राम आपस में टकरा जाते थे तो संग्राम या युद्ध हो जाता था। वैश्य नाम बहुसंख्यक वर्ण का उदय इसी विश या कबायली जनसमूह में हुआ है।

ऋग्वेद में परिवार वाचक (कुल) शब्द का प्रयोग विरल है। इसमें केवल माता पिता, पुत्र दास इत्यादि नही आते है, बल्कि और भी लोग आते है। प्रतीत होता हे कि आरम्भिक वैदिक अवस्था में परिवार के अर्थ में गृह शब्द था जो ऋग्वेद में बार बार आया है। प्राचीनतम भारत–यूरोपीय भाषाओं में पोते, नाती, भानजे, भतीजे, आदि सब के लिए एक ही शब्द था। इसका अर्थ हुआ कि पृथक कुटुम्बों की स्थागना की दिशा में गारिवारिक सम्बन्धों का विभेदीकरण बहुत अधिक नही हुआ था और कुटुम्ब एक बड़ी सम्मिलित इकाई थी। रोमन समाज की तरह यह एक पितृतन्त्रात्मक परिवार थ जिसमें पिता मुखिया होता था। जाना पड़ता है कि एक परिवार की अनेक पीढ़ियां एक घर में साथ साथ रहती थी। निरन्तर युद्घ में लगे पितृतन्त्रात्मक समाज में लोग हमेशा वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते रहते थे। ऋग्वेद में बेटी के लिए कामना कहीं व्यक्त नहीं की गई है। जबकि प्रजा (सन्तान) और पशु की कामना सुक्तों में बारबांर आई है।

स्त्रियां सभा समितियों में भाग ले सकती थी। वे पतियों के साथ यज्ञों में आहुतियां दे सकती थी। सूक्तों की रचना करने वाली पांच महिलाऐं ज्ञात है। बाद के ग्रन्थों में तो ऐसी 20 स्त्रियों का उल्लेख मिलते हैं। निःसन्देह, सूक्तों की रचना मौखिक होती थी और उस काल का कोई लेख नही मिला है। विवाह संस्था कायम हो चुकी थी, यद्यपि कुछ आदिम प्रथाओं का अवशेष का भी आभाष मिलता है। जुड़वां भाई बहिन यम और यमी की कहानी हमें मालूम है। यमी ने यम से विवाह प्रस्ताव रखा, यम ने अस्वीकार कर दिया। बहुपति प्रथा के भी कुछ संकेत मिलते है। उदाहणार्थ मरूतों ने रोदसी को मिलकर भोगा और सूर्य की पुत्री सूर्या दोनो भाई अश्विन के साथ रहती थी। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत नही है। शायद ये मातृतन्त्रात्मक स्थिति के द्योतक अवशेष है, और हम माता के नाम पर पुत्रों का नामकरण भी पाते है जैसे मामतेय। ऋग्वेद के नियोग प्रथा ओर विधवा विवाह के प्रचलन का भी आभाष मिलता है। बाल विवाह का कोई उदाहरण नही है जान पड़ता है ऋग्वैदिक काल मे सोलह सत्रह वर्ष की आयु में विवाह होता था।

## 5.7 सामाजिक वर्गीकरण

ऋग्वेद में हमे 1500–1000 ई.पू. आस पास के पश्चिमोत्तर भारत में लोगों के शारिरिक रूप रंग की चेतना का कुछ आभास मिलता है। वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के अर्थ में होता था और प्रतीत होता है कि आर्य लोग गौर वर्ण के थे और मूलवासी लोग काले रंग के। हो सकता है , सामाजिक वर्ग विन्यास में रंग से परिचायक चिन्ह का काम लिया गया हो, लेकिन रंग भेद दर्शी पश्चिमी लेखकों ने रंग की धारणा को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। वास्तव में समाज में वर्गो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के सृजन का सबसे बड़ा कारण हुआ आर्यो की मूल वासियों पर विजय। आर्यो द्वारा जीते गए दास और दस्यु जनों ने लोग दास और शुद्र हो गए। जीती गई वस्तुओं में कबीले के सरदारों और पुरोहितों का अधिक हिस्सा मिलता था और स्वतः वे सामान्य लोगों को वंचित करते हुए अधिकाधिक सम्पन्न होते गए। इससे कबीले में सामाजिक असमानता का सृजन हुआ। धीरे धीरे कबायली समाज तीन वर्गो में बंट गया। योद्दा, पुराहित और सामान्य लोग (प्रजा)। इसी तरह का विभाजन ईरान में हुआ था। चौथा वर्ग, जो शुद्र कहलाता था, ऋग्वेद काल के अन्त में दिखाई पड़ता है। क्योंकि इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल में है, जो सबसे बाद में जोड़ा गया है।

पुरोहितों को दक्षिणा में दास दिये जाने की बात बार बार आई है। मुख्य रूप से दासियां दी जाती थी जिनसे घरेलू काम कराया जाता था। यह साफ जाहिर होता है कि ऋग्वेद काल में दास प्रत्यक्षतः खेती के काम में या अन्य उत्पादनात्मक कार्य में नही लगाए जाते थे। ऋग्वेद के युग में ही व्यवसाय के आधार पर समाज का वर्गीकरण आरम्भ हुआ। किन्तु उन दिनों यह वर्ग विभाजन बहुत कड़ा नही हुआ था। ऋग्वेद में किसी परिवार का एक सदस्य कहता है "मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य है और मेरी माता चक्की चलाने वाली है, भिन्न भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते हुए हम एक साथ रहते है" गायें, रथ, घोड़े, दास – दासियां आदि दान में दिए जाते थे। युद्ध में हाथ लगी सम्पत्ति का असमान वितरण होने के कारण समाज में असमानता आई और इससे सामान्य कबायली लोगों को वंचित करते हुए राजाओं और पुरोहितों को आगे बढ़ने में सहायता मिली। लेकिन चूंकि मुख्य आर्थिक आधार पशुचारण था इसलिए प्रजा से नियमपूर्वक खिराज (राजस्व) वसूलने की गुंजाईश बहुत कम थी। हमें भूमि दान का उल्लेख नही मिलता है, और अन्नदान का भी विरल वर्णन ही मिलता है, और हम दास दासियां पाते है, लेकिन मजदूर (अर्थात मजदूरी पर खटने वाले श्रमिक) नही देखते है। समाज में कबायली तत्व प्रबल थे, तथा कर संग्रह और भूमि सम्पदा के पूंजीकरण पर आश्रित सामाजिक वर्गीकरण नही हुआ था। समाज अब भी कबायली और बहुत कुछ समतानिष्ठ था।

## 5.8 ऋग्वैदिक देवता

हर समुदाय को अपने धर्म का आलोक अपने ही परिवेश में मिलता है। वर्षा का होना, सूर्य ओर चन्द्र का उदय, नदी पर्वत आदि का अस्तित्व ये सब बातें आर्यो के लिए पहेली जैसी थी। अतः उन लोगों ने इन प्राकृतिक शक्तियों को अपने मन में दैहिक रूप देकर इन्हे प्राणियों के रूप मे देखा और इसमें मानव और पशु के गुण आरोपित किए। ऐसे बहुत से देवताओं के दर्शन हमें ऋग्वेद में होते है, जिसमें इन देवताओं की स्तुति में विभिन्न ऋषियों के रचे सूक्त (गीत) भरे हुए हैं। ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रतापी देवता इन्द्र है। जिन्हें पुरन्दर अर्थात किले को तोड़ने वाला कहा गया है। इन्द्र आर्यो के युद्व नेता के रूप में चित्रित है जिसने असुरों से लड़ने में आर्य सैनिकों का नेतृत्व किया और उन्हे विजय दिलाई। इन्द्र पर 250 सुक्त है। वह बादल का देवता माना गया है जो वर्षा देता है। अग्नि का दूसरा स्थान है। उस पर 200 सूक्त हैं। आदिम अवस्था के लोगों में अग्नि की भूमिका बड़े महत्व की रही, क्योंकि इससे वे जंगलों को जलाना, खाना पकाना, आदि काम लेते थे। अग्नि की उपासना न केवल भारत में, अपितु ईरान में भी जागृत रही है। वैदिक काल में अग्नि ने देवताओं और मानवों के बीच मध्यस्थ का काम किया है। समझा जाता था कि अग्नि में डाली जाने वाली आहूतियां धुआ बनाकर आकाश में जाती है और अतः देवताओं को मिल जाती है। तीसरा स्थान वरूण का है जो जल या समुद्र का देवता माना गया है। उसे ऋत अर्थात प्राकृतिक सन्तुलन का रक्षक कहा गया है और समझा जाता है कि जगत में जो भी घटना होती हैवह उसी की इच्छा का परिणाम है। सोम वनस्पतियों का अधिपति माना गया है। और एक मादक रस का नाम उसी के नाम पर पड़ा है। ऋग्वेद के बहुत से सुक्तों में एक प्रकार के पौधे से, जिसकी पहचान अभी तक नही हो पाई है, सोमरस बनाने की विधि बताई गई है। मरूत आँधी के देवता है। इस प्रकार हमें इसमें ऐसे बहुत सारे देवताओं के दर्शन होते हैं जो किसी न किसी रूप में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतिरूप है। और साथ ही मानवोचित व्यवहार भी करते है। देवताओं में कुछ देवियां भी है जैसे अदिति और उषा जो प्रभात समय के प्रतिरूप है। किन्तु ऋग्वेद काल में देवियों की प्रमुखता नही थी। उस काल में पितृतन्त्रात्मक समाज में देवों का बोलबाला देवियों से कही अधिक था। देवताओं की उपासना की मुख्य रीति थी स्तुति पाठ करना और यज्ञ बलि (चढ़ावा) अर्पित करना। ऋग्वैदिक काल में स्तुति पाठ कर अधिक जोर था। स्तुतिपाठ सामूहिक भी होता था और अलग अलग भी। सामान्यतः हर कबीले या गौत्र का अपना अलग अलग देवता होता था। लगता है कि स्तुतिपाठ कबीले या गौत्र भर के लोग समवेत स्वर में करते थे। यज्ञाहुतियों में भी यह बात होती है थी कि इन्द्र और अग्नि समस्त जन द्वारा दी गई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बलि ग्रहण करने के लिए आहूत होते थे। बलि या यज्ञाहुति में शाक, जौ आदि वस्तुएँ दी जाती थी। परन्तु ऋग्वैदिक काल में ये वस्तुऐं चढ़ाते समय कोई आनुष्ठानिक या याज्ञिक मन्त्र नहीं पढ़े जाते थे। उन दिनों शब्द में किसी जादुई असर का होना उतना नही माना जाता था जितना उत्तर वैदिक कालों में माना जाने लगा।।

## 5.9 सारांश

ऋग्वैदिक काल के लोग देवाराधना क्यों करते थे ? वे लोग आध्यात्मिक उत्थान या जन्म मृत्यु के कष्टों से मुक्ति के लिए ऐसा नही करते थे। वे अपने देवताओं से सन्तति, पशु, धन, धान्य आरोग्य आदि पाने की कामना से उनकी उपासना करते थे।

## 5.10 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें।

(i) मण्डल, (ii) दास, (iii) दस्यु, (iv) पन्चजन, (v) जन, (vi) गविष्ठि, (vii) राजन, (viii) सभा, (ix) समिति, (x) ग्रामणी, (xi) विश, (xii) पितृतन्त्रात्मक

प्रश्न 2. ऋग्वैदिक लोगों के भौतिक जीवन का चित्रण करें क्या उन लोगों को कृषक जन कहना ठीक होगा? विवेचन करें।

प्रश्न 3. ऋग्वैदिक युग की राजनैतिक पद्धति का वर्णन करें। उसके जनजातीय स्वरूप का निरूपण करें।

प्रश्न 4. ऋग्वैदिक लोग किन किन देवों को और क्यों पूजते थे ? उनकी उपासना विधि का वर्णन करें।

प्रश्न 5. ऋग्वैदिक लोगों के सामाजिक संघटन और पारिवारिक व्यवस्था का वर्णन करें।

प्रश्न 6. इस अध्याय में जिन लोगों का विवेचन हुआ है वे ऋग्वैदिक लोग क्यों कहलाते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–6 : उत्तरवैदिक अवस्था : राज्य और वर्ण व्यवस्था की ओर उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई.पू.) में विस्तार

**संरचना**


6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 उत्तर-वैदिक काल

6.3 राजनीतिक संगठन

6.4 सामाजिक संगठन

6.5 देवता अनुष्ठान और दर्शन

6.6 सारांश

6.7 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 6.0 प्रस्तावना

उत्तरवैदिक काल का इतिहास मुख्यतः उन वैदिक ग्रन्थों पर आधारित है, जिनकी रचना ऋग्वैदिक काल के बाद हुई। वैदिक सूक्तों या मंत्रों के संग्रह को संहिता कहते है। ऋग्वेद संहिता सबसे पुराना वैदिक ग्रन्थ है। इसी के आधार पर हमने आरम्भिक वैदिक युग का वर्णन किया है। गाने के लिए ऋग्वैदिक सूक्तों को चुनकर धुन में बांधा गया, और इस पुनर्विन्यस्त संकलन का नाम सामवेदसंहिता पड़ा। ऋग्वेदात्तर काल में सामवेद के अतिरिक्त और दो संकलन तैयार किए गए। वे है यजुर्वेद संहिता ओर अथर्ववेद संहिता। यजुर्वेद में केवल ऋचाऐं ही नही, उन्हे गाते समय किए जाने वाले अनुष्ठान भी दिये गये हैं। इन अनुष्ठानों से उस सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति का परिचय मिलता है। जिस परिस्थिति में इन अनुष्ठानों का उद्भव हुआ। अथर्ववेद में विपत्तियों ओर व्याधियों के निवारण के लिए तन्त्र मंत्र संगृहीत है। इसमें आई वस्तुओं से आर्येत्तर लोगों के विश्वासों और रूढ़ियों का पता लगता है। वैदिक संहिताओं के बाद एक विशेष प्रकार केकई ग्रन्थ लिखे गए जिन्हे ब्राह्मण कहते हैं। इनमें वैदिक अनुष्ठान की विधियां संग्रहित है। और उन अनुष्ठानों की सामाजिक एवं धार्मिक व्याख्या भी की गई हैं। ये सभी उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थ लगभग 1000–600 ई. पूर्व में उत्तरी गंगा मैदान में रचे गये। उत्खनन और अनुसंधान के फलस्वरूप, इसी काल ओर इसी क्षेत्र में लगभग 700 स्थल प्रकाश में आए हैं, जहां सबसे पहले बस्तियां हुई थी। इन्हे चित्रित धूसर मृदभांड (पी.जी.डबल्यू) स्थल कहते हैं। क्योंकि यहां के निवासी मिट्टी के चित्रित और भूरे रंग के कटोरों और थालियों का प्रयोग करते थे। वे लोहे के हथियारों का भी प्रयोग करते थे। उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थ और चित्रित धूसर मृदभंड लौह अवस्था के पुरातत्व इन दोनो के संयुक्त साक्ष्य के आधार पर हमें यह आभास मिलता है कि ईसापूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चिमी उतर प्रदेश में और पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान के संलग्न क्षेत्रों में बसने वाले लोगो का जीवन कैसा था।

उक्त ग्रन्थों से प्रकट होता है कि पंजाब से आर्यजन गंगा यमुना दो आब के अन्तर्गत सम्पूर्ण पश्चिमी उत्तर प्रदेश में फैल गए थे। दो प्रमुख कबीले भारत और पुरू एक होकर कुरू नाम से विदित हुए। आरम्भ में वे लोग उक्त दो आब के ठीक छोर पर सरस्वती और दृषद्वती नदियो के प्रदेश में बसे। शीघ्र ही कुरूओं ने दिल्ली और दो आब के ऊपरी भाग पर अधिकार कर लिया, जो कुरू क्षेत्र के नाम से प्रसिद्व हुआ, धीरे धीरे वे पंचालों से मिल गए जो दोआब के मध्य भाग पर अधिकार किए हुए थे। इस प्रकार कुरू पंचालों की सत्ता दिल्ली पर और दो आब के उत्तरी और मध्य भागों पर फैल गई। तब उन्होने हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाया जो मेरठ जिले में पड़ता है। कुरू कुल का इतिहास भारत युद्ध या महाभारत नाम का विख्यात महाकाव्य है। यह भारत युद्ध माना जाता है कि 950 ई.पू. के आस पास कौरवों और पाण्डवों के बीच हुआ थाा। हालांकी ये दोनो कुरूकुल ही थे। इस यद्ध के फलस्वरूप वस्तुतः सारे कुरूवंशियों का नाश हो गया।

## 6.1 उद्देश्य

यहाँ उत्तर-वैदिक व्यवस्था का अध्ययन करें।

## 6.2 उत्तर-वैदिक काल

हस्तिनापुर में किए गए उत्खननों से, जिनकी तिथि 900 ई. पूर्व से 500 ई. पूर्व की अवधि आंकी जा सकती है, कई बस्तियों का और नगर जीवन के धुंधले आरम्भ का पता चला है। किन्तु महाभारत में हस्तिनापुर का जो वर्णन है। उससे इसका कोई भी मेल नही है। क्योंकि इस महाकाव्य की रचना बहुत बाद में ईसा की चौथी सदी के आसपास हुई है। जब भौतिक जीवन में बहुत उन्नति हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में लोग पकाई हुई ईंट का प्रयोग शायद ही जानते थे। हस्तिानापुर की खुदाई मे जो कच्ची संरचनाऐं मिली है वे न भव्य ही कही जा सकती है न टिकाऊ ही। प्राचीन कथाओं के अनुसार हम जानते है कि हस्तिनापुर बाढ़ में बह गया और कुरूवंश में जो जीवित रहे वे इलाहबाद के पास कौशाम्बी में जाकर बस गये। आज के बरेली, बदायूं ओर फर्रूखाबाद जिलों में फैला पंचाल राज्य अपने दार्शनिक राजाओं और तत्वज्ञानी ब्राह्मणों को लेकर विख्यात था। बैल हल में जोते जाने की चर्चा है। इसमें कुछ अत्युक्ति हो सकती है। जुताई लकड़ी के फाल वाले हल से होती थी। जिससे ऊपरी गंगा मैदानों की हल्की मिट्टी में संभवतः काम लिया जा सकता था। यज्ञों में पशुबलि के प्रचलन के कारण बैल पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं रहे होंगे। इसलिए खेती आरम्भिक अवस्था में थी, किन्तु इसके व्यापक प्रचलन में संदेह नही है। शतपथ ब्राह्मण में हल सम्बन्धी अनुष्ठान का लम्बा वर्णन आया है। कहा गया है कि सीता के पिता और विदेह के राजा और राजकुमार भी शारीरिक श्रम करने में हिचकिचता नही था।

उत्तर वैदिक काल का अन्त होते होते 600 ई.पू. के आस पास वैदिक जन दो आब से पूर्व की ओर पूर्वी उतरप्रदेश के कोसल ओर उत्तरी बिहार के विदेह में फैले। यद्यपि कौसल राम की कथा से जुड़ा है। फिर भी वैदिक साहित्य में इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। इन वैदिक लोगों को पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार में ऐसे लोगों का सामना करना पड़ा जो तांबे के औजारों और काले और लाल रंग के मृदभांडों का प्रयोग करते थे। पश्चिमी उतर प्रदेश में इनका सामना सामान्यतः उन लोगों से हुआ जो ताबें के औजारों और गेरूवे या लाल रंग के मृदभांडों का प्रयोग करते थे। उन्हे संभवतः ऐसे लोगों की बस्तियां जहां तहां मिली जो काले और लाल मृदभांडों का प्रयोग करते थे। कहा जाता है कि कुछ स्थानों पर उनका मुकाबला उत्तर हड़प्पाई संस्कृति को अपनाने वाले लोगों से भी हुआ, परन्तु लगता है कि ये लोग एक मिश्रित सस्कृति वाले थे जिस सस्कृति को शुद्ध हड़प्पाई नही कह सकते है। उत्तर वैदिक लोगों के शत्रु चाहे जो भी रहे हो उनका किसी भी बड़े और संलग्न क्षेत्र पर जमाव नही था और उपरी गंगा मैदान में उनकी संख्य भी बहुत अधिक नही थीं विस्तार के दूसरे दौर में वैदिक लोग इसलिए सफल हुए कि उनके पास लोहे के हथियार और अश्वचालित रथ थे। लगभग 1000 ई.पू. से पाकिस्तान के गन्धार क्षेत्र में लोहे का प्रयोग होने लगा। मृतकों के साथ कब्रों में गाड़े गए लोहे के औजार भारी मात्रा में खुदाई से निकले है। ऐसे औजार बलूचिस्तान में भी मिले है। लगभग इसी काल में पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान में लोहे का प्रयोग पाया गया है। खुदाई से ज्ञात हुआ है कि तीर के नोक, बरछे के फाल आदि लोहास्त्रों का प्रयोग लगभग 800 ई.पू. से पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आम तौर से होने लगा था। लोहे के इन हथियारों से वैदिक लोगों ने ऊपरी दोआब में सामने आए अपने बचे खुचे शत्रुओं को परास्त कर दिया होगा। उत्तरी गंगा मैदानों के जंगलों को साफ करने में लोहे की कुल्हाडी से काम लिया गया होगा, हालांकि वर्षा केवल 35 सेमी. से 65 सेमी. तक होने के कारण ये जंगल ज्यादा घने नही रहे होंगे। वैदिक काल के अंतिम दौर में लोहे का ज्ञान पूर्वी उत्तर प्रदेश और विदेह में फैल गया था। इन प्रदेशों में जो सबसे पुराने लोहास्त्र पाए गए है वे ईसापूर्व सातवीं सदी के हैं और उत्तर वैदिक ग्रन्थों में इस धातु को श्याम या कृष्ण आयस् कहा गया है।

यद्यपि लोहे के कृषि औजार बहुत ही कम पाए गए है, तथापि इनमें संदेह नही है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों की मुख्य आजिविका खेती हो चली थी। वैदिक ग्रन्थों में छह, आठ, बाहर और चौबीस तक बैल हल में जाते जाते थे। कृष्ण का भाई बलराम हलधर कहलाता था क्योंकि हल उसका हथियार था। उत्तर वैदिक काल में हल चलाना उच्च वर्णो के लिए वर्जित हो गया।

वैदिक काल में लोग जौ तो उपजाते ही रहे, पर इस काल में चावल और गेहूं उनकी मुख्य फसलें हो गई। बाद में चलकर गेंहूं पंजाब और पश्चिम उत्तर प्रदेश में मुख्य खाद्य हो गया। वैदिक लोगों का चावल से परिचय सबसे पहले दो आब में हुआ। वैदिक ग्रन्थों में इनका नाम व्रीही है और इसका अवशेष हस्तिनापुर में मिला है वह ईसापूर्व आठवीं सदी का है। अनुष्ठानों में चावल के प्रयोग का विधान है। पर गेहूं के प्रयोग का कदाचित ही। उत्तर वैदिक काल के लोग कई



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रकार के तिलहन भी पैदा करते थे।

उत्तर वैदिक काल में बहुत प्रकार की कलाओं और शिल्पों का उदय हुआ। हमें लुहारों और धातुकारों के बारे में जानकारी मिलती है। अवश्य ही वे लोग 1000 ई.पू. के आसपास से कुछ न कुछ लोगों का काम करते होंगें। 1000 ई.पू. से पूर्व काल के तांबे के बहुत सारे औजार जो पश्चिमी उत्तर प्रदेश ओर बिहार में मिले है उससे प्रकट होता है कि वैदिक और वैदिकेत्तर दोनो समाजों में ताम्र शिल्पी थे। वैदिक काल के लोग सम्भवतः राजस्थान की खेत्री की ताबें की खानों का उपयोग करते थे। जो भी हो, वैदिक काल के लोगें ने जिन धातुओं का प्रयोग किया उनमें तांबा पहला रहा होगा। तॉब की वस्तुएं चित्रित धूसर (मृदभांड) स्थलों में पाई गई है। इन वस्तुओं का उपयोग मुख्यतः लड़ाई और शिकार तथा आभूषण के रूप में भी किया जाता था। बुनाई केवल स्त्रियां करती थी, किन्तु यह काम बड़े पैमाने पर होता था। चमड़े, मिट्टी ओर लकड़ी के शिल्पों में भारी प्रगति हुई। उत्तर वैदिक काल के लोग चार प्रकार के मृदभांडों से परिचित थे। काला ओर लाल मृदभांड, काली पोत वाले मृदभांड, चित्रित धूसर मृदभांड और लाल मृदभांड। इनमें अंतिम प्रकार का मृदभांड उनके बीच सबसे अधिक प्रचलित था और लगभग समूचे पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाया गया है। लेकिन चित्रित धूसर मृदभांड इनमे सर्वोपरि वैशिष्टिय सूचक है। इनमें कटोरे और थालियां मिली है। जिनका व्यवहार शायद उदीयमान उच्च वर्षो के लोग धार्मिक अनुष्ठानों में या भोजन में या दोनो कामों में करते थे। चित्रित धूसर मृदभांड स्तरों में जो कांच की निधियाँ और चूंडियों मिली है, उनका उपयोग प्रतिष्ठावर्धक वस्तुओं के रूप में इने गिने लोग ही करते होंगे। कुल मिलाकर वैदिक ग्रन्थ और उत्खनन दोनो से शिल्प वस्तुओं के विशेषीकृत उत्पादन का संकेत मिलता है। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में स्वर्णकारों या आभूषण निर्माताओं का भी उल्लेख है, जो सम्भवतः समाज के सम्पन्न वर्ग की आवयकता की पूर्ति करते होंगे।

खेती और विविध शिल्पों की बदौलत अब उत्तर वैदिक काल के लोग स्थायी जीवन अपनाने में समर्थ हो गए। उत्खननों और अनुसंधानों से हमें कुछ आभास मिलता है कि उत्तर वैदिक काल की बस्तियां कैसी थी। चित्रित धूसर मृदभांड स्थल न केवल कुरूपंचाल क्षेत्र अर्थात पंजाब ओर हरियाणा के संलग्न भागों में और मतस्य क्षेत्र अर्थात राजस्थान के संलग्न भागों में भी मिले है। इन स्थलों की संख्या कुल मिलाकर 700 के करीब हो सकती है जो अधिकतर ऊपरी गंगा घाटी में पड़ते हैं। इनमें इने गिने स्थलों का ही उत्खनन हो पाया है, जैसे हस्तिनापुर, अंतरंजीखेड़ा, जोखेडा और नोह। चूंकि निवास के भौतिक अवशेषों का जमाव एक मीटर से तीन मीटर तक होता है, इसलिए मालूम पड़ता है कि ये बस्तियां एक से तीन सदियों तक टिकी होगी। अधिकतर स्थल पूर्णतः नए वास के थे, जहां ठीक पहले कोई नही बसे थे, लोग कच्ची इंटों के घरों में या खम्भों पर टिके नरकुल और मिट्टी के घरों में रहते थे।

संरचनाऐं तो निम्न कोटी की है फिर भी स्थलों में पाए गए चूल्हों और अनाजों (धान) से प्रकट होता है कि चित्रित धूसर मृदभांड काल के लोग, जो और कोई नही उत्तर वैदिक लोग ही है, कृषि जीवी और स्थिरवासी थे। लेकिन चूंकि किसान लोग काठ के फल वाले हल से खेती करते थे इसलिए वे इतना अन्न नही उपजा सकते थे कि वे खेती से भिन्न व्यवसायों मे लगे लोगों की भी आवश्यकता पूरी कर सकें। अतः किसान लोग नगरों के उदय में हाथ नही बंटा सकें।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में नगर शब्द आया तो है, पर उत्तर वैदिक काल के अंतिम दौर में आकर हम नगरों के आरम्भ का मद आभास ही पाते है। हस्तिनापुर और कौशाम्बी (इलाहाबाद के पास) तो वैदिक काल के अंत के महज भ्रूणावस्था वाले नगर ही है। इन्हे आद्य नगरीय स्थल (प्रोटोअर्बन साईट) ही कहा जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों में समुद्र और समुद्र यात्रा की भी चर्चा है। इससे किसी न किसी तरह के वाणिज्य का संकेत मिलता है, जिसे नई नई कलाओं ओर शिल्पों के उदय से बल मिला होगा।

कुल मिलाकर उत्तर वैदिक अवस्था में लोगों के भौतिक जीवन में भारी उन्नति हुई। पशुचारी और यायावरी जीवन प्रणाली अतीत की वस्तु हो गई, खेती जीविका का मुख्य साधन हो गई और जीवन स्थायी तथा खूंटे में बंधा जैसा हो गया। विविध शिल्पों ओर कलाओं से समन्वित हो अब वैदिक लोग ऊपरी गंगा के मैदानों में स्थिर रूप से बस गये। मैदानों में बसने वाले किसान अपने निर्वाह के लिए तो काफी अनाज पैदा कर ही लेते थे, अपनी उपज का कुछ हिस्सा अपने मुखियों, राजाओं ओर पुरोहितों के निर्वाह के लिए भी बचा लेते थे।

## 6.3 राजनीतिक संगठन

उत्तर वैदिक काल में जनता की सभा समितियों में दिन लद गए और उनकी जगह पर राजकीय प्रभुत्व आ जमे। विष का तो नामोनिशान नहीं रहा। सभा और समिति अपनी जगह जमी तो रही, पर उनका रंग ढंग बदल गया। उनमे



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजाओं और सभ्यों (अमीरों) का बोल बाला हो गया। अब सभा में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध हो गया, और सभ्यों तथा ब्राहमणों का प्राबल्य हो गया।

राज्यों की आकार वृद्धि से मुखिया या राजा अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। सता धीरे धीरे प्रजाश्रित से प्रदेशाश्रित होती गई। राजा कबीलों पर शासन करते थे, पर उनके प्रमुख कबीले उनके राज्य के प्रदेश से अभिन्न समझे जाने लगे, भले ही उस प्रदेश के भीतर उनके अपने कबीलों से भिन्न लोग ही बसते हों। आरम्भ में हर प्रदेश वहां आकर सबसे पहले बसने वाले कबीले के नाम से प्रसिद्व हुआ और बाद में चलकर वह नाम उस प्रदेश का हो गया उदाहरणार्थ पहले पंचाल एक जन या कबीले का नाम था जो बाद में एक प्रदेश विशेष का नाम हो गया। राष्ट्र शब्द जिसका अर्थ प्रदेश या राज्य क्षेत्र होता है, पहले पहल इसी समय से मिलने लगा है।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में सकेत मिलता है कि मुखिया या राजा का निर्वाचन होता था जो शारीरिक और अन्य गुणों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था वही राजा चुना जाता था। वह अपने सामान्य कुलजनों या प्रजाजनों से जो विश कहलाते थे, स्वेच्छा से दी गई भेंट प्राप्त करता था, जो बलि अर्थात चढ़ावा कहलाती थी। परन्तु राजा ने भेंट प्राप्त करने के इस अधिकार को और अपने पद की अन्य सुविधाओं को हमेशा कायम रखने के उद्देश्य से राजा के पद को आनुवांशिक (बपौती) बना लिया इस प्रकार राजा का पद सामान्यता उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिलने लगा। लेकिन उत्तराधिकार का यह क्रम हमेशा निर्विघ्न रूप से नही चला। महाभारत में कहा गया कि युधिष्ठिर के छोटे भाई दुर्योध्न ने उनके राज्य का अपहरण कर लिया। राजय के खातिर पांडवों और कौरवों के कुल का ही विनाश हो गया। इस युद्ध से स्पष्ट हो जाता है कि सता के आगे स्वजन कुछ नही है। कर्मकांड के विधानों से राजा और भी प्रभावशाली बना दिया गया। राजा राजसुय यज्ञ करता था जिससे वह समझा जाता था कि उसे दिव्य शक्ति मिल गई है। वह अश्वमेघ यज्ञ करता था जिससे समझा जाता था कि वह राजा का एकछत्र राज्य हो गया है। वह वाजयेब यज्ञ (रथदौड़) भी करता था, जिसमें राजा का रथ अन्य सभी बन्धुओं के रथों से आगे निकलता था। इन सारे अनुष्ठानों से प्रजा के चित पर राजा की बढ़ती हुई शक्ति और महिमा की गहरी छाप पड़ती थी।

इस काल में कर और नजराना (ट्रिब्यूट) का संग्रह प्रचलित हो गया प्रतीत होता है। इसके संग्रह और संचय के लिए एक अधिकारी रहता था। जो संगृहित्री कहलाता था। रामायण और महाभारत से ज्ञात होता है कि बड़े बड़े यज्ञों के अवसर पर राजा भारी मात्रा में दान और उपहार बांटता था और हर वर्ग के लोगों को उत्कृष्ट भोजन करातास था। राजा अपने कर्तव्यों के सम्पादन में पुरोति, सेनानति, पटरानी और कई अन्य उच्च कोटी के अधिकारियों की सहायता लेता था। निम्न स्तर में, प्रशासन का भार सम्भवतः ग्राम सभाओं का नियन्त्रण रहता था। ये सभाऐं स्थानीय वाद विवादों का फैसला भी करती थी। लेकिन उत्तर वैदिक काल में भी राजा कोई स्थायी सेना नही रखता था। युद्ध के समय कबीले के जवानों के दल भरती कर लिये जाते थे और कर्मकांड के एक अनुष्ठान के अनुसार, युद्ध में विजय पने की कामना से राजा को एक ही थाली में अपनी प्रजाओं (विश) के साथ खाना पड़ता था।

## 6.4 सामाजिक संगठन

उत्तर वैदिक काल का समाज चार वर्णो में विभक्त था – ब्राहमण, राजन्य या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यज्ञ का अनुष्ठान अत्यधिक बढ़ गया था जिससे ब्राहमणों की शक्ति में अपार वृद्वि हुई। आरम्भ में छह प्रकार के पुरोहितोंमें केवल एक ब्राहमण होते थे किन्तु धीरे धीरे ब्राहमण अन्य द्विवजों को दबाते गये ओर स्वयं उत्तर वर्ण बन गए। पुरोहिता वर्ग की यह प्रमुखता एक विलक्षण बात है जो भारत से बाहर के आर्यो के समाजों में नही पाई जाती है। लगता है कि ब्राहमण वर्ण की स्थापना में आर्येतर तत्वों का हाथ रहा होगा। ब्राहमण लोग अपने यजमानों के लिए और अपने लिए भी धार्मिक अनुष्ठान और यज्ञ करते थे। और कृषि कार्यो से जुड़े पर्वों या त्यौहारों में यजमानों का प्रतिनिधित्व करते थे। वे युद्ध में राजा की जीत के लिए देवाराधना करते थे ओर उसके प्रतिफल में राजा से अमयदान की प्रतिश्रुति पाते थे। कभी कभी ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता जताने के लिए राजन्यों से भिड़ जाते थे, जिनमें राजा के बान्धव भी होते और क्षत्रिय वर्ग के नेता भी। लेकिन निचले दो वर्गो से सामना होने की स्थिति में ऊपर के ये दोनों वर्ग तुरन्त आपसी झगड़ा भूल जाते। उत्तर वैदिक काल के अन्त में इस बात पर बल दिया जाता रहा है कि ब्राहमणों ओर क्षत्रियों के बीच परस्पर सहयोग रहना चाहिए। ताकि समाज के शेष भाग पर उन दोनो का प्रभुत्व बना रहे। वैश्य राजाओं के परिजन होते हुए भी जनसामान्य की कोटि में स्थापित हुए, और उन्हे उत्पादन सम्बन्धी काम सौंपा गया, जैसे कृषि पशुपालन आदि। उनमें कुछ लोग पंसारी या शिल्पी का काम भी करते थे। वैदिक काल का अन्त होते होते वे व्यापार को अपनाने लगे। लगता है, उत्तर वैदिक काल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में केवल वैश्य ही राजस्व चुकाते थे। ब्राहमण और क्षत्रिय दोनो वैश्यों से वसूले गऐ राजस्व पर ही जीते थे। आम कबायली लोगों को वश में लाकर उन्हे करदाता बनाने में प्राय लम्बी प्रक्रिया और अवधि लगी होगी। ऐसे कई अनुष्ठान ज्ञात है जो दुर्दम लोगो को (विश या वैश्यों का) राजा के और उनके बन्धुओं (राजन्या) के वश में लाने की कामना से किए जाते थे। यह अनुष्ठान उन्ही पुरोहितों के द्वारा कराया जाता था जो स्वयं प्रजा या वैश्यों को खसोट कर मोटे हुए थे। ऊपर के तीन वर्णो की सामान्य विशेषता यह थी कि वे उपनयन संस्कार के अधिकारी थे अर्थात वे वैदिक मन्त्रो के साथ जनेऊ धारण का अनुष्ठान करा सकते थे। चौथा वर्ण उपनयन संस्कार का अधिकारी नही था और यही से शूद्रों को अपात्र या अधिकारहीन बनाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

राजा, जो राजन्यों या क्षत्रियों का अगुआ था, अन्य तीनों वर्णो पर अपना प्रभुत्व जमाए रहने की चेष्टा करता रहा। उत्तर वैदिक काल के अन्त भाग में लिखे गये एक वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय ब्राहमण में राजा के लिए कहा गया कि ब्राह्मण जीविका चाहने वाला और दान लेने वाला है। लेकिन राजा जभी चाहे उसे हटा सकता है। वैश्य के बारे में कहा गया है कि राजस्व का देनदार है राजा जब चाहे उसका दमन कर सकता है। सबसे निम्न स्थान शुद्रों को मिला है। वह अन्य तीनों वर्णो का सेवक है, उन्ही की इच्छा के अनुसार काम करने वाला है और वे जब चाहे उसे पीट सकते है।

सामान्यतः उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थो में तीन उच्च वर्णो और शूद्रों के बीच विभाजक रेखा देखने को मिलती है। फिर भी राज्याभिषेक के अंगभूत ऐसे कई सार्वजनिक अनुष्ठान होते थे जिनमें शूद्र, शायद मूल आर्य जातीय कबीलों के बचे हुए सदस्यों की हैसियत से, भाग लेते थे। शिल्पियों में रथकार आदि जैसे कुछ वर्गो का स्थान ऊँचा था और उन्हे यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार दिखाई देता है कि उत्तर वैदिक काल में भी वर्ण भेद अधिक प्रखर नही हुआ था।

परिवार स्तर पर , हम देखते है कि पिता का अधिकार बढ़ता गया है। वह अपने पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता है। राजपरिवार में ज्येष्ठाधिकार का प्रचलन प्रबल होता गया। पूर्व पुरूषों की पूजा होने लगी। स्त्रियों का दर्जा सामान्यतः यद्यपि कुछ महिलाओं ने शास्त्रार्थो में भाग लिया ओर कुछ रानियाँ पति के राज्याभिषेक अनुष्ठानों में साथ रही पर सामान्यतः स्त्रियों का स्थान पुरूषों के नीचे और अधीनस्थ माना जाने लगा।

उत्तर वैदिक काल मे गोत्र प्रथा स्थापित हुई। गौत्र शब्द का मूल अर्थ है गोष्ठ या वह स्थान जहां समूह कुल का गोधन पाला जाता था, परन्तु बाद में इसका अर्थ एक ही मूल पुरूष से उत्पन्न लोगों का समुदाय हो गया। फिर गोत्र बकहिर्विवाह की प्रथा चल पड़ी। तदनुसार एक ही गौत्र या मूल पुरुष वाले लोगों के बीच आपस में विवाह निषिदध हो गया।

वैदिक काल में आश्रम अर्थात जीवन के चार प्रक्रम सुप्रतिष्ठित नही हुए थे। वैदिकोतर काल के ग्रन्थों में हमें चार आश्रम स्पष्ट दिखाई देते है। ब्रह्मचर्य या छात्रावस्था ग्रहस्थ या गृहस्थावस्था, वानप्रस्थ या वनवासावस्था और सन्यास सा सांसारिक जीवन से विरत होकर रहने की अवस्था। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में आदि से केवल तीन आश्रमों का उल्लेख है। अंतिम या चतुर्थ आश्रम उत्तर वैदिक काल में सुप्रतिष्ठित नही हुआ था, हालाँकि सन्यास अज्ञात नही था। वैदिकोतर काल में भी केवल ग्रहस्थ आश्रम सभी वर्णो में सामान्यतः प्रचलित था।

## 6.5 देवता अनुष्ठान, और दर्शन

उत्तर वैदिक काल में उत्तरी दो आब ब्राह्मणों के प्रभाव में आर्य संस्कृति का केन्द्र स्थल बन गया। लगता है सारा उत्तर वैदिक साहित्य कुरू पंचलों के इसी प्रदेश में विकसित हुआ। यज्ञ इस संस्कृति का मूल था और यज्ञ के साथ साथ अनेकानेक अनुष्ठान और मंत्रविधियां प्रचलित हुई।

ऋग्वेदकाल में देवताओं में दो सबसे बड़े देवता इन्द्र और अग्नि अब उतने प्रमुख नही रहे इनकी जगह उत्तर वैदिक देव मण्डल में सजन के देवता प्रजापति को सर्वोच्च स्थान मिलता। ऋग्वैदिक काल के कुछ अन्य गौण देवता भी प्रमुख हुए। पशुओं के देवता रूद्र ने उत्तर वैदिक काल में महत्ता पाई। विष्णु को वे लोग अपना पालक और रक्षम मानने लगे जो लोग ऋगवैदिक काल की अपनी अदर्ध यायावरी जिन्दगी को छोड़ स्थायी रूप में बस गए थे। इसके अलावा देवताओं के प्रतीक के रूप में कुछ वस्तुओं की भी पूजा प्रचलित हुई उत्तर वैदिक काल में मूर्ति पूजा के आरम्भ का कुछ आभाष मिलने लगता है। चूंकि समाज ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य ओर शूद्र इन चार वर्गो में विभक्त हो गया था, इसलिए कुछ वर्णो के कई अपने देवता भी हो गए। पूषन जो पशुओं की रक्षा करने वाला माना जाता था, शुद्रों का देवता हो गया। हालाँकि

ऋग्वेद युग में पशुपालन सारी आर्य जाति का मुख्य व्यवसाय था। देवताओं की आराधना के जो भौतिक उद्देश्य पूर्व में थे वे ही इस काल में भी रहे। लेकिन आराधना की रीति में महान अन्तर आया। स्तुति पाठ पहले की तरह चलते रहे, लेकिन वे देवताओं को प्रसन्न करने की प्रमुख रीति नही रहे, प्रत्युत यज्ञ करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया और यज्ञ के सावर्जनिक और घरेलू दोनों रूप प्रचलित हुए। सार्वजनिक यज्ञ राजा अपनी सारी प्रजा के साथ करता था और प्रजा में अक्सर एक ही कबीले के लोग होते। निजी यज्ञ अलग अलग व्यक्ति अपने अपने घर में करते थे, क्योंकि इस काल में वैदिक लोग स्थायी निवासों में रहते थे और उनके नियमित कुटुम्ब होते थे। घर का प्रत्येक व्यक्ति अग्नि में आहूति देता था। और ऐसा हरेक कर्म एक अनुष्ठान या यज्ञ के रूप धारण कर लेता था।

यज्ञ में बडे पैमाने पर पशुबलि दी जाती थी जिससे खास तौर से पशुधन का ह्वास होता गया। अतिथि गोधन अर्थात गोहन्ता कहलाते थे क्योंकि उन्हे गोमांस खिलाया जाता था।

यज्ञों में कर्म के साथ मंत्र पढ़े जाते थे यज्ञकर्ताओं को इन मंत्रों का उच्चारण बड़ी सतर्कता से करना होता था यज्ञ करने वाला यजमान कहलाता था और यज्ञ का फल बहुत कुछ इस पर निर्भर माना जाता था कि वह यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण कितनी शुद्धता से किया गया। वैदिक आर्यो में प्रचलित बहुत से अनुष्ठान भारत यूरोपीय आर्यो के सामान्य अनुष्ठान है, लेकिन कुछ भारत भूमि में विकसित प्रतीत होते है।

इन सारे मंत्रों और यज्ञों का सृजन अंगीकरण और विस्तारण पुरोहितों ने किया जो ब्राहमण कहलाये। ब्राहमण धर्मिक ज्ञान विज्ञान पर अपना एकाधिकार समझते थे। उन्होनें बहुत सारे अनुष्ठानों को चलाया, जिनमें कुछ आर्येत्तर लोगों से भी लिए। इतने सारे अनुष्ठानों को चलाने और उनको विस्तृत बनाने का क्या कारण रहा होगा। यहां तो पता नही चलता, लेकिन इन सम्भावनाओं से इंकार नही किया जा सकता है कि इसके पीछे धन लोलुपता की भावना रही होगी कहा गया है कि राजसूय यज्ञ कराने वाले पुरोहित को दक्षिणा में 240000 गायें मिलती थी।

यज्ञ की दक्षिणा में सामान्यता गायें तो दी ही जाती थी और साथ साथ सोना, कपड़ा और घोड़े भी दिये जाते थे। कभी कभी पुरोहित दक्षिणा में राज्य का कुछ भाग भी मांग लेते थे, किन्तु यज्ञ की दक्षिणा में भूमि का दिया जाना उत्तर वैदिक काल में प्रचलित नही हुआ। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि अवश्यमेघ यज्ञ में पुरोहितो को उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम चारों दिशाऐं दे देनी है। यदि वास्तव में ऐसा हो तो राजा के पास क्या बचा होगा ? अतः इसका अर्थ यही लगाया जा सकता है किपुरोहित जहां तक संभव हो अधिक से अधिक भूमि हड़पना चाहते थे। परन्तु यथार्थ में भूमि अधिक मात्रा में ब्राहमणें के हाथ नही गई होगी। एक जगह इस बात का भी उल्लेख है कि भूमि जब ब्राह्मण को दी जाने लगी तो उसने ब्राह्मण के हाथ जाना अस्वीकार कर दिया।

वैदिक काल के अंतिम दौर में, पुरोहितों के प्रभुत्व के विरूद्व तथा यज्ञों ओर कर्मकांडों के विरूद्व प्रबल प्रतिक्रिया शुरू हुई। यह प्रतिक्रया पंचालों, और विदेह के राज्य में विशेष कर हुई। जहां 600 ई. पूर्व के आसपास उपनिषदों का संकलन हुआ था। इन दार्शनिक ग्रन्थों में कर्मकांड की निन्दा की गई। और यथार्थ विश्वास एवं ज्ञान को महत्व दिया गया। उपनिषदों में कहा गया कि अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और ब्रहम के साथ आत्मा का सम्बन्ध ठीक से जानना चाहिए। तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं की तरह ब्रह्म को एक परम सत्ता के रूप में स्थापित किया गया। पंचाल और विदेह के कई क्षत्रिय राजाओं ने भी इस प्रकार के चिन्त को अपनाया और ब्राह्मण धर्म में सुधार लाने के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया गया। उनके उपदेशों से स्थायित्व और अखण्डता की भावना को बल मिला। आत्मा, अपरिवर्ती, अविनाशी और अमर है। इस बात पर बल देने से उस स्थायित्व की भावना को बल मिला जिसकी अत्यधि ाक आवश्यकता क्षत्रिय शासकों के अधीन उदीयमान राजसत्ता को थी। आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के बीच सम्बन्ध की भावना से प्रजा में राजा के प्रति भक्ति जगी।

## 6.6 सारांश

उत्तर वैदिक काल में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रदेशाश्रित राज्यों की शुरूआत हुई युद्ध केवल पशुओं को हथियाने के लिए नही बल्कि राज्यक्षेत्र पर कब्जा करने के लिए भी होने लगे। कौरवों और पाण्डवों के बीच हुआ प्रख्यात महाभारत युद्ध इसी काल का माना जाता है। आरम्भिक वैदिक काल का पुशचारण प्रधान समाज अब कृषि प्रधान हो गया। पूर्व के कबायली पशुचारक अब किसान बन गए और बार बार राजस्व या नजराना दे देकर अपने राजा का भरण पोषण करने में समर्थ हो गए। राजा कबायली किसानों के बूते पर समृद्ध होते गए और उन पुरोहितों को प्रचुर दान दक्षिण देते



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गए। जो वैश्य वर्ग अथवा आम जनता के विरूद्ध हमेशा अपने दाता का पक्ष लेते थे। शूद्र इस काल में भी एक छोटा सेवक वर्ग बना रहा। कबायली समाज टूट कर वर्णो में विभक्त नया समाज बन गया। किन्तु वर्णमूलक भेदभावों पर अत्यधिक बल नही दिया जा सका। ब्राह्मणों के सहयोग के बावजूद राजन्य या क्षत्रिय राजतन्त्र की स्थापना नही कर पाए थे। तब तक कोई राज्य कैसे चल सकता है जब तक कोई नियमित कर प्रणाली न हो, और वेतन भोगी सेना न हो, और सेना भी करों के भरोसे ही रखी जा सकती थी। परन्तु खेती के मौजूदा तरीके में तो पर्याप्त कर और राजस्व उगाहने की गुजाईश ही नहीं थी।

## 6.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1.निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें।

(i) अवश्मेघ (ii) वाजपेय (iii) संगृहित्री (iv) विश (v) उपनयन (vi) गौत्र (vii) आश्रम (viii) यज्ञ (ix) चित्रित (x) धूसर (xi) मृदभाण्ड

प्रश्न 2. 'उत्तर वैदिक अवस्था' से क्या अभिप्रेत है ? इस काल के अध्ययन के लिए प्रमुख स्त्रोत क्या – क्या है ?

प्रश्न 3. ऋग्वैदिक लोगों की अपेक्षा उत्तर वैदिक लोगों के भौतिक जीवन में क्या अन्तर था ? उदाहरण दें।

प्रश्न 4. उत्तर वैदिक काल की राजनैतिक पद्धति का वर्णन करें। इसमें ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा क्या अन्तर आया ?

प्रश्न 5. उत्तर वैदिक काल के सामाजिक संगठन का वर्णन करें।

प्रश्न 6. उत्तर वैदिक काल में आर्यजनों के प्रसार का विवरण प्रस्तुत करें।

प्रश्न 7. उत्तर वैदिक काल में धार्मिक विश्वासों और प्रयासों में क्या क्या परिवर्तन हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## संवर्ग-2 : मगध का उत्कर्ष

# इकाई—7 : महाजनपद युग एवं गणराज्य

**संरचना**


7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 महाजनपद युग

7.3 सोलह महाजनपद

7.4 अन्य जनपद

7.5 बुद्धकालीन गणराज्य

7.6 गणराज्यों का विधान एवं प्रशासन

- 7.6.1 केन्द्रीय प्रशासन
- 7.6.2 प्रांतीय प्रशासन
- 7.6.3 सभा (संस्था)
- 7.6.4 सभा की कार्यवाही
- 7.6.5 मंत्रिपरिषद् (कार्यकारिणी)
- 7.6.6 सार्वजनिक सभा
- 7.6.7 सात अपरिहानिय धम्म (नियम)

7.7 गणराज्यों के पतन के कारण

- 7.7.1 संघ भेद
- 7.7.2 लोकपरम्परा में राजतंत्र की दृढ़ता
- 7.7.3 राजतंत्रों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा
- 7.7.4 गणतंत्रों की विधानमूलक शिथिलताएँ

7.8 सारांश

7.9 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 7.0 प्रस्तावना

ऋग्वैदिक काल में आर्य अनेक जनों में विभक्त थे। ''जन'' अपने को किसी एक पूर्वज की संतान मानते थे। प्रत्येक जन में अनेक कुटुम्ब होते थे। अतः एक ही जाति के पुरूष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय का नाम जन था। ये वास्तव में 'जन राज्य' या जातीय राज्य थे। जिनका कोई निश्चित भौगोलिक आधार नही था। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते थे और उनकी पहचान का आधार जन विशेष ही था। ऋग्वेद में जनों का उल्लेख आता है, परन्तु ''जनपदों' (क्षेत्र विशेष से जुड़े स्थायी राज्यों) का नही।

लेकिन उत्तर वैदिक काल से राजनीतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भिन्न भिन्न भौगोलिक क्षेत्र जनों के बस जाने के कारण जनपद कहलाने लगे। अब जन या जाति (कबीला) के स्थान पर जनपद या प्रदेश का महत्व बढ़ा। राज्य की कल्पना जातीय के स्थान पर भौगोलिक हो गई। महात्मा बुद्ध के समय तक आते आते जनपदों का पूर्ण विकास हो चुका था। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार ''लगभग एक सहस्त्र ईस्वी पूर्व से पांच सौ ईस्वी पूर्वी तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का तांता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।

इस युग में बहुत से जनपदों का वर्णन मिलता है। इनके इतिहास को जानने से हमारे मुख्य आधार है – प्रारम्भिक बौद्व तथा जैन ग्रंथ, उत्तरवैदिक कालीन साहित्य, पुराण, रामायण, महाभारत आदि।

## 7.1 उद्देश्य

यहाँ हम महाजनपदों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

## 7.2 महाजनपद युग

जनपदों की स्थापना के साथ इनमें भू क्षेत्र के लिए संघर्षो की शुरूआत हुई जिसके परिणामस्वरूप निर्बल राज्य समाप्त हो गये और शक्तिशाली राज्यों में विलीन होते गये। अधिक शक्तिसम्पन्न और भोगौलिक दृष्टि से अधिक विस्तृत इन राज्यों को महाजनपदों की संज्ञा दी गई। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तरनिकाय में सोलह महाजनपदों की सूची दी गई है जो सर्वाधिक प्रमाणिक जान पड़ती है। इन महाजनपदों का समय बुद्ध के पहले का माना जाता है। स्वयं बुद्ध के समय में इनमें से कई अपनी स्वतन्त्रता खोकर अन्य शक्तिशाली जनपदों मे विलीन हो गये थे, कुछ नये राज्य स्थापित हो गये थे और कुछ का स्वरूप परिवर्तित हो चुका था। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर महाजनपदों का काल आठवीं सातवीं शताब्दी ई.पू. से छठी शताब्दी ई.पू. के पूर्वार्द्ध तक माना जा सकता है।

## 7.3 सोलह महाजनपद

अंगुत्तर निकाय में दी गई सूची के अनुसार ये सोलह महाजनपद इस प्रकार है–

**1. अंग :** यह जनपद बिहार के उत्तरी पूर्वी भाग में स्थित था। इसमें बिहार के वर्तमान भागलपुर और मुंगेर जिले शामिल है। यह मगध के पूर्व में था, दोनो जनपदों के मध्य चम्पा नदी बहती थी। अंग जनपद की राजधानी का नाम भी चंपा था। बुद्धकालीन छः बड़े नगरों में चंपा नगरी का नाम है। प्रारम्भ में अंग प्रदेश एक शक्तिशाली जनपद था। बाद में जब मगध राज्य की शक्ति बढ़ी, अंग उसी में विलीन हो गया।

**2. मगध** :– दक्षिण बिहार या गंगा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। वर्तमान बिहार के पटना और गया जिले इस राज्य के अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी गिरीव्रज या राजगृह थी। यह अपने वैभव के लिए प्रसिद्व थी। पहले यहां बार्हद्रथ बंश का राज्य था। इस वंश में बृहद्रथ और उसका पुत्र जरासन्ध दो प्रसिद्व राजा हुए। प्रारम्भ में यह एक छोटा राज्य था पर इसकी शक्ति में निरन्तर विकास होता गया। बुद्ध के काल में यह चार शक्तिशाली राजतंत्रों में एक था।

**3. काशी** :– यह जनप्रद उतरप्रदेश के दक्षिण पूर्व में था। इसकी राजधानी काशी या वाराणसी थी, जो अपने ज्ञान, शिल्प और व्यापार व समृद्दि के लिए प्रसिद्ध थी। काशी राज्य इस समय शक्तिशाली राज्य था। इसका कोसल राज्य से संघर्ष थां। पहले इसने कोसल राज्य को दबाया, लेकिन बाद में यह उसी में विलीन हो गया।

**4. वज्जि** :– यह आठ राज्यों का गणतन्त्रात्मक संघ था। इन राज्या में लिच्छवि, विदेह और ज्ञात्रिक विशेष महत्वपूर्ण थे। विदेह की राजधानी मिथिला, लिच्छवियों की राजधानी वैशाली और ज्ञात्रिकों की राजधानी कुंडग्राम थी। ये सारे राज्य आधुनिक बिहार राज्य में स्थित थे। महात्मा बुद्ध के समय तक वज्जिसंघ एक शक्तिशाली गणराज्य था। बाद में मगध के राजा अजातशत्रु ने इसे अपने राज्य में मिला लिया।

**5. मल्ल** :–वज्जि संघ की भांति मल्ल राज्य भी एक गणतन्त्रात्मक संघ था। वज्जि जनपद के उतर पश्चिम में हिमायल की तराई (आधुनिक देवरिया एवं गोरखपुर) में मल्ल जनपद था। इस संघ राज्य में मल्लों की दो शाखायें सम्मिलित थी। एक कुशीनारा (वर्तमान कुशीनगर, देवरिया जिला उतरप्रदेश) की मल्ल शाखा एवं दूसरी पावा (आधुनिक पड़रौना, देवरिया जिला, उतरप्रदेश) ने इसे अपने राज्य में मिला लिया।

**6. चेदि** :–आधुनिक बुंदेलखण्ड तथा उसका समीपवर्ती प्रदेश इसके अन्तर्गत था। इसकी राजधानी शुक्तिमती (पालि में सोत्थिवती) थी। चेदि लोगों का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। महाभारत में यहां के राजा शिशुपाल का भी उल्लेख है।

**7. वत्स** :–गंगा नदी के दक्षिण की ओर का वह प्रदेश जो जमुना नदी के तट पर स्थित था, वत्स राज्य के अन्तर्गत आता था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो इलाहाबाद से 30 किलोमीटर दूरी पर है। कौशाम्बी के उत्खनन से महत्वपूर्ण पुरावशेष प्राप्त हुए है। पुराणों में भी वत्स राज्य का वर्णन मिलता है। बुद्ध के काल में यहां का राजा उदयन था और वत्स का राज्य चार प्रमुख राजतन्त्रों में से एक था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**8. कुरू** :— कुरू राज्य के अन्तर्गत वर्तमान दिल्ली तथा मेरठ के आसपास का क्षेत्र था। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली के निकट इन्द्रपत गांव) हस्तिनापुर इस राज्य का एक अन्य प्रसिद्व नगर था और महाभारत काल का हस्तिनापुर संभवतः यही था। बुद्ध के समय तक कुरू राज्य का प्राचीन गौरव अस्त हो चुका था परन्तु यह अपने आचार और शील के लिए प्रसिद्ध था।

**9. पांचाल** :— पांचाल जनपद के अन्तर्गत वर्तमान रोहिलखण्ड तथा इसके समीपवर्ती फर्रूखाबाद, बदायूँ तथा बरेली जिले के समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित थे। पंचाल देश दो भागों में विभक्त था — उत्तरी पंचाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी ओर दक्षिणी पंचाल जिला राजधानी काम्पिल्य थी।

**10. मतस्य** :— मतस्य देश का विस्तार राजस्थान के जयपुर, अलवर एवं भरतपुर के क्षेत्रों में था। इसकी राजधानी विराटनगर (आधुनिक बैराठ) थी। महाभारत के अनुसार पाण्डवों ने अज्ञातवास का समय यहीं पर व्यतीत किया था।

**11. शूरसेन** :— वर्तमान बृजमण्डल का क्षेत्र इस जनपद के अन्तर्गत आता था और मथुरा इसकी राजधानी थी। महाभारत के समय इस नगर की विशेष महत्ता थी और यहां यादववंशी राजाओं का शासन था। यहां पर पहले यदुवंशी अंध ाक—वृष्णियों का गणराज्य था, परन्तु बुद्व के समय यहां राजतंत्र की स्थापना हो गई थी।

**12. अस्सक (अश्मक)** :— दक्षिण भारत की नदी गोदावरी के तटवर्ती प्रदेश पर अस्सक का अश्मक जनपद स्थित था। इसकी राजधानी पौदन्य (वर्तमान पौतन या पोटिल) थी।

**13. अवन्ति** :— यह जनपद वर्तमान मावा के क्षेत्र में स्थित था। इसकी मुख्य राजधानी उज्जयिनी नगरी (वर्तमान उज्जैन) थी। इसके दक्षिण भाग की राजधानी महष्मिती (आधुनिक मान्धाता) थी। प्राचीनकाल में यहां हैहय, इसके पूर्व इक्ष्वाकु वंश ने राज्य किया था। बुद्ध के समय अवन्ति राज्य अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। और चार प्रमुख महाजनपदों में से एक था। इस समय यहां प्रद्योत वंश राज्य करता था। चण्डप्रद्योत इस वंश का प्रसिद्ध राजा था जिसने वत्सराजा उदयन को बंदी बनाया था।

**14. गन्धार** :—इस जनपद के अन्तर्गत अफगानिस्तान का पूर्वी भाग, कश्मीर घाटी का क्षैत्र, तक्षशिला सहित पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रदेश सम्मिलित था। तक्षशिला इस राज्य की राजधानी थीं

**15. कम्बोज** :—गंधार और कम्बोज दोनो नाम प्रायः साथ साथ मिलते है। कम्बोज गंधार का पड़ौसी राज्य था और गंधार का उत्तर पश्चिमी क्षेत्र इसके अन्तर्गत आता है। इसकी राजधानी राजपुर थी। इसकी दूसरी मुख्य नगरी द्वारका थी।

## 7.4 अन्य जनपद

उपयुक्त सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त देश में अन्य कई छोटे छोटे जनपद थे। ये सम्भवतः अपने आसपास के महाजनपदों के प्रभाव में थे या उनकी अधीनता स्वीकार करते थे ऐसे जनपदों के नाम है :— यौधेय, मद्रक, त्रिगर्त, केकय (पंजाब में), सिन्धु, सौवीर, शिवि, अम्बष्ठ (सिन्धुप्रदेश में) शाक्त जनपद (कोसल और मल्ल जनपद के मध्य, इसकी राजध ाानी कपिलवस्तु थी) कलिंग, मूलक (अश्मक जनपद के पश्चिम में) और विदर्भ (बरार), सौराष्ट्र, कच्छ (पश्चिम क्षेत्र के जनपद) राढ, (पश्चिम बंगाल), पुण्ड्र (उतरी बंगाल) और बंग (पूर्वी बंगाल), आन्ध्र, पुलिन्द, शबर, मूषिक, आदि (महाजनपद अश्मक के आस पास), द्रामिल रट्ठ (तामिल राष्ट्र, सुदुर दक्षिण आदि) इस प्रकार सारे भारतवर्ष में जनपद राज्यों की स्थापना इस युग में हो चुकी थी। प्रारम्भ में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का बोलबाला था, हर क्षेत्र विशेष अपनी अलग राजनीतिक पहचान की दुंदुभि बजा रहा था। इस युग की दूसरी विशेषता यह थी कि राजतंत्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक दोनो प्रकार के राज्य विद्यमान थे। तीसरी विशेषता है, साम्राज्यवाद की प्रवृति का उदय। क्षेत्रीय लगाव एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने अधिक शक्ति जुटाने की होड़ एवं विस्तारवादी अभिलाषाओं को घनीभूत किया। छोटे तथा निर्बल जनपद बड़े जनपद में विलीन होते गये और इस प्रक्रिया में क्रमशः चार महाशक्तिशाली महाजनपदों का उदय हुआ — कोसल, मगध, वत्स एवं अवंति। यह महत्वपूर्ण घटना बुद्ध के जीवनकाल की है। गणतांत्रिक राज्यों में वज्जिसंघ एक शक्तिशाली जनपद था और यह लम्बे समय तक अपने पड़ौसी मगध की साम्राज्यवादी आकांक्षा से लड़ता रहा। उपर्युक्त चारों महाजनपदों के आपसी संघर्ष के बाद मगध का एक शक्तिशाली महासाम्राज्य के रूप में उदय हुआ। इस घटनाक्रम की विस्तार से चर्चा हम बाद में करेंगें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 7.5 बुद्धकालीन गणराज्य

सोलह महाजनपदों में एक प्रकार की शासन पद्धति का अभाव था। कही राजतन्त्र था तो कहीं जनतंत्र, कहीं कहीं पर न्यून अंशों में दोनो का समन्वय दिखलाई पड़ता था। महाजनपदों की सूची में से वज्जि, मल्ल, शूरसेन आदि को गणतंत्र राज्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इनमें सबसे शक्तिशाली वज्जि महाजनपद था। यह एक संघात्मक गणराज्य था जो आठ कुलों से बना था। इसकी राजधानी वैशाली थी। आठ कुलों में एक प्रमख कुल लिच्छवियों का था, जिसके नाम पर लिच्छविगण भी कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थों में दस गणराज्यों के नाम मिलतें है, जो इस प्रकार है –

1. कपिलवस्तु के शाक्य
2. रामगाम के कोलिय
3. सुंसुमारगिरी के भग
4. अलकप्प के बुलि
5. केसपुत के कालाम
6. कुशीनारा के मल्ल
7. पावा के मल्ल
8. पिप्पलिवन के मोरिय
9. मिथिला के विदेह
10. वैशाली के लिच्छवि

**1. कपिलवस्तु के शाक्य** :– यह गणराज्य हिमालय के पार्श्व (हिमवन्त पस्से) में, नेपाल की तराई में स्थित था और इसकी राजधानी कपितवस्तु थी जिसकी पहचान वर्तमान तिलौराकोट (नेपाल) से की जाती है। महात्मा बुद्ध का जन्म इसी गणराज्य में कपिलवस्तु के निकट अवस्थित रूम्मिनेई (प्राचीन लुम्बिनी) नामक स्थल पर हुआ था (हिद बुधे जातेति)

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि शाक्य अपने को इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय मानते थे छठी शताब्दी ई.पूर्व में शाक्य गणराज्य के प्रम्रुख राजा शुद्धोदन थे, जो बुद्ध के पिता थे। शाक्य गणराज्य के निवासियों की संख्या लगभग पांच लाख थी और इसमें कुल अस्सी हजार परिवार थे। शाक्य जनपद के निवासी चरित्रवान थे और स्त्रियों का सम्मान करते थे। शाक्य लोग अत्यन्त स्वाभिमानी थे एवं अपने को विशिष्ट मानते थे, इसलिए वे अपनी जाति से बाहर विवाह सम्बन्ध को मर्यादा के विरूद्व समझते थे। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में शाक्य गणराज्य एक स्वतन्त्र एवं बलशाली गणराज्य था। लेकिन बुद्ध के महापरिनिर्वाण से पूर्व ही कोसल नरेश विड्डुभ ने शाक्यों पर आक्रमण कर उन्हे परास्त कर दिया और उनके जनपद को कोसल राज्य के अधीन कर लिया।

**2. रामगाम (रामग्राम) के कोलिय** :– रामगाम के कोलिय, शाक्य जनपद के पूर्व में एक मोरिय संघ के दक्षिण में, अवस्थित थे। इनकी राजधानी रामगाम (रामग्राम) की पहचान गोरखपुर जिले में स्थित आधुनिक रामगांव से की जाती है। शाक्य गणराज्य एवं कोलिय गणराज्य के मध्य रोहिणी नदी बहती थी। बौद्ध ग्रन्थ सुमंगलविलासिनी में इस नदी के जल से सिंचाई के प्रश्न को लेकर, इन दौनो गणराज्यों के मध्य हुए संघर्ष का विवरण मिलता है। जिसे सुलझाने के लिए स्वयं बुद्ध को हस्तक्षेप करना पड़ा। बौद्ध साहित्य के कोलिय गणराज्य के रक्षापुरूषों (पुलिस) का वर्णन मिलता है, जो चोर डाकुओं को पकड़ने का कार्य करते थे लेकिन ये रक्षापुरूष स्वयं अपनी उद्दण्डता एवं उत्पीड़क प्रकृति के लिए कुख्यात थे।

**3. सुंसुमारगिरी के भाग** :– भग्गों का छोटा सा गणराज्य सुसुमार पर्वत पर था जिसकी पहचान मिर्जापुर जिले में अवस्थित आधुनिक चुनार से की जाती है। भग्गों की प्राचीनता का संकेत ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता है। जिसमें एक भार्गायण (भर्ग वंश से सम्बद्व) राजकुमार का उल्लेख है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में भी भर्ग (भग्ग) राज्य का उल्लेख मिलता है। महाभारत और हरिवंशपुराण के संदर्भ से यह विदित होता है कि भग्गों और वत्सों के मध्य बड़ा निकट का सम्बन्ध था। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि भग्गों ने वत्स राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

**4. अलकप्प के बुलि** :–इस गणराज्य की निश्चित भौगोलिक स्थिति ज्ञात नही है, अनुमानतः यह बिहार के दो जिलों, मुजफ्फरपुर और शाहबाद के मध्य स्थित था। महापरिनिर्वाण सूत्र से जानकारी मिलती है कि अलकप्प के बुलियों ने भी महात्मा बुद्व के परिनिर्वाण के पश्चात उनके भस्मावशेषों पर अपना अधिकार जताया और प्राप्त अंश पर एक स्तूप का निर्माण करवाया। धम्मपद की टीका में कहा गया है कि बुलियों का राज्य केवल 30 मील (10 लीग) की लम्बाई में था।

**5. केसपुत्त के कालाम** :– केसपुत्त के कालामियों का गणराज्य अनुमानतः कोसल के पश्चिम में अवस्थित थ। बौद्ध साहित्य के केसपुत के आलारकालाम नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है जो उरूवेला के निकट रहते थे। सम्बोधि से पूर्व बुद्ध ने आलारकालाम को अपना गुरू मानकर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। अंगुत्तरनिकाय के उल्लेखों से संकेत मिलता है कि केसपुत के कालामियों ने कोसल की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

**6. कुशीनारा के मल्ल** :–बुद्ध के काल में मल्लों का गणराज्य दो भागों में बंटा हुआ था। कुशीनारा के मल्ल (मल्ला कोसिनारका) एवं पावा के मल्ला (मल्ला पावेयका) इन दोनो को एक दूसरे से विभक्त करने वाली काकुत्था नदी थी। कुशीनारा या कुशीनगर की पहचान उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के कसिया गांव के निकटवर्ती खण्डहरों से की जाती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, जहां एक स्तूप से मिले ताम्रपट्ट पर इसे बुद्ध के महापरिनिर्वाण का स्थल बताया गया है। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात जब पावा के मल्लों ने बुद्ध के अवशेषों के एक अंश की मांग की तो कुशीनगर के मल्लों ने प्रारम्भ में इन्हे यह कहकर मना कर दिया कि बुद्ध हमारे ग्राम क्षेत्र में निर्वाण को प्राप्त हुए है। (भगवा अम्हांक गामक्खेते परनिब्बतु) हम भगवान के शरीर के अवशेषों को किसी को नही देंगें (न मयं दस्साम भगवातों सरीरांन भागं) दिव्यावदान में मल्लों को इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय कहा गया है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार, राम के अनुज लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को मल्लभूमि का शासन प्राप्त हुआ था।

**7.पावा के मल्ल** :—पावा नगरी की पहिचान कनिंघम ने उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के पड़रौना नामक स्थल से की गई है। जो कसिया से 12 मील उत्तर पूर्व में है। कालाईल के अनुसार कसिया से 10 मील दूर वर्तमान फालिपुर नाम स्थान पर प्राचीन पावा नगरी बसी हुई थी। मल्ल एवं लिच्छवियों को मनु ने व्रात्य क्षत्रिय कहा है। मल्लों तथा लिच्छवियों के सम्बन्ध कभी सौहार्दपूर्ण थे तो कभी विद्वेषपूर्ण। विदेह की भांति मल्ल भी मूलतः एक नृपतंत्रात्मक राज्य था और बाद में गणतंत्रात्मक बना। मल्ल राज्य को अजातशत्रु के काल में मगध राज्य में मिला लिया गया।

**8. पिप्पलिवन के मोरिय** :— सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य को पिप्पलिवन के मोरियों से सम्बन्धित किया जाता है। मोरिय वंश का होने के कारण उसे मौर्य कहा गया।

महावंश के अनुसार पिप्पलिवन के मोरिय क्षत्रिय वंश के थे। महावंशटीका के अनुसार मोरिय कपिलवस्तु के शाक्यों की ही एक शाखा थी जिसने पिप्पलिवन में नया नगर बसाया। इस नगर के चारों ओर पीपल के वृक्षों की अधिकता के कारण इसका नाम पिप्पलिवन रखा गया। यह स्थान मयुर ध्वनि से गुंजायमान था, इसलिए यहां बसने वाले स्वयं को मोरिय कहने लगे। महापरिनिब्बानसुत में शाक्यों एवं मोरियों को अलग अलग माना गया है। पिप्पलिवन की पहचान कालाईल ने गोरखपुर नगर से लगभग 14 मील दक्षिण पूर्व में स्थित उपधौलिया गाँव से की है।

**9. मिथिला के विदेह** :—मिथिला को विदेह गणराज्य वज्जि संघ का सदस्य था। विदेह में प्रारम्भ में नृपतंत्रात्मक शासन था। यहां के राजा जनक अपनी शूरवीरता एवं विद्वता के लिए प्रसिद्ध था। बुद्ध के काल तक, विदेह में भी मल्ल राज्य की भांति, गणतंत्रात्मक शासन स्थापित हो गया था। विदेहों का राज्य बिहार में दरभंगा एवं भागलपुर जिलों के क्षेत्र में बसा हुआ था। एवं इनकी राजधानी मिथिला का तादात्म्य नेपाल की सीमा पर अवस्थित आधुनिक जनकपुर से किया जाता है। विदेह राज्य के दक्षिण मे गंगा नदी पूर्व में कौशिकी नदी, पश्चिम में सदानीरा नदी एवं उत्तर में हिमालय था।

**10. वैशाली के लिच्छवी** : वैशाली के लिच्छवियों का गणराज्य छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का सबसे प्रमुख एवं सबलतम गणराज्य था। इनकी राजधानी वैशाली की पहचान बिहार के मुजफ्फर जिले में गंडक नदी के तट पर अवस्थित बसाढ नामक स्थल से की गई है। लिच्छवियों का गणराज्य गंगा नदी के उत्तर पूर्व में नेपाल की तराई तक विस्तृत था एवं इसमें अनुमानतः बिहार के मुजफ्फरपुर तथा चम्पारन जिलों के सम्पूर्ण क्षेत्र सहित दरभंगा एवं सारन जिलों के कुछ क्षेत्र शामिल थे।

मजहावग्ग में कहा गया है कि वैशाली नगरी बहुजनों से आकीर्ण एवं अन्नपान सम्पन्न थी। एकप्पण जातक के अनुसार वैशाली नगरी तीन दीवारों से प्रचीरबद्ध थी तथा एक दीवार दूसरी से तीन मिल की दूरी पर थी। वहां पर तीन बड़े बड़े राजद्वार एवं तीन घंटाघर भी थे।

## 7.6 गणराज्यों का विधान एवं प्रशासन

बुद्धकालीन गणराज्यों के विधान एवं शासन पद्वति लो समझने के लिए हमें लिच्छवियों तथा शाक्यों के गणराज्यों के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्य में मिलने वाले संदर्भो को आधार बनाना होगा। अनुमानतः छोटे गणराज्यों जैसे बुलि, कालाम, भग्ग, मोरिय, कोलिय आदि में भी प्रशासन पद्वति का मूल ढांचा वैसा ही रहा होगा, यद्यपि वह उतना विस्तृत नही रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थों से हमें बौद्ध संघों के विधान, नियम एवं कार्यपद्धति के बारे में बहुत विस्तार से जानकारी मिलती है। अनेक विद्वानों का मानना है कि भगवान बुद्ध ने बौद्ध संघों का गठन तत्कालीन गणराज्यों में प्रचलित कार्यपद्धति के आधार पर किया था, अतः बौद्ध संघों के विवरण से भी तत्कालीन गणराज्यों की शासन व्यवस्था को समझा जा सकता हे।

### 7.6.1 केन्द्रीय प्रशासन

गणराज्य का प्रमुख या अध्यक्ष एक निर्वाचित व्यक्ति होता था। जिसे राजा कहते थे। बौद्ध ग्रन्थ अट्कथा एवं एकप्पण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाति के अनुसार लिच्छवि गणराज्य की शासन व्यवस्था के संचालन के लिए 7707 राजा थे। इन राजाओं के साथ उतने ही उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक थे। गणराज्यीत संगठन के सदस्य होने के कारण, ये सदैव विचार विमर्श, प्रश्न वितर्क में लगे रहते थे (ते सब्बेपि पटिपुच्छावितक्का अहेंसु) कौटिल्य ने लिच्छवि गणराज्य के लिए राजाशब्दोपजीवी संध शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तार के अनुसार यह है कि वहां का प्रत्येक मनुष्य अपने को राज्य का राजा समझता है। न कोई किसी से छोटा है, न बड़ा वरन सब समान है। ललित विस्तार में ही यह उल्लेख आता है कि कोई लिच्छवि राजा अपने को किसी दूसरे से छोटा नही मानता था। सब मैं राजा हूॅं मैं राजा हूॅं। ऐसा कहते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि राजाओं की 7707 संख्या अवास्तविक जान पड़ती है। किन्तु ऐसा नही है।

अनुमानतः ये 7707 राजा लिच्छवियों के 7707 मूल कुटुम्बों के प्रधान थे। जिन्हे शासन संचालन का कार्य सौंपा गया था। ये सब मिलकर एक प्रकार की शासक सभा का गठन करते थे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि यूनानी लेखक स्ट्रेबों के विवरण में यह कहा गया है कि एक भारतीय गणराज्य की शासक सभा के सदस्यों की संख्या 5000 थी। इन सभी राजाओं के अधिकार समान थे। इनमें से एक व्यक्ति को निर्वाचन द्वारा नायक बनाया जाता था। संभवत वही गणराज्य का प्रमुख या राष्ट्रपति होता था। शाक्य गणराज्य के प्रमुख या प्रधान इस प्रकार के निर्वाचित राजा शुद्धोधन थे जो बुद्ध के पिता थो। शुद्धोदन के बाद, शाक्य गणराज्य का राजा भद्दिय हुआ। ललितविस्तार में शाक्यों की शासक परिषद के सदस्यों की संख्या 500 कही गयी है। ये सभी राजा की उपाधि से विभूषित थे। ये शाक्यों के प्रमुख अभिजात परिवारों के प्रधान रहे होंगे।

### 7.6.2 प्रातीय प्रशासन

राजकार्य में राजाओं की सहायता के लिए उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक आदि पदाधिकारी होते थे। इनकी प्रचुर संख्या को देखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि लिच्छवी राज्य अनेक लघु प्रशासनिक ईकाईयों में बंटा हुआ था। इन इकाईयों को एक प्रकार से लघु राज्य माना जा सकता है। प्रत्येक इकाई का प्रमुख एक राजा होता था जो उपराजा, सेनापति आदि पदाधिकारियों की सहायता से उस इकाई का शासन संचालन करता था। इन लघु राज्यों के प्रमुख (राजा), गणराज्य के केन्द्रीय एंव सर्वोच्च सभा संस्थान के सदस्य होते थे। लघु राज्यों की इस प्रकार की विकेन्द्रित शासन व्यवस्था के कारण , लिच्छवियों के गणराज्य को प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सूचक माना जा सकता है। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने इस व्यवस्था को प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध नगर राज्य के सम्बन्धित दो अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है। ये हैं – गामगामणिक (गावों का मुखिया) तथा पूगगामणिक (औद्योगिक संस्थाओं का मुखिया)

### 7.6.3 सभा (संस्था)

लिच्छवी कुल के प्रमुख व्यक्तियों (राजाओं) की सभा संस्था कहलाती थी ओर जिस स्थल पर सभा की जाती थी उसे संस्थागार (संथागार) कहते थे। संस्थागार में सभी आवश्यक विषयों पर बड़े कायदे से विचार विमर्श किया जाता था ओर आवश्यकता पड़ने पर बहुमत से निर्णय लिया जाता था। शाक्यो और कोलियों के मध्य जब रोहिणी नदी से सिंचाई हेतु जल लेने के प्रश्न पर विवाद हुआ तो शाक्यों ने संस्थागार में सभा आहूत की और उसमें लम्बे विचार विमर्श के बाद कोलियों से युद्व करने का निर्णय लिया गया। इसी प्रकार जब कोसल नरेश विड्डुभ ने शाक्यों पर आक्रमण कर कपिलवस्तु को घेर लिया तो उस समय संस्थागार में इस प्रश्न पर गंभीरता से बहस की गई कि शाक्यों द्वारा आत्मसमर्पण कर दिया जाए या युद्व किया जाए। अंत में बहुमत से आत्मसमर्पण का निर्णय लिया गया। अन्य गणराज्यों के संस्थागारों में भी इस प्रकार की खुली बहस एवं उसके बाद सर्वसम्मति या बहुमत से किये गये निर्णयों के उल्लेख तत्कालीन साहित्ययिक ग्रन्थों से मिलते है। इससे गणराज्यों में प्रचलित जनतांत्रिक पद्धति की जानकारी मिलती है।

### 7.6.4 सभा की कार्यवाही

सभा (संस्था) की कार्यवाही का संचालन नियमबद्ध तरीके से किया जाता था। संस्था के अधिवेशन के लिए गणपूर्ति (कोरम) अर्थात निश्चित संख्या में सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। संस्थागार में सदस्यों के बैठने के लिए एक निश्चिम क्रम में आसानों की व्यवस्था, आसनपन्नापक (आसन प्रज्ञापक) नाम अधिकारी करता था।

आधिवेशन में किसी भी प्रस्ताव (ज्ञप्ति) का औपचारिक प्रस्तुतीकरण आवश्यक था। प्रस्तोता द्वारा प्रस्ताव पेश किये जाने के बाद उसे तीन बार दोहराया (अनुस्साव) जाता था। जिससे कि सभा में उपस्थित सभी व्यक्ति उसे ध्यान से सुन सकें। इसके बाद गणसदस्यों से यह पूछा जाता था कि क्या वे प्रस्ताव का अनुमोदन करते थे जो सदस्य मौन रहते थे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उन्हे प्रस्ताव से सहमत मान लिया जाता था। अन्य सदस्यो द्वारा प्रस्ताव पर वाद विवाद किया जाता था। सदस्यों के एकमत न होने पर मतदान से निर्णय कराया जाता थ। मत या वोट को छंद कहा जाता था। मतदान की प्रक्रिया के अन्तर्गत पहले सभी सदस्यों को अलग अलग रंग की लकड़ी की शलाकाऐं बांट दी जाती थी। प्रत्येक रंग की शलाकाऐं एक विशेष मत या दृष्टिकोण की सूचक होती थी। सदस्यों से कहा जाता था कि वे उस रंग की शलाका का चयन करें जो उनके मत की सूचक हो। उन्हे कहा जाता था कि वे अपनी शलाका को किसी को न दिखाऐं। उसके बाद एक अधिकारी इन सभी शलाकाओं को इकट्ठा करता था। इस अधिकारी को शालाकाग्रहापक कहा जाता था। शलाकाग्रहण का कार्य खुले ढंग से भी होता था एवं गोपनीय तरीके से भी।

कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों के समाधान के लिए कई बाद मतदान के स्थान पर दो अन्य तरीके भी अपनाए जाते थे या तो ऐसे प्रश्न पर पड़ौस के किसी बड़े संघ से निर्णय करने का अनुरोध किया जाता था, या ऐसे प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व चुनिंदा व्यक्तियों की एक समिति को जिसे ''उब्बाहिकी समिति'' कहा जाता था, सौंप दिया जाता था। इस समिति का निर्णय सबके लिए मान्य होता था।

### 7.6.5 मंत्रिपरिषद (कार्यकारिणी)

ऐसा प्रतीत होता है कि गणराज्यों की सभा या संस्था द्वारा शासन कार्य के दैनिक संचालन के लिए एक मंत्रिपरिषद या कार्यकारिणी का गठन किया जाता है। इस प्रकार की कार्यकारिणी के गठन का हमें कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, लेकिन जैन कल्पसूत्र मे आये एक संदर्भ में इसका आभात मिलता है। इस ग्रंथ में एक स्थल पर नवमल्लई (नौ मल्ल राजा) एवं नव लैच्छई नौ लिच्छवि राजा) का उल्लेख मिलता है जो महावीर स्वामी की मृत्यु की रात्रि में दीपोत्सव प्रसंग के संदर्भ में उपस्थित हुए थे। लिच्छवि गणराज्य में सात हजार सात सौ राजाओं के होने का उल्लेख है, ऐसी स्थिति में (नौ लिच्छवी राजाओं) के ही एक विशेष अवसर पर एकत्र होने का अर्थ है ? यह प्रतीत है कि ये नौ लिच्छवि राजा किसी केन्द्रीय कार्यकारिणी या मंत्रिमण्डल के सदस्य थे।

### 7.6.6 सार्वजनिक सभा

एक केन्द्रीय सभा (संस्था) के अतिरिक्त लिच्छवि गण या वज्जिसंघ में एक सार्वजनिक ओर सामान्य सभा के अस्तित्व का भी संकेत मिलता है। महापरिनिब्बानसुत मे एक स्थल पर यह प्रसंग आता है कि महात्मा बुद्ध जब राजगृह में ठहरे हुए थे। तो अजातशत्रु ने भी अपना एक मंत्री उनके पास यह जानने के लिए भेजा कि वज्जि संघ का विनाश किस प्रकार संभव है ? इस सम्बन्ध में बुद्व ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से एक संवाद के दौरान यह कहा कि वज्जि लोग बार बार पूर्ण सार्वजनिक सभाऐं आयोजित करते है। जब तक वे पूर्ण सार्वजनिक सभाऐं करतें रहेंगें।, उनकी वृद्धि ही होगी, विनाश नही होगा।

### 7.6.7 सात अपरिहानिय धम्म (नियम)

महात्मा बुद्व का मानना था कि वज्जि लोग उस समय तक अजेय एवं अविजित रहेंगें जब तक वे सात अपरिहानिय धम्मो (नियमों) का अनुपालन करते रहेंगे। महापरिनिब्बान सुत के अनुसार ये सात अपरिहानिय नियम इस प्रकार है :

1. निर्धारित समय पर सभी सदस्यों की उपस्थिति के साथ सभा का अधिवेशन हो।
2. समग्र (निर्विरोध, सहमत) भाव से संघ मे उपस्थिति (समग्गा सन्निपतिस्संति) समग्र भाव से अधिवेशन की समाप्ति (समग्गा वुट्ठ हिस्संति) तथा समग्र भाव से संघ के कार्यो का निष्पादन (समग्गा संघ करणीयानि करिस्संतति)
3. जो स्वीकृत नही हुआ है उसे स्वीकार नही करना, जो स्वीकृत हो चुका है उसका उल्लंघन नही करना, तथा वज्जि संघ के पूर्व स्वीकृत विधानों के अनुसार कार्य करना।
4. वज्जिसंघ के जो बड़े बूढ़े (संघपितर) है और जो नेता (संघपरिणायक) है, उनका आदर सत्कार करना।
5. वज्जिसंघ के चैत्यौं (मंदिरों) में पूजा कार्य की निरन्तरता बनाये रखना तथा पूर्वकाल से निर्धारित धार्मिक क्रियाकलपों को जारी रखना।
6. वज्जिसंघ के धार्मिक अरहन्तों (महापुरूषों) का सम्मान रखना।
7. वज्जिसंघ के वृद्धों (महल्लकों) का आदर सत्कार करना।

अद्‌भुत न्याय प्रशासन : वज्जि संघ में न्याय प्रशासन की बड़ी अद्‌भुत व्यवस्था थी। बुद्ध घोष की अट्ठकथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से हमें इस व्यवस्था की जानकारी मिलती है। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसर वज्जिसंघ की न्याय पद्धति अपनी अतिलोकतांत्रिक भावना के कारण विशिष्ट है। अट्ठकथा के विवरण के अनुसार वज्जिसंघ में अपराधी की जांच पड़ताल एवं न्यायिक परीक्षा सात विशेषज्ञ पदाधिकारियों या न्यायालयों द्वारा की जाती थी, जिनके नाम इस प्रकार हैं–(1) विनिच्चय महामात (विनिश्चय महामात्र) (2) वोहारिक (व्यावहारिक) (3) सुतधर (सुत्रधर) (4) अट्ठकुलिक (अष्टकुलिक) (5) सेनापति (6) उपराजा एवं (7) राजा। सबसे पहले अभियुक्त को विनिश्चय महामात्र के पास लाया जाता था जो सम्बन्धित मामले के तथ्यों की प्राथमिक जांच पड़ताल करता था। निर्दोष होने पर विनिश्चय महामात्र अपराधी को मुक्त कर सकता था लेकिन दोषी होने की अवस्था में उसे दण्डित करने का अधिकार उसके पास नही था प्राथमिक रूप से दोषी लगने वाला अभियुक्त को दूसरी अवस्था में व्यावहारिक के पास भेजा जाता था। वह विधि–विशेषज्ञ होता था। वह अपने मापदण्डों से अभियुक्त का परीक्षण करता था तथा उसके निरपराध होने पर उसे छोड़ भी सकता था।लेकिन व्यावहारिक भी दोषी अभियुक्त का दण्ड निर्धारण नही कर सकता था। ऐसी स्थिति में अभियुक्त को तीसरे न्यायाधिकारी सुत्रधर के पास भेजा जाता था जो व्यावहारशास्त्र यानि सामाजिक धार्मिक परम्पराओं, रीति रिवाजों, लोकप्रचलित दृष्टियों आदि से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर अभियुक्त की जांच पड़ताल करता था। दोषी होने पर उसे उच्चतर न्यायालय के अधिकारियों यानि अष्टकुलिकों के पास भेजा जाता था। जिसमें अनुमानतः आठ जातियों के आठ प्रतिनिधि न्यायाधीश होते थे। अष्टकुलिक द्वारा भी दोषी सिद्व किये जाने पर अभियुक्त को क्रमशः सेनापति, उपराजा एवं अन्त में राजा के पास भेजा जाता था। अंतिम निर्णय का अधिकार राजा के पास सुरक्षित था। अपराधी के दण्ड निर्धारण का अधिकार भी राजा के पास ही था। दण्ड पूरी तरह से अपराध एवं दण्ड के पुराने उदाहरणों का संकलन होता था। उपर्युक्त न्याय व्यवस्था के अनुसार वज्जिसंघ में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन किसी भी प्रकार की न्यायिक स्वेच्छाचारिता एवं पक्षपात से पूरी तरह मुक्त था। उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा भावना का पूर्ण आदर किया जाता था। किसी भी अभियुक्त को दण्ड उसी स्थिति में मिलता था, जबकि उपर्युक्त सात न्यायाधिकारियों द्वारा उसका हर दृष्टि से पूरी तरह परीक्षण कर लिया जाता था।

यह जान पड़ता है कि बुद्धकालीन गणतांत्रिक राज्य अच्छी प्रकार से प्रशासित राज्य थे एवं अपने संगठन की शक्ति के कारण बलशाली थे। वज्जिसंघ जैसे बड़े गणराज्यों की गणतंत्रात्मक सुदृढता एवं शक्ति सम्पन्नता मगध नरेश अजातशत्रु के लिए एक पहेली थी। इन गणराज्यों में न केवल बहुमत का सम्मान किया जाता था। गणराज्य सुख एवं समृद्वि के केन्द्र थे। वे राजतंत्र प्रधान युगके सफल गणतांत्रिक प्रयोग थे। लेकिन दुर्भाग्यवश उनकी सफलता दीर्घाकलीन नही रह सकी और नवोदित शक्तिशाली राजतंत्रों ने उन्हे लील लिया।

## 7.7 गणराज्यों के पतन के कारण

बुद्धकालीन गणराज्य समृद्ध, सुव्यवस्थित एवं युद्वकला में निपुण होने के बावजूद समकालीन राजतंत्रात्मक शक्तियों के समक्ष बहुत जल्दी ही नतमस्तक एवं समर्पित हो गये ऐसा क्यो ?

### 7.7.1 संघ भेद

बुद्धकालीन गणराज्यें के पतन का मुख्य कारण उनकी शक्ति का आंतरिक विभाजन या संघ भेद था। गणतान्त्रिक शक्तियों को सबलता का प्रमुख आधार उनकी विभिन्न गणशक्तियों (राजाओं) की वैचारिक तारतम्यता थी। अजातशत्रु जैसे पराक्रमी नरेश को यह आभाष था कि युद्धक्षेत्र में सैनिक पराक्रम के बल पर लिच्छवियों को परास्त नही किया जा सकता। अतः उसने अपने मंत्री वस्सकार को लिच्छवि संघ में आंतरिक भेद करने के लिए गोपनीय तरीके से नियुक्त किया। अजातशत्रु ने एक छद्म नाटक द्वारा वस्सकार से झगड़ा कर उसे मगध से निकाल दिया। वस्सकार को बड़ी सहजता से वैशाली में शरण मिल गई। लिच्छवि गणराज्य में उसे एक उच्च पद पर आसीन कर दिया गया। सुमंगलविलासिनी से हमें ज्ञात होता है कि तीन वर्ष के भीतर ही वस्सकार ने अपनी कूटनीति एवं बुद्धि चातुर्य से लिच्छवियों में विलासित और पारस्परिक कलह के बीज बो दिये। इसके बाद अजातशत्रु ने संगठनात्मक दृष्टि से कमजोर वज्जिसंघ पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया एवं उसे मगध का राज्य का अंग बना लिया।

### 7.7.2 लोकपरम्परा में राजतंत्र की दृढ़ता

भारतीय लोकपरम्परा में परीक्षित, जनमेजय, सागर, भरत एवं राम जैसे प्राचीन राजाओं के प्रति श्रद्वा एवं देवत्व का

भाव रहा अतः जनमानस मे राजतंत्र के प्रति एक विशिष्ट आकर्षण एवं पारम्परिक लगाव बना रहा। गणतांत्रिक भावनाओं को वे न पूरी तरह समझ पाये, न उन्हे आत्मसात कर पायें।

### 7.7.3 राजतंत्रों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा

बुद्वकालीन राजतंत्रों में साम्राज्यवादी आकांक्षा जितनी प्रबल थी, उसकी गणतांत्रिक राज्यों में नही। बुद्ध के काम में चार प्रमुख महाजनपदों – कोसल, वत्स, अवंति और मगध में विस्तारवादी प्रवृतियों का बोलाबाला था। जिसके कारण इन चारों के मध्य शक्ति संघर्ष हुआ। लिच्छवि, शाक्य एवं मल्लों के गणराज्यों में विस्तारवादी चेतना का

### 7.7.4 गणतंत्रों की विधानमूलक शिथिलताएँ

गणतंत्रों का विधान एवं उनकी प्रशासन पद्धति यद्यपि अधिक जनतांत्रिक थी, लेकिन राजतंत्रों के सुदृढ केन्द्रीकृत रूप के समक्ष कुछ दृष्टियों से शिथिल पड़ जाती थी, प्रथम संस्थागर में लम्बे वाद विवाद के कारण तुरन्त कार्यवाही कर पाना मुश्किल हो जाता था। द्वितीय गणराज्यों के निर्णयों में गोपनीयता का अभाव रहता था, जिसके कारण शत्रुपक्ष पहले से सचेत हो जाता था। तृतीय गणराज्यों के प्रशासनिक अधिकारी, अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने के कारण, अत्यधिक कार्यकुशल नही होते थे एवं उनके भ्रष्ट होने की संभावना भी रहती थी। शाक्य गणराज्य के आरक्षक पुरूषों (पुलिस) की उद्ण्डता, भ्रष्टता एवं हिंसात्मक आचरण के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते है। भाव अपेक्षाकृत बहुत कम थ। इन गणराज्यों का ध्यान मूलतः अपने प्रशासन की सुव्यवस्था एवं सुरक्षा के समुचित उपायों पर ही था, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षी पर नही।

## 7.8 सारांश

राजतंत्रीय महाजनपदों के साम्राज्यवादी संघर्षो ने इन गणराज्यों का अंत कर दिया। कोसल ने शाक्यों के गणराज्य को अपने अधीनस्थ कर लिया तथा मगध ने लिच्छवियों को परास्त कर उनके राज्य को हस्तगत कर लिया।

## 7.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. जनों से जनपद एवं जनपदों से महाजनपद का निर्माण कैसे हुआ ?

प्रश्न 2. महाजनपद युग की राजनैतिक प्रवृत्तियों का रेखांकन कीजिए ?

प्रश्न 3. कपिलवस्तु के शाक्यों के बारे में आप क्या जानते है ?

प्रश्न 4. मल्लों के दो गणराज्यों की भौगोलिक स्थिति एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 5. गणराज्यों में सभा (संस्था) के गठन एवं उसकी कार्यवाही का संक्षिप्त विवरण कीजिए ?

प्रश्न 6. वज्जिसंघ के न्याय प्रशासन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

प्रश्न 7. बुद्धकालीन गणराज्यों के पतन के क्या कारण थे ?

प्रश्न 8. छठी शताब्दी ई.पू. के षोड्श महाजनपदों के बारे में आप क्या जानते हैं।

प्रश्न 9. बुद्धकालीन गणतान्त्रिक राज्यों पर एक निबन्ध लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई–8 : मगध साम्राज्य का उत्कर्ष

**संरचना**

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 मगध का आरम्भिक इतिहास
8.3 मगध साम्राज्य के विकास का प्रथम चरण
8.3.1 हर्यक वंश
8.3.2 बिम्बिसार
8.3.2.1 वैवाहिक संबंधों द्वारा मैत्री बंधन
8.3.2.2 राजनयिक एवं सौहार्दपूर्ण संबंधों द्वारा मगध का सुदृढ़ीकरण
8.3.2.3 युद्ध एवं आक्रामक नीति द्वारा साम्राज्य विस्तार
8.3.2.4 कुशल प्रशासक
8.3.2.5 धर्म एवं कला
8.3.3 अजातशत्रु (493ई.पू.–461ई.पू.)
8.3.2.1 कौशल से युद्ध
8.3.2.2 वज्जिसंघ पर विजय
8.3.2.3 अवंति से टकराव की स्थिति
8.3.2.4 धर्म और कला
8.3.4 उदायिन या उदयभद्र
8.3.5 उदायिन के उत्तराधिकारी
8.4 मगध साम्राज्य के विकास का द्वितीय चरण
8.4.1 शिशुनाग (412 ई.पू.–394 ई.पू.)
8.4.2 कालाशोक या काकवर्ण (394 ई.पू.–366 ई.पू.)
8.4.3 कालाशोक के उत्तराधिकारी (366 ई.पू.–344 ई.पू.)
8.5 मगध साम्राज्य के विकास का तृतीय चरण
8.5.1 नन्द वंश (344 ई.पू.–322 ई.पू.)
8.5.2 महापद्मनन्द उग्रसेन
8.5.3 महापद्मनन्द के उत्तराधिकारी
8.6 नन्द साम्राज्य का महत्त्व
8.7 मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के कारण
8.8 सारांश
8.9 अभ्यास प्रश्नावली

## 8.0 प्रस्तावना

छठी शताब्दी ई.पू. में या बुद्धकालीन भारत में राजनीतिक जीवन में राजतंत्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक दोनो तरह की प्रवृतियां काम कर रही थी। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी के अनुसार उत्तर बिम्बिसार काल के राजनीतिक इतिहास की विशेषता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यह है कि उस समय दो विरोधी अर्न्तमुखी तथा बर्हिमुखी-शक्तियां साथ साथ काम कर रही थी अर्थात एक ओर तो स्थानीय जनपदों के स्वायत्त शासन के प्रति प्रेम की ओर दूसरी और समूचे देश को एक राजतन्त्र के अधीन एकता के सूत्र में बांधने की भावना थी।

## 8.1 उद्देश्य

छठी शताब्दी ई.पू. के बाद की ऐतिहासिक धारा में रजतंत्रमूलक साम्राज्यवादी प्रवृतियों के उत्कर्ष का काल प्रारम्भ हुआ। उत्तरी भारत में एकछत्र राजनीतिक साम्राज्य एवं वर्चस्व स्थापित करने के लिए चार महाजनपदों मगध, कोसल, वत्स एवं अवन्ति के मध्य शक्ति संघर्ष हुआ, जिसमें मगर अन्य शक्तियों को परास्त कर एक बड़े साम्रज्य की स्थापना करने में सफल हुआ। बिम्बिसार तथा नन्द जैसे शक्तिशाली शासकों के समय भारतीय राजनीति में मगध का वही स्थान जो पूर्व-नार्मन इंग्लैण्ड में बैंसेक्स और जर्मनी में प्रसिया का।

## 8.2 मगध का आरम्भिक इतिहास

प्राचीन मगध राज्य का भौगोलिक विस्तार आधुनिक बिहार के पटना और गया जिलों तक था। मगध राज्य के उत्तर में गंगा नदी, पूर्व में चम्पा नदी, पश्चिम में सोन नदी, तथा दक्षिण में विंध्याचल की पहाड़ियां थी। मगध की आरम्भिक राजधानी गिरीव्रज के अन्य नाम भी दिये गये हे जो इस प्रकार है – राजगृह, मगधपुर तथा ब्रार्हद्रथपुर और बौद्व ग्रन्थों में इसे बिम्बिसारपुरी भी कहा गया है।

मगध का सबसे पहले उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। अथर्वसंहिता में ब्राह्मण सीमा के बाहर रहने वाले 'व्रात्य' को मगध से सम्बन्धित कहा गया है। वैदिक साहित्य में मगध के ब्राह्मणों को निम्न कोटि का कहा गया है। प्रसिद्व विद्वान ओल्डेनबर्ग के अनुसार उनके संस्कार वैदिक रीति से सम्पन्न न होने के कारण उन्हे ऐसा माना गया। वैदिक साहित्य में मगध के एक ही राजा के नाम का उल्लेख मिलता है – प्रमगन्द । इसके राज्य काल की किसी घटना की जानकारी नही मिली।

महाभारत और पुराणों में मगध के प्राचीनतम राजवंश का नाम बार्हद्रथम बताया गया है। जिसमें वृहद्रथ और जरासंध नाम दो प्रसिद्व राजा हुए। मगध के इस आदि वंश की स्थापना वृहद्रथ ने की थी। वृहद्रथ के बाद जरासन्ध मगध का राजा हुआ। पुराणों में जरासन्ध का पुत्र सहदेव से लेकर रिपुजन्य तक ब्राहर्दथ वंश के राजाओं की सूची मिलती है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक ब्रार्हद्रथ या ब्रहद्रथ वंश का अंत हो चुका था।

बौद्ध और जैन साहित्य के अनुसार ब्रार्हद्रथ वंश के बाद आने वाला हर्यंक वंश था और उसका संस्थापक बिम्बिसार था जो बुद्ध का समकालीन था। यहीं से मगध जनपद के एक साम्रज्य के रूप में विकसित होने की कहानी प्रारम्भ हो गई। जिस प्रकार किसी शान्त सरोवर के मध्य पत्थर फैंकने पर उससे उठने वाली तरंगो के वृत्त धीरे धीरे फैलते जाते है वैसे ही मगध साम्राज्य की सीमाऐं फैलकर भारत के विभिन्न प्रदेशों को अपने में समेटती चली गई। मगध साम्रज्य के उदय एवं विकास के (तीन राजवंशों के क्रम से) तीन चरण है जो इस प्रकार है :

प्रथम चरण :– हर्यक वंश (545 ई.पू. से 412 ई.पू.)

द्वितीय चरण :– शैशुनाग वंश (412 ई.पू. से 344 ई.पू.)

तृतीय चरण :– नन्द वंश (344 ई.पू. से 322 ई.पू.)

## 8.3 मगध साम्राज्य के विकास का प्रथम चरण

### 8.3.1 हर्यंक वंश (545 ई.पू. – 412 ई.पू.)

मगध के एक बड़े साम्राज्य के रूप में विकसित होने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण चरण हर्यंकवंशीय राजाओं, मुख्यतः बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। हर्यंक वंश नागवंशी क्षत्रियों का एक उपवंश जान पड़ता है। हर्यंक शब्द के अर्थ से भी यही घोषित होता है हरि अर्थात् नअ, अंक अर्थात चिन्ह,अतः हर्यक यानि नाग चिन्हिंकित हर्यंक वंश की संस्थापना 545 ई.पू. में बिम्बिसार ने की थी। उसने 493 ई.पू. तक शासन किया। बिम्बिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु (493 ई.पु. – 461 ई.पु.) मगध का शासक बना, अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदायिन या उदयभद्र (461 ई.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पूर्व –445 ई.पु.) मगध का शासक बना। उदायिन के पश्चात उसके उतराधिकारियों अनिरूद्दद्र, मुंडक और नागदशक ने 445 ई.पू. से 412 ई.पू. तक शासन किया। 412 ई.पू. में हर्यक वंश के अंतिम राजा नागदशक या दर्शक को शिशुनाग ने परास्त कर मगध में एक नये राजवंश (शैशुनाग वंश) के शासन की स्थापना की।

### 8.3.2 बिम्बिसार (545 ई.पू – 493 ई.पू.)

मगध के साम्राज्यवादी स्वरूप का प्रवर्तक या संस्थापक बिम्बिसार था। वह दक्षिणी बिहार के एक छोटे से सामन्त या राजा का पुत्र था। उसके पिता का नाम विभिन्न ग्रन्थों में अलग अलग दिया गया है, हेमजित, क्षेत्रोजा, भटि्ट या बोधिस। बिम्बिसार का दूसरा नाम श्रेणिक (या सेनिय) था वैसे ही जैसे अजातशत्रु का दूसरा नाम कुणिक (या कुणिय) था डी.आर. भण्डारकर का अनुमान है कि बिम्बिसार शुरू में लिच्छवियों का सेनापति था जो उस समय मगध पर शासन कर रहे थे। कुछ समय बाद बिम्बिसार मगध का स्वतन्त्र शासक बन गया। इस मत को स्वीकार करने में मुख्य कठिनाई यह है कि महावंश में यह स्पष्टतः कहा गया है कि बिम्बिसार जब 15 वर्ष का था , तब उसके पिता ने उसे स्वयं सिहासन पर आरूढ किया था उससे यह संकेत मिलता है कि बिम्बिसार के पिता स्वयं राजा थे।

बिम्बिसार एक महत्वाकांक्षी, कुशल एवं कूटनीतिज्ञ शासक था उसने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का सही आंकलन किया और अपनी दूरदर्शितापूर्ण नीति से मगध के साम्राज्य एवं प्रभुत्व को विस्तारित करने का प्रयास किया।

**8.3.2.1 वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा मैत्री बंधन** – बिम्बिसार राजनीतिक गणित का कुशल खिलाड़ी था। उसे इस बात का आभास था कि समकालीन राजनीतिक शक्तियों को युद्ध क्षेत्र में एक साथ परास्त कर पाना मगध के लिए संभव नही है इसलिए उसने उन चुनिंदा राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा मैत्री गठबंधन कर लिया जो उसके राज्य की सीमावर्ती सीमाओं को सुरक्षित रखने में सहायक बनें तथा अन्य दिशाओं में मगध के विस्तारवादी नीति के समर्थक। डॉ. रायचौधरी के अनुसार यूरोप के हेप्सबर्ग्स तथा बोरबन्स की तरह बिम्बिसार भी राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्धों का समर्थक था। बिम्बिसार द्वारा स्थापित चार वैवाहिक सम्बन्ध राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है–(1)बिम्बिसार ने कौशल के राजा प्रसेनजित की बहन कौशल्यादेवी से विवाह किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से बिम्बिसार को शक्तिशाली कौशल जनपद की मित्रता का लाभ हुआ, साथ ही दहेज के रूप में एक लाख के वार्षिक भू राजस्व वाला काशी ग्राम भी प्राप्त हुआ। उल्लेखनीय है कि काशी ग्राम मगध को कौशलादेवी के स्नान व श्रृंगार के खर्च को पूरा करने के लिए दिया गया। (2) बिम्बिसार ने वैशाली के लिच्छवि शासक चेटक की पुत्री चेलना (छलना) से भी विवाह किया। इस मैत्री गठबंधन द्वारा बिम्बिसार ने न केवल मगध की उत्तरी सीमा को सुरक्षित कर लिया बल्कि कुछ अन्य लाभ भी अर्जित किये। वैशाली गंगा नदी के उत्तर में स्थित होने के कारण व्यापार का एक प्रसिद्व केन्द्र थी। मगध के व्यापारियों को इस स्थिति का आर्थिक लाभ मिला। दूसरे विनयपिटक में कहा गया है कि लिच्छवि लोग रात के अंधेरे में उत्तर की ओर से धावा बोलकर मगध की राजधानी में लूटपाट कर लेते थे। उपर्युक्त वैवाहिक सम्बन्ध के बाद इस प्रकार की घटनाऐं समाप्त हो गई। (3) बिम्बिसार ने मद्र देश (उतरी पंजाब) की राजकुमारी क्षेमा के साथ विवाह कर मद्रों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये (4) बिम्बिसार की एक अन्य रानी विदेह कन्या वासवी थी मिथिला के विदेहों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर बिम्बिसार ने अपने शत्रु अंग देश को उतर पश्चिम की ओर से मैत्री विहीन कर दिया। अनुमान है कि बिम्बिसार ने समकालीन कुछ अन्य राजवंशों के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए होंगे। क्योंकि महावग्ग में बिम्बिसार की 500 रानियों का उल्लेख है।

**8.3.2.2 राजनयिक एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों द्वारा मगध का सुदृढ़ीकरण** – वैवाहिक सम्बन्धों के अतिरिक्त, बिम्बिसार ने कुछ अन्य राज्यों के साथ राजनयिक (दौत्य या कूटनीतिक) या सौहार्दयपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर, मगध की स्थिति को, मित्रों के बाहुल्य से और अधिक सुदढ बना लिया। गंधार के राजा पुक्कुसाति ने मगध की राजसभा में एक दूत भी भेजा था। विद्वानों का अनुमान है कि बिम्बिसार ने गंधार, कन्नौज, वत्स, मद्र एवं सिन्ध के साथ दौत्य (दूत) सम्बन्ध स्थापित किये थे। बिम्बिसार ने अवन्ति के प्रतापी राजा प्रद्योत से भी सौहार्दयपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये। एक बार राजा प्रद्योत जब पाण्डुरोग (पीलिया) से ग्रस्त हो गया तो बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को उसके उपचार के लिए भेजा।

**8.3.2.3 युद्व एवं आक्रामक नीति द्वारा साम्राज्य विस्तार** :– अपने वैवाहिक एवं कूटनीतिक सम्बन्धों के कारण बिम्बिसार मैत्रीशक्ति से सम्पन्न हो गया। इसके बाद उसे शत्रु राज्यों के विरूद्व आक्रामक नीति के अनुसरण में बड़ी सुविधा हो गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मगध के पूर्व में अंग का राज्य था तथा मगध एवं अंग की पुरानी शत्रुता थी। अपनी कुशल कुटनीति के फलस्वरूप बिम्बिसार को अपने शत्रु अंग से युद्ध करने का अवसर मिला। बिम्बिसार ने अंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में अग का राजा ब्रह्मदत्त मारा गया, तथा अंग का राज्य मगध राज्य में शामिल कर लिया गया। सामाज्य निर्माण की ओर मगध का यह दूसरा कदम था। पहला कदम वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा काशी ग्राम का मगध राज्य में विलीनीकरण था। डॉ. हेमेन्द्र राय चौधरी ने शब्दों में, इस प्रकार कूटनीति ओर ताकत के बल पर बिम्बिसार ने अंग राज्य तथा काशी के एक भाग को मगध में मिला लिया फिर तो मगर निरन्तर विस्तार की ओर बढ़ता गया और तब तक बढ़ता गया जब तक कि महान अशोक ने कलिंग के बाद अपनी तलवार नही रख दी।

काशी के एक भाग तथा अंग राज्य क मगध में विलीनीकरण के फलस्वरूप मगध राज्य की सीमाऐं अत्यधिक विस्तृत हो गई और वह पूर्वी भारत का सबसे शक्ति सम्पन्न साम्राज्य बन गया। बुद्धघोष की अट्ठकथा में कहा गया है कि बिम्बिसार के काल में मगध का राज्य विस्तार दुगुना हो गय। महावग्ग के अनुसार बिम्बिसार के राज्य में 80 हजार ग्राम थे। बुद्धचर्या से ज्ञात होता है कि बिम्बिसार के राज्य का विस्तार 300 योजन था।

**8.3.2.4 कुशल प्रशासक :–** बिम्बिसार एक कुशल एवं सख्त प्रशासक था उसने मगध में एक प्रभावी प्रशासनिक व्यवस्था की आधारभूत भूमि तैयार की। बिम्बिसार की राज्य व्यवस्था का प्रशंसायुक्त विवरण हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है।

बिम्बिसार के प्रमुख अधिकारी महामत्त (महामात्र) कहे जाते थे। बौद्ध साहित्य में बिम्बिसार ने निम्नलिखित महामात्रों का उल्लेख मिलता है। (1) सब्बत्थक महामत्त (सर्वार्थक महामात्र) प्रशासन के सभी सामान्य पक्षों की देखरेख करने वाला पदाधिकारी (2) सेनानायक महामत्त – सेना का प्रमुख अधिकारी (3) वोहारिक महामत्त (व्यावहारिक महामात्र) – प्रधान न्यायाधीश या न्यायिक अधिकारी एक चौथे वर्ग के अधिकारी (ग्राम भोजक अथवा ग्रामकूट) कृषकों की उपज पर दशमांश कर लगाने व वसूलने के लिए उत्तरदायी थे।

बिम्बिसार बड़ा कठोर प्रशासक था और अपने अधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था। 'चुल्लवग्ग' से ज्ञात होता है कि गलत राय देने वाले अधिकारियों को वह निकाल देता था एवं सही परामर्श देने वाले अधिकारियों को प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत करता था। बिम्बिसार की इस नीति के कारण मगध को अजातशत्रु के काल में वस्सकार और सुनीथ जैसे प्रतिभावान एवं योग्य पदाधिकारी मिले।

बिम्बिसार के काल में न्याय व्यवस्था बड़ी त्वरित एवं कठोर थी। विनयपिटक से ज्ञात होता है कि अपराधियों को कारावास के अलावा लोहे से दागना, जीभ काटने, कोड़े से मारने, पसलिंया तोड़ने तथा अंग भंग जैसे दण्ड दिये जाते थे। गंभीर अपराधों के लिए शिरोच्छेदन द्वारा मृत्यु दण्ड दिया जाता था।

प्रांतों के प्रशासन में स्वशासन या स्वायत्तता की भावना का ध्यान रखा गया था प्रान्तों को मण्डल कहा जाता था। माण्डलिक राजाओं (प्रान्तीय शासकों) का उल्लेख मिलता है चम्पा में नियुक्त एक उपराजा का उल्लेख भी मिलता है। सुमंगलविलासिनी के अनुसार उसके राज्य में कुछ गण अथवा संघ भी थे।

बिम्बिसार के प्रशासन की एक उल्लेखित विशेषता यह थी कि उसकी सभा में 80000 गाँवो के प्रतिनिधि (ग्रामक) भाग लेते थे इस सभा की कार्य पद्वति के बारे में हमें जानकारी नही हैं। एक बार बिम्बिसार ने 80000 ग्रामिकों की सभा बुलाकर उन्हे बुद्ध की सेवा में जाने को कहा था।

**8.3.2.5 धर्म एवं कला :–** बिम्बिसार युद्ध एवं महावीर दोनो का समकालीन था। उसे बौद्ध तथा जैन धर्म वाले दोनों अपना अपना अनुयायी बताते है। सम्बोधि प्राप्त करने के छः महिने बाद बुद्ध जब राजगृह पहूंचे तब बिम्बिसार स्वयं व्यक्तिगत रूप से उनसे मिला, एवं उनके उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उसने वेलुवन नामक उद्यान बुद्ध तथा संघ के लिए प्रदान किया। 'दीघनिकाय' के अनुसार मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार पुत्र सहित, भार्या सहित, परिषद सहित, अमात्य सहित, प्राणों से श्रमण गौतम का शरणागत हुआ है। बिम्बिसार ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए नाव से गंगा पार करने की व्यवस्था निःशुल्क किये जाने के आदेश प्रदान किये। उसने अपने राजवैद्य जीवक को बुद्ध एवं संघ का चिकित्सक नियुक्त कर दिया। सुमंगलविलासीनी एवं दीघनिकाय के अनुसार बिम्बिसार ने भगवान बुद्ध का नाम लेते हुए अपने प्राण त्यागे थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में विद्वानों का अनुमान है कि बिम्बिसार व्यक्तिगत जीवन में बौद्ध धर्म का अनुयायी था लेकिन जैन धर्म के प्रति भी उसका समादर भाव था एवं ब्राह्मण धर्मानुयायियों का भी वह सम्मान करता था जैन ग्रन्थ उतराध्ययन सूत्र के अनुसार राजाओं में सिंह, बिम्बिसार दूसरे सिंह अर्थात भिक्षुओं में सिंह (अणागार सींह) महावीर के पास, अपनी रानियों एवं सम्बन्धियों के साथ, विनम्रतापूर्वक आया और उसने जैन धर्म में श्रद्धा व्यक्त की।

ब्राह्मण धर्म के प्रति बिम्बिसार के उदार दृष्टिकोण की जानकारी दीघनिकाय से मिलती है जिसमें कहा गया है कि उसने सोण्दाण्ड नामक ब्राह्मण को चम्पा की पूरी आय द न में दे दी। कुल मिलाकर बिम्बिसार व्यक्तिगत रूप से बौद्ध मतावलम्बी होते हुए भी एक धर्मसहिष्णु शासक था एवं अन्य धर्मो के प्रति भी उदार दृष्टिकोण रखता था।

हेनसांग के अनुसार बिम्बिसार ने पुराने राजगृह (गिरीव्रज) के स्थान पर नये राजगृह की स्थापना की और उसने अपनी राजधानी बनाया। इसका कारण यह बताया गया कि वज्जियों के कारण पुराने राजगृह में आग लग गई थी। राजगृह नगर के भवनों एवं राजप्रसादों का निर्माण करने वाला उस समय प्रसिद्ध वास्तुकार महागोविन्द था। सुमंगलविलासिनी के अनुसार इस नगर में 32 महाद्वार एवं 64 छोटे द्वार थे। लेकिन फाह्यान के विवरण के अनुसार नये राजगृह का निर्माण अजातशत्रु ने किया था। बिम्बिसार ने यातायात तथा संचार व्यवस्था को भी विकसित करने का प्रयास किया। हेनसांग ने अपने वृतान्त में बिम्बिसार सेतु एवं बिम्बिसार मार्ग का उल्लेख किया है।

बिम्बिसार ने 493 ई.पू. तक अर्थात 52 वर्षो तक शासन किया। लेकिन उसके जीवन के अंतिम समय बड़ा दुखद रहा। बौद्ध तथा जैन साहित्य से विदित होता है कि बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने पिता के सुदीर्घ शासन काल से परेशान होकर उसे बंदीगृह में डाल दिया। बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अनुसार आजतशत्रु ने बंदीगृह में अपने पिता को मरवा दिया। जबकि जैन ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार ने कारागार में विष खाकर अपने प्राण दे दिये। इस प्रकार मगध साम्राज्य के प्रवर्तक एवं सुयोग्य संस्थापक, बिम्बिसार का बड़ा दुःखमय अन्त हुआ।

### 8.3.3 अजातशत्रु (493 ई. पू. – 461 ई.पू.)

बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु बड़ा उत्कृष्ट साम्राज्यवादी था और उसने आरम्भ से ही विस्तार की नीति अपनाई। अजातशत्रु का दूसरा नाम कुणिक या कुणिय था। अजातशत्रु ने अपनी आक्रामक नीत से मगध के साम्राज्य में भारी विस्तार किया तथ उसकी प्रभुता और शक्ति सम्पन्नता को उंचाईयों के नये आयम प्रदान किये। उसका शासन हर्यक वंश का चरमोत्कर्ष काल था।

डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी के शब्दों में कुणिक अजातशत्रु ने चाहे जिस ढंग से सिंहासन प्राप्त किये हो किन्तु वह बड़ा ही सशक्त शासक सिद्ध हुआ ..... अजातशत्रु ने अपने पिता की नीति का ही पालन किया, यद्यपि पिता से उसके सम्बन्ध कभी भी अच्छे नही थे।

**8.3.3.1 कौशल से युद्ध** :– बिम्बिसार की मृत्यु के बाद, पति के वियोग के दुख में उसकी पत्नी कौशला देवी (कोसल के राजा प्रसेनजित की बहिन) की भी मृत्यु हो गई। प्रसेनजित मगध में हुए घटनाक्रम से बड़ा क्रुद्ध था तथा उसने कौशलादेवी को विवाह के समय दहेज में दिये गये काशी के क्षेत्र पर पुनः अधिकार कर लिया। इसी प्रश्न को लेकर मगध एवं कौशल में संघर्ष छिड़ गया जो एक लम्बे समय तक चलता गया। इस संघर्ष के दौरान अनेक लड़ाईयाँ लड़ी गई। जिसमें दोनो पक्षों की कई बार जय पराजय हुई। प्रारम्भ में अजातशत्रु ने अनेक बार प्रसेनजित को परास्त किया तथा प्रसेनजीत को भाग कर श्रावस्ती में शरण लेनी पड़ी। बाद में अजातशत्रु पराजित हुआ तथा बन्दी बना लिया गया। अंत में दोनो राज्यों ने शांति एवं मैत्री सन्धि स्थापित कर ली जो मगध के अनुकूल थी। इस सन्धि के अनुसार प्रसेनजित ने अपनी कन्या राजकुमारी वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया तथा काशी क्षेत्र मगध को पुनः प्रदान किया गया।

**8.3.3.2 वज्जिसंघ पर विजय** :– अजातशत्रु के जीवन काल की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण घटना वज्जि संघ पर उसकी विजय थी जो बड़े जबरदस्त कुटनीतिक चातुर्य एवं दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात हासिल हुई थी।

मगध एवं वज्जिसंघ के मध्य संघर्ष के लिए निम्नलिखित कारण जान पड़ते है –

1. अजातशत्रु की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा तथा गंगा के दोनो तटों पर अधिकार करने की उसकी प्रबल इच्छा बिम्बिसार ने अंग को मगध में मिलाकर चम्पा के महत्वपूर्ण बंदरगाह पर अधिकार कर लिया। डॉ. ए.एल. बैशम के अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

''अजातशत्रु ने अपना ध्यान अपने उत्तर में स्थित वज्जिसंघ की ओर केन्द्रित किया, क्योंकि इस क्षेत्र की विजय से गंगा के दोनो तटों पर उसका अधिकार हो जाता।

2. 'महापरिनिब्बान सुप्त' एवं सुमंलविलासिनी से ज्ञात होता है कि गंगा के तट पर अवस्थित एक बन्दरगाह आधा अजातशत्रु के अधिकार में था और आधा लिच्छवियों के। इसके निकट अवस्थित एक पर्वत पर रत्नों की खान मिली। इस खान से मिलने वाली वस्तुओं को लिच्छवी गणराज्य एंव मगध राज्य के मध्य सामुनापातिक रूप से विभाजित करने का निर्णय लिया गया। लेकिन लोभी लिच्छवी इस संधि की अवज्ञा करते हुए मिलने वाले सभी रत्न अपने साथ ले गये। इससे अजातशत्रु बहुत कुपित हुआ उसने कुद्ध होकर कहा मैं वज्जियों का उन्मूलन कर दूंगा। चाहे वे कितने ही बली एवं ताकतवर क्यों न हो मैं इन वज्जियों को उजाड़ दूंगा मैं इन्हे नेस्तानाबूद करके रहूंगा। जैन ग्रन्थ 'निरयावली सुत्र' के अनुसार बिम्बिसार ने अपनी लिच्छवी पत्नी से उत्पन्न पुत्रों हल्ल और बेहल्ल को अपना प्रसिद्व हाथी सेयणग तथा 18 लड़ियों का हार उपहार में दिया था। अजातशत्रु के राजा बनने के बाद उसकी पत्नी पऊमाबई ने सेयणन हाथी एवं 18 लड़ियों के उक्त हीरों के हार को स्वयं प्राप्त करने की अभिलाषा जताई। अजातशत्रु ने अपने छोटे भाईयों हल्ल व बेहल्ल से सेयणन एवं हिरों के हार को वापिस देने के लिए कहा। लेकिन ये दोनो अजातशत्रु की अवज्ञा करते हुए अपने नाना लिच्छवियों के प्रधान राजा चेटक के पास भाग गये। अजातशत्रु ने चेटक से अपने दोनो भाईयों को हाथी व हार सहित वापिस भेजने का अनुरोध किया। चेटक द्वारा अजातशत्रु की इस मांग को अस्वीकार कर देने पर अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। (न ददासि तदा युद्ध सज्जो भवमीति)

वज्जिसंघ अपनी एकता एवं युद्ध कौशल के कारण बहुत शक्तिशाली थी। अजातशत्रु को इसबात का आभास था कि मात्र सैनिक आक्रमण द्वारा वज्जिसंघ का पराभाव संभव नही है। अतः उसने वज्जिसंघ पर आक्रमण करने से पूर्व उसे आन्तरिक रूप से दुर्बल करने की योजना बनाई। महापरिनिब्बात सुत के अनुसार वज्जिसंघ के विरूद्व युद्व छेड़ने से पूर्व अजातशत्रु ने अपने महामात्य ब्राह्मण वस्सकार को महात्मा बुद्ध के पास भेजा कि वह उनसे इस बारे में परामर्श ले । महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया कि जब तक वज्जि लोग सात नियमों का पालन करते रहेंगें तब तक उन्हे हरा पाना संभव नही है। ये सात नियम इस प्रकार से है :– 1. वज्जि संघ द्वारा निश्चित समय पर सभी सदस्यों की उपस्थिति से युक्त सम्मेलन 2. नीति सम्बन्धी एकत्व 3. श्रेष्ठ प्राचीन परम्पराओं का अनवरत पालन 4. वृद्धों का आदर 5. चैत्य पूजा 6. अर्हतों का आदर 7. स्त्रियों का सम्मान

महात्मा बुद्ध के उपर्युक्त कथन से अजातशत्रु को यह दृष्टिबोध हुआ कि वज्जिसंघ की आंतरिक एकता को भंग किये बिना उसे परास्त करना संभव नही है। अत उसने इस हेतु अपने मंत्री वस्सकार के सहयोग से वज्जिसंघ में फुट डालकर उसे अंदर से कमजोर करने की योजना बनाई। इस योजना के तहत अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार से एक छद्म विवाद का नाटक किया और वस्सकार को अपने राज्य से निकाल दिया। मगध से निष्कासित वस्सकार ने पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार वैशाली में पनाह ली। लिच्छवि लोग भूलावे में आ गये और उन्होने वस्सकार को अपना मित्र समझकर, उसे उंचे पद पर आसीन कर दिया। उसने लिच्छवियों का विश्वास इस कदर जीत लिया कि उसे परिसंघ का मुख्य न्यायाधीश बना दिया गया। अपने पद का लाभ उठाते हुए वस्सकार ने लिच्छवियों में आपसी संदेह, अविश्वास व फूट के बीच बो दिये। वस्सकार को इस कार्य को पूरा करने में तीन वर्ष लगे। इस बीच उसने लिच्छवियों के बहुत से महत्त्वपूर्ण अन्तभेद भी जान लिये।

इस दौरान अजातशत्रु ने मगध मे वज्जियों के खिलाफ उपयुक्त समय पर सैनिक अभियान छेड़ने के लिए आवश्यक तैयारीयों में जुट गया। मगध की राजधानी राजगृह गंगा से दक्षिण की और काफी हटकर थी। वैशाली से इतनी दूर पड़ती थी कि वहां पर युद्ध कार्यो को द्रुत एवं प्रभावी संचालन नही हो सकता था। अतः अजातशत्रु ने गंगा के किनारे पाटलीपुत्र में एक नये दुर्ग का निर्माण कराया। इसी पाटलिग्राम में कालान्तर में राजधानी पाटलिपुत्र की स्थापना की गई थी। अपनी कूटनीतिक एंव सैनिक तैयारियों से पूर्ण आश्वस्त होने के बाद अजातशत्रु ने वज्जिसंघ पर आक्रमण कर दिया। जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वज्जियों ने अजातशत्रु का सामना करने के लिए अन्य समकालीन राज्यों से मिलकर एक संयुक्त मोर्चे का गठन कर लिया था। भगवती सूत्र के अनुसार अजातशत्रु ने 9 लिच्छवियों, 9 मल्लों तथा काशी कौसल के 18 गणराजाओं के संघ को परास्त कर दिया था (नव मल्लह, नव लेच्छई, कासी कोसलगा अट्टारवीं गणरायाणों पराजइत्था) इस प्रकार के संघ का गठन वस्तुतः मगध के बढ़ते प्रभाव के विरोध में चल रहे आन्दोलन का प्रतीक था। डॉ.

राय चौधरी के अनुसार जिस प्रकार रोम के प्रभाव के विरूद्व सैमनाईटों, इट्रस्कनों तथा गॉलों को संघर्षरत होना पड़ा था, उस प्रकार मगध के विरूद्व धुंधुआते धूएँ ने भी युद्ध की पलटों का रूप ग्रहण कर लिया।

अजातशत्रु ने एक बड़ी सेना के साथ वज्जिसंघ पर आक्रमण कर दिया। जैन ग्रन्थ 'भवगती सूत्र' के अनुसार अजातशत्रु ने इस युद्व में पहली बार दो नये किश्म के युद्व यन्त्रों का प्रयोग किया। ये नवीन युद्व यंत्र थे – महाशिलाकण्टक एवं रथमूसल। महाशिलाकण्टक एक प्रकार का इंजिन या शिला प्रेक्षापास्त्र था जो बड़े बड़े पत्थरों या शिलाखण्डो को भीड़ पर फेंकने का कार्य करना था। रथमूसल एक प्रकार का रथ था जिसमें बड़ी बड़ी गदाऐं या मूसल जड़े होते थे और यह इधर उधर चक्कर लगाकर सैकड़ों का काम तमाम कर देता था। इस रथमूसल की तुलना आधुनिक टेंक से की जा सकती है। रथमूसल यंत्र को बिना घोड़ो और सारथी के चलने वाला कहा गया था। जिससे प्रतीत होता है कि या तो कोई व्यक्ति इसके भीतर छिपकर बैठा हुआ पहियों को चलाता था या किसी स्वचालित यंत्र से युक्त होने के कारण स्वयं गति करता था।

अजातशत्रु की भीषण तैयारियों एवं वज्जिसंघ की आंतरिक दुर्बलता के बावजूद यह युद्व बड़ा दीर्घकालीन था। जैन ग्रन्थों से संकेत मिलता है कि यह युद्ध 16 वर्ष से भी अधिक समय तक चला। अंत में लिच्छवि बुरी तरह पराजित हुए तथा उनके शासक चेटक ने एक कुएं में डूबकर अपनी जान दे दी।

लिच्छवीयों के पतन के साथ ही अजातशत्रु ने वैशाली पर अधिकार स्थापित कर लिया। अनुमान है कि मल्ल गणराज्य एवं अन्य लघु गणराज्य भी मगध में शामिल कर लिये गये। मगध की सीमाऐं अब बहुत विस्तृत हो गई तथा पूर्वी भारत में उसकी सम्प्रभुता स्थापित हो गई। बौद्व ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार के राज्य में 300 योजन भूमि थी जो अजातशत्रु की विजयों से 500 योजना हो गई। आयुमंजूश्रीमूलकल्प के अनुसार अजातशत्रु के राज्य में मगध, अंग, काशी और वैशाली के प्रदेश थे।

**8.3.3.3 अवंति से टकराव की स्थिति** :– अजातशत्रु की उपर्युक्त सफलताओं के कारण मगध की पूर्वी भारत मे सम्प्रभता स्थापित हो गई। और अब उसका संघर्ष मध्य भारत के प्रतापी राजा प्रद्योत से होना अवश्यम्भावी हो गया। मरिझम निकाय में कहा गया है कि अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह का दुर्गीकरण इसलिए करवाया क्योंकि उसे प्रद्योत के आक्रमण की आशंका थी। लेकिन अजातशत्रु के काल में मगध और अवंतिराज प्रद्योत के मध्य किसी शक्ति संघर्ष की हमें कोई जानकारी नही मिलती। उत्तरी भारत की निर्विवाद सत्ता के लिए इन दो शक्तियों के मध्य अजातशत्रु की मृत्यु से पूर्व संघर्ष नही हो पाया। संभवतः अजातशत्रु एवं प्रद्योत दोनो एक दूसरे से भयभीत थे। अजातशत्रु ने अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह वत्सराज उदयन के साथ कर वत्स को अपना मित्र बना लिया। इस सम्बन्ध में कारण अनुमानतः अवंतिराज प्रद्योत मगध के विरूद्व वत्स का सहयोग न पाकर निरूत्साहित हुआ होगा।

**8.3.3.4 धर्म और कला** – अजातशत्रु अपने पिता बिम्बिसार की भाँति, धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु एवं उदार शासक था उसे भी जैन तथा बौद्व ग्रन्थ दोनों ही अपना अनुयायी बताते है। लेकिन उपलब्ध प्रमाणों में यह संकेत मिलता है कि पहले वह जैन धर्म से प्रभावित था, किन्तु बाद में बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया। (जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि वह अपनी रानियों एव परिजनों के साथ निगण्ठ नाठपुत्त (निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र अर्थात महावीर) में अक्सर मिलने जाता था। लेकिन बाद में अजातशत्रु भगवान बुद्ध का अनुयायी हो गया। इसका पुरातात्विक प्रमाण द्वितीय शताब्दी ई.पू. की भरहुत वेदिका पर अजातशत्रु द्वारा बुद्ध की शरण में आने का दृश्य और यह अभिलेख अंकित है।– अजातशत्रु भगवान बुद्ध की वन्दना करता है। (अजातशत्रु भगवतों वन्दते) 'महापरिनिवान सुत्त' में भी अजातशत्रु को भगवान के चरणों में वन्दना करते हुए बताया गया है।

अजातशत्रु के राज्य काल में महात्मा बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था। बुद्ध के निर्वाण के बाद अजातशत्रु ने बुद्ध के भग्नावंशषों को एक अंश मांगा था। उल्लेख आता है कि महाकस्सप ने अवशेषों का मुख्य भाग अजातशत्रु को दिया, जिस पर उसने एक स्तूप बनाया। महावंश का कथन है कि अजातशत्रु ने अपनी राजधानी में चातुर्दिक धातु चैत्यों का निर्माण करवाया एवं 18 बौद्ध महाविहारों का जीर्णोद्वार करवाया।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात उनकी शिक्षाओं को व्यवस्थित करने के लिए अजातशत्रु के तत्वावधान में राजगृह की सप्तपर्णि गुफा में प्रथम बौद्व संगति का आयोजन किया गया। जिसमें 500 प्रतिष्ठित भिक्षुओं व स्थविरों ने भाग लिया। इस संगति में बुद्व की शिक्षाओं को दो पिटकों – विनयपिटक एवु सुत्तपिटक में संकलित किया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 8.3.4 उदायिन या उदयभद्र (461 ई.पु. – 445 ई.पू.)

अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदायिन या उदयभद्र गद्दी पर बैठा जो अपने पिता के राज्यकाल में चम्पा का उपराजा था। उदायिन के काल में सबसे महत्वपूर्ण घटना है गंगा के तट पर मगध की नयी राजधानी पाटलिपुत्र का निर्माण। काशी, अंग या वज्जि राज्य के मगध में विलीनीकरण के बाद मगध साम्राज्य बहुत बड़ा हो गया था और उसकी उत्तरी सीमा हिमालय की तलहटी में पहुच गई थी। अतः राजधानी की दृष्टि से अब राजगृह उपयुक्त नही था। उदायिन ने अजातशत्रु द्वारा पाटलीग्राम में बनवाये गये दुर्ग को एक नये विस्तृत नगर का रूप प्रदान किया और उसे मगध की राजधानी बना दिया। यह नगर पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ। विस्तृत मगध राज्य के केन्द्र में स्थित होने के कारण पाटलिपुत्र नयी राजधानी के लिए सही जगह थी। इसके अलावा गंगा और सोन नदियों कें संगम पर स्थित होने के कारण पाटलिपुत्र नगर के अनेक व्यापारिक एवं सामरिक लाभ थी थे।

इस समय अवन्ति राज्य ही मगध के प्रतिस्पर्धी राज्य के रूप में बचा था। इस समय तक वत्स राज्य को अवंति के राजा पालक ने अपने राज्य में मिला लिया था और अवंति राज्य की सीमाऐं उत्तर पूर्व में अब मगध से टकरा रही थी। मगध और अवंति के मध्य शक्ति संघर्ष अजातशत्रु के काल में ही संभावित था, लेकिन उदयिन के समय भी इन दोनो राज्यों के मध्य निर्णायक युद्व नही हो सका।

### 8.3.5 उदायिन के उतराधिकारी (445 ई.पू.–412 ई.पू.)

सिंहली बौद्धग्रन्थों में उदायीन के तीन उत्तराधिकारियों का उल्लेख है। अनिरूद्व, मुण्डक, और नागदासक (या दर्शक) जिन्होने क्रमशः राजय किया। इन तीनों को पितृहन्ता कहा गया है। ये बडे कमजोर एवं विलासी शासक थे। पितृहन्ता होने के कारण मगध के मंत्रियों एवं नागरिकों ने हर्यक वंश के अंतिम राजा नागदासक को सिहासन से उतार कर उसके पूरे राजपरिवार को निष्कासित कर दिया तथा शिशुनाग नामक एक योग्य अमात्य को राजा के पद पर आरूढ़ कर दिया। इस प्रकार मगध के हर्यक वंश के शासन का अंत हुआ। तथा नये वंश शैशुनाग वंश के शासन का आरम्भ।

## 8.4 मगध साम्राज्य के विकास का द्वितीय चरण

### 8.4.1 शैशुनाग वंश (412 ई.पू.–344 ई.पू)

शिशुनाग के नाम पर इस वंश का नाम शैशुनाग पड़ा। यह भी नागवंश का ही किसी शाखा से सम्बद्ध था। शिशुनाग शब्द के अर्थ 'लघु या छोटा नाग' से यह संकेत मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्ट योग्यता के कारण ही अमात्य का चयन मगध के राजा के रूप में किया गया। डॉ. राय चौधरी के अनुसार शिशुनाग पहले बनारस का उपराजा था। सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार, शिशुनाग हर्यकवंश के अंतिम राजा नागदासक का प्रधान सेनापति था और उसका सेना के ऊपर पूर्ण नियंत्रण था।

शिशुनाग के काल की एक महत उपलब्धि अवंति के प्रद्योत वंश पर उसकी शानदार विजय थी। पुराणों का कथन है कि,''पांच प्रद्योत पुत्र 138 वर्षो तक शासन करेंगें। इन सब को मारकर शिशुनाग राजा बनेगा।' शिशुनाग द्वारा परास्त प्रद्योतवंशीय अवंतिनरेश, डॉ. रायचौधरी के अनुमान के अनुसार अवन्तिवर्धन था।

अवंति विजय ने मगध साम्राज्य को उत्कर्ष के एक प्रबल शिखर पर पहूंचा दिया। अवंति विजय से मगध का वत्स राज्य पर भी अधिकार स्थापित हो गया क्योंकि वत्स जनपद अवंति के अधीन था। मगध राज्य उतरी भारत का एक परम शक्तिशाली राज्य बन गया तथा उसके अधीन बंगाल की सीमा से लेकर मालवा तक का विशाल भू क्षेत्र आ गया। अब उत्तर भारत में मगध का कोई प्रतिस्पर्धी नही बचा। शिशुनाग ने मगध की राजधानी पुनः गिरीव्रज (राजगृह) को बना दिया। उसने वैशाली नगर को मगध की दूसरी राजधानी बनाई जो बाद में उसकी मुख्य राजधानी हो गई। शिशुनाग ने 18 वर्ष तक शासन किया।

### 8.4.2 कालाशोक या काकवर्ण (394 ई.पू. से 366 ई.पू.)

शिशुनाग के पश्चात उसका पुत्र कालाशोक (काले रंग का अशोक) या काकवर्ण (जिसका रंग काक जैसा था) मगध का राजा बना। उसके राज्य काल की दो घटनाऐं महत्वपूर्ण है। प्रथम, उसके तत्वावधान में वैशाली के बालिकाराम विहार में बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति का आयोजन, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष पूरे हो जाने के उपलक्ष्य में किया गया। इस संगीति के बाद बौद्ध संघ में विभेद हो गया तथा वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। स्थविर एवं महासंधिक। कालान्तर में ये सम्प्रदाय हीनयान एवं महायान के रूप में विकसित हुए कालाशोक या काकवर्ण के काल की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूसरी महत्वपूर्ण घटना उसके द्वारा मगध की राजधानी को अंतिम रूप से पुनः पाटलिपुत्र को स्थानान्तरित किया जाना है। इसके बाद पाटलिपुत्र की मगध ही राजधानी बना रहा। कालाशोक ने 28 वर्ष तक शासन किया।

### 8.4.3 कालाशोक के उतराधिकारी (366 ई.पू – 344 ई.पू)

महावंश के अनुसार कालाशोक के दस पुत्र थे जिन्होने सम्मिलित रूप से 22 वर्ष राज्य किया। इन दस राजाओं के नामों में केवल नन्दिवर्धन का नाम पौराणिक सूची में मिलता है। इसके पश्चात मगध में शैशुनाग वंश के शासन का अंत हुआ और नन्द वंश के शासन का आरम्भ

## 8.5 मगध साम्राज्य के विकास का तृतीय चरण

### 8.5.1 नन्द वंश (344 ई.पू. – 322 ई.पू.)

नंन्दकाल वृहद मगध साम्राज्य की स्थापना का काल था। नन्द वंश के 9 राजाओं के नाम मिलते है जिन्हे सम्मिलित रूप से नवनन्द कहा जाता है। महाबोधिवंश के अनुसार ये 9 नन्द राजा इस प्रकार है – उग्रसेन, पण्डुक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक, दशसिद्धक, कैवर्त तथा धननन्द

### 8.5.2 महापद्मनन्द उग्रसेन

नंद वंश का संस्थापक महापद्मनन्द उग्रसेन था जिसने मगध में शैशुनाग वंश का अंत कर नंदवंश के शासन की स्थापना की। पुराणो में उसका नाम महापद्म या महापद्मपति (असीम सेना अथवा अपार धन का स्वामी) दिया गया है। महाबोधिवंश के अनुसार इस राजा का नाम उग्रसेन (प्रचंड सेना का स्वामी) था। भारतीय एवं विदेशी दोनो स्त्रोतों से नन्दों की साधारण एवं अनभिजात उत्पति का संकेत मिलता है। पुराणों का कथन है कि महापद्मनन्द शैशुनाग वंश के अंतिम राजा महानन्दिन की शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न (शुद्रागर्भोदभव) हुआ था। जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वन के अनुसार यह नापित (नाई) पिता तथा नगरशोभिनी माता का पुत्र था। युनानी लेख कर्टियस ने सिकन्दर के समकालीन मगध के राजा अग्रमीज इसका संस्कृत रूपान्तरण है। औग्रसेन्य अर्थात उग्रसेन का पुत्र के बारे में लिखा है कि उसका पिता (अर्थात महापद्मनन्द उग्रसेन) जाति का नाई था। देखने में वह बड़ा सुन्दर था। इसलिए वह रानी का प्रेमपात्र बन गया तथा उसके प्रभाव में राजा का विश्वास प्राप्त कर उसके अत्यन्त निकट पहुँच गया। उसने छल से राजा की हत्या कर दी तथा राजकुमारों के संरक्षण के बहाने कार्य करते हुए उसने राजसत्ता हथिया ली। आखिर में उसने इन राजकुमारों की भी हत्या करवा दी। तथा वर्तमान राजा का पिता हुआ। इस कथन से उग्रसेन द्वारा काकवर्ण की हत्या का भी संकेत है। बाणभटट के हर्षचरित में कहा गया है कि काकवर्ण की राजधानी के समीप घूमते हुए किसी व्यक्ति ने गले में छुरा भोंककर हत्या कर दी है। यह हत्यारा अनुमानतः महापद्मनन्द ही था। इसके बाद वह काकवर्ण के 10 पुत्रों का संरक्षक बनकर राज्य करने लगा। कुछ समय बाद उसने इन राजकुमारों की भी हत्या कर शिशुनाग वंश का अंत कर दिया। महापद्मनन्द उग्रसेन एक शक्तिशाली राजा एवं महान विजेता था। मगध के पूर्व राजाओं ने राज्य विस्तार का जो कार्य आरम्भ किया था उसे महापद्मनन्द ने पूरा किया।

पुराणों में महापद्मनन्द को एकछत्र शासन की स्थापना करने वाला एकराट राजा कहा गया है (एकराट् स महापद्म एकछत्रो भविष्यति) उसे कलि का अंश (कलिकांशज) तथा सभी क्षत्रियों का नाश करने वाला (सर्वक्षत्रान्तक) राजा कहा गया है। इससे यह अर्थ निकलता है कि शैशुनाग वंश के समकालिक जितने भी क्षत्रिय वंश थे, महापद्मनन्द ने उन सभी का अंत कर दिया। ये वंश है – इक्ष्वाकु, पंचाल, काशेय, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरू, मैथिल, शूरसेन और वीतिहोत्र। इन राजवंशों का विवरण इस प्रकार से है :–

1. इक्ष्वाकु कोशल (वर्तमान अवध का क्षेत्र) के क्षेत्र पर राज्य कर रहे थे। कौशल पर महापद्मनन्द के अधिकार का संकेत सोमदेव के कथासरित्सागर से भी मिलता है। जिसमें एक स्थल पर अयोध्या में नंद के शिविर का उल्लेख किया गया है।
2. पांचाल लोग वर्तमान मे रूहेलखण्ड (बरेली, बदाँयू, फर्रूखाबाद क्षेत्र) के क्षेत्र के शासक थे। अनुमान है कि पांचलो के मगध राज्य से नन्दों से पूर्व कभी लड़ाई नही हुई थी। महापद्मनन्द ने उन्हे परास्त कर अपने अधीन कर लिया होगा।
3. कौशय वंश के लोग वाराणसी के आस पास बसे हुए थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. हैहय वंश का अधिकार नर्मदा घाटी के एक हिस्से पर धा और उनकी राजधानी महिष्मती थी।

5. कलिंगों का अधिकार उड़ीसा, में वैतरणी नदी से लेकर विशाखापट्नम में वराह नदी तक के बड़े क्षेत्र पर था। खारवले के हाथीगम्फा के अभिलेख से भी नंद वंश का कलिंग के एक भाग पर आधिपत्य सिद्ध होता है। इस अभिलेख में नंदराजा द्वारा कलिंग में खुदाई गई एक नहर का उल्लेख है।

6. अश्मकों का शासन गोदावरी घाटी में एक भाग में था। आन्ध्रप्रदेश के निजामाबाद के पश्चिम में नौनंद – देहरा (नंदेर) नामक नगर अवस्थित है। जो डॉ. रायचौधरी के अनुसार इस बात का संकेत है कि अश्मक वंश की प्राचीन भूमि भी नौनंदों के राज्य क्षेत्र में आ गई थी। यद्यपि किसी समसामयिक अथवा अर्धसमसामयिक लेखक ने इस बात की पुष्टि नही की है।

7. कुरू लोग पांचाल की पश्चिमी क्षेत्र में बसे हुए थे। इनका राज्य गंगा से लेकर थानेश्वर के पास सरस्वती तक विस्तृत था। इसी के मध्य कुरूक्षेत्र अवस्थित था। यूनानी लेखकों द्वारा उल्लेखित गांगेय क्षेत्र जो नंद वंश के अधीन कहा गया है। के संदर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि नंद वंश ने कुरूक्षेत्र को भी जीत लिया होगा।

8. मैथिल लोग रामायण – महाभारत में उल्लिखित नगरी मिथिला के निवासी थे। जिसकी पहचान नेपाल की सीमा पर स्थित वर्तमान जनकपुर से की जाती है। इसके आसपास अवस्थित वज्जिसंघ के अधिकांश भू भाग को अजातशत्रु ने अपने राज्य में मिला लिया। लेकिन नेपाल की तराई के जंगलों में मिथिला के राजा एक सीमा तक निश्चित रूप से स्वतन्त्र रहे होंगें। लेकिन ऐसा लगता है कि महापद्मनन्द ने उनकी वतन्त्रता का अंत कर दिया। वैशाली को सैनिक अड्डा बना सकने के कारण नन्द अधिक सफल हुए।

9. शूरसेनों का क्षेत्र वर्तमान ब्रजमण्डल था। तथा यमुना के तट पर अवस्थित मथुरा इनकी राजधानी थी।

10. वतिहोत्र लोगों का सम्पर्क, पुराणों के अनुसार, अवन्ति और हैहय लोगों से था। अनुमानतः उनका राज्य इन दोनो के मध्य अवस्थित रहा होगा।

उपर्युक्त विजयों के परिणामस्वरूप महापद्मनन्द उग्रसेन ने मगध को भारत के एक विशाल साम्राजय का रूप प्रदान किया। भारत के इतिहास में पहली बार एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना हुई जिसमें भारत की गंगाघाटी के सम्पूर्ण क्षेत्र के साथ गंगाघटी के बाहर स्थित प्रदेश तथा दक्षिण भारत का महत्वपूर्ण भू भाग सम्मिलित था। डा. रायचौधरी के शब्दो में नन्दवंश के अन्तर्गत भारत के अधिकांश भागों को एकताबद्ध किया गया। जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन में नन्दों के 'आसमुद्र' राज्य अर्थात समुद्र तट तक समूचे प्रदेश पर उनके अधिकार का उल्लेख है। युनानी लेखक कर्टियस के विवरण के अनुसार अग्रमीज (औग्रसैन्य – उग्रसेन का पुत्र) का राज्य पश्चिम में हाईफाईसिस अर्थात व्यास नदी तक विस्तृत था। अग्रमीज की किसी विजय का उल्लेख नही मिलता, अतः उपर्युक्त उल्लेख उसके पिता उग्रसेन महापद्मनन्द द्वारा इस क्षेत्र तक की गई विजयों का संकेत है। भारत के विभिन्न प्रदेशों पर महापद्मनन्द का अधिकांश पुराणों के अंतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र साक्ष्यों से सिद्ध होता है। जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। कोसल पर उसके आधिपत्य की जानकारी कथासरित्सागर से मिलती है। खारवेल का हाथीगंम्फा अभिलेख उसकी कलिंग विजय को प्रमाणित करता है। गोदावरी की घाटी में स्थित अश्मकों के राज्य पर नन्दों के प्रभुत्व का आशिक पुष्टिकरण गोदावरी तट पर स्थित नौ नन्द देहरा (नंदेर) नगर के अस्तित्व से होता है। कर्नाटक से प्राप्त कुछ परवर्तीकालीन शिलालेखों में यह उल्लेख है कि कुन्तल प्रदेश में कभी नंद वंश का राज्य था। कुंतल प्रदेश में दक्षिणी महाराष्ट्र एवं उत्तरी कर्नाटक का भाग आता है। डॉ. रायचौधरी के अनुसार नन्द राजाओं ने दक्षिणी भारत में काफी भाग अपने अधिकार में कर लिया था।

**महापद्मनन्द के उतराधिकारी** :– पुराणों एवं बौद्व ग्रन्थों से जानकारी मिलती है कि महापद्मनन्द के बाद उसके आठ पुत्रों को उत्तराधिकारी मिला जो बारी बारी से मगध के सिंहासन पर बैठे। पुराणों के अनुसार, इन लोगों का शासन काल 12 वर्ष का था। महाबोधिवंश के नन्दवंश के अनुसार अंतिम राजा का नाम धननन्द था जो सिकन्दर का समकालीन था इसे ही संभवतः यूनानी लेखकों ने अग्रमीज (औग्रसैन्य अर्थात् उग्रसेन का पुत्र) कहा है। यूनानी लेखकों के अनुसार उसके पास विशाल सेना तथा अतुल सम्पत्ति थी। भारतीय ग्रंथों से ज्ञात होता है कि यह सम्पत्ति उसने प्रजा पर भारी कर लगाकर अर्जित की थी, जिसके कारण जनता उससे घृणा करती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य ने इस जन असंतोष का लाभ उठाते हुए धननन्द की हत्या कर दी। इसके साथ ही मगध पर नंद वंश का शासन समाप्त हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 8.6 नन्द साम्राज्य का महत्व

भारत के इतिहास में नन्द साम्राज्य का अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान है।

नंद वंश की स्थापना से एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की संभावना स्पष्टतर हुई। नीलकण्ठ शास्त्री (नंद मौर्ययुगीन भारत) के अनुसार इतिहास में पहली बार एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना हुई जिसकी सीमाऐं गंगा के मैदानों को लांघ गई। यह साम्राज्य वस्तुतः स्वतंत्र राज्यों या ऐसे सामंतों का शिथिल संघ न था जो किसी शक्तिशाली राजा के बल के सम्मुख नतमस्तक होते हैं अपितु एक एकराट् की छत्रछाया में एक अखंड राजतंत्र था जिसके पास अपार धन बल और जन बल था।सामाजिक दृष्टि से नन्द साम्राज्य को साधारण एवं अभिजात वर्ग के उत्कर्ष का प्रतीक माना जाता है। यहां से क्षेत्रीय रक्त पर अभिमान करने वाले राजवंशों की अखंड परम्परा का अन्त हो गया।

प्रशासनिक दृष्टि से नंद राजाओं ने इतने विस्तृत साम्राज्य पर कुशल एकात्मक शासन स्थापित करने का प्रयास किया। यूनानी लेखक एरियन ने व्यास के पार 'आंतरिक शासन की उत्कृष्ट व्यवस्था' का उल्लेख किया है। ब्राह्मण तथा जैन ग्रंथों में कहा गया है कि नन्द के दरबार में एक से एक अच्छे और योग्य मंत्री थे। नंदराजाओं के पास एक विशाल सेना थी जो बडी शक्तिशाली, सुसज्जित और सुव्यवस्थित थी। यूनानी लेख कर्टियस के अनुसार नंद वंश के अंतिम राजा के बीस हजार घुड़सवार दो लाख पैदल, चार घोडों वाले दो हजार रथ और इन सब से बढ कर हाथी जिनकी संख्या तीन हजार तक पहुंच जाती थी देश के प्रवेश मार्गों की रक्षा के लिए तैनात रहते थे। डायोडोरस और प्लूटार्क ने हाथियों की संख्या क्रमशः चार हजार और छह हजार बताई है।

नन्द राजा असाधारण एवं विपुल धनसम्पत्ति के स्वामी थे। कथासारित्सागर के अनुसार नन्दों के पास 11 करोड स्वर्ण मुद्राऐं थी। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार धननन्द ने 80 करोड धनराशि गंगा के भीतर एक पर्वत गुफा में छुपा रखी थी। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस एवं ह्वेनसांग के यात्रा वृतांत में नन्दों की विशाल सम्पत्ति का उल्लेख है। नन्दों की इस अतुल धनसंपदा के दो कारण जान पडते हैं एक तो गंगा घाटी के सम्पूर्ण उपजाऊ क्षेत्र पर एवं यहां से जाने वाले व्यापारिक मार्गों पर उनका अधिकार था। दूसरा उन्होंने अनेक वस्तुओं पर कर लगा रखे थे। महावंश का कथन है कि अंतिम नन्द राजा ने अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त पशुओं के चमड़े वक्षों की गोंद तथा खानों को पत्थरों पर भी कर लगाया था।

नन्द वंश का काल भारत की आर्थिक समृद्धि का काल था। देश के विभिन्न भागों से प्राप्त आहत मुद्राओं (पंच मार्क्ड सिक्के) से इस काल की समृद्धि का संकेत मिलता है। काशिका ग्रंथ में यह उल्लेख मिलता है कि नन्द वंश के राजाओं ने नाप तौल के मान स्थिर किये (नंदोपक्रमाणि मनानि) ऐसा प्रतीत होता है कि नंदों के काल में मगध का व्यापार पश्चिमोतर क्षेत्र हिमालय के पार के क्षेत्र, एवं पश्चिम एशिया के क्षेत्रों से होता है। पाटलिपुत्र स्थल मार्ग से तक्षशिला और पश्चिमी एशिया के देशों से जुडा हुआ था। तक्षशिला से प्राप्त आहत सिक्कों से पश्चिमोतर भारत से व्यापारिक सम्बन्ध की जानकारी मिलती है। हिमालय के पार के देशों में साइबेरिया से स्वर्ण मंगाऐ जाने का अनुमान है। जोनाफोन की साईरोपीडिया में एक धनी राजा (संभवतः नंदराजा) का उल्लेख है जो पश्चिमी एशिया के देशों में नंदराजा की प्रसिद्व का संकेत मिलता है। अनुमानतः इन देशों से उसका व्यापारिक सम्पर्क भी रहा होगा। सामुद्रिक व्यापार में कलिंग, बंगाल तथा संभवत सौराष्ट्र के बंदरगाहों का महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा।

कथासरित्सागर और बृहत्कथाजरी के उल्लेखों के अनुसार नंद राजाओं के काल में पाटलिपुत्र में लक्ष्मी और सरस्वती दोनो का ही वास था। पाटलिपुत्र भौतिक समृद्दि के साथ साथ ज्ञान विज्ञान का प्रसिद्व केन्द्र बन गया था। उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुसार वर्ष, उपवर्ष पाणिनी, कात्यायान, वररूचि, व्याड़ि जैसे प्रसिद्ध एवं अद्‌भुत विद्वान इसी युग में हुए। इससे विदित होता है कि इस युग में व्याकरण का बहुत विकास हुआ। राजशेखर की काव्य मीमांसा का कथन है कि पाटलिपुत्र समस्त शास्त्रकारों तथा विभिन्न दर्शन पद्धितयों के संस्थापक की परीक्षा (शास्त्रकार परीक्षा) का केन्द्र था। नंदों द्वारा किये गये जनकल्याण के कार्यो में उनके द्वारा कलिंग में एक नहर का बनवाया जाना उल्लेखनीय है। आवश्यक सूत्र एवं सुखबोधा की जैन कथाओं के अनुसार नन्द नरेश बहुत दानी थे तथा नियमित दान की व्यवस्था के लिए उन्होने एक दानग (दान विभाग) खोल रखा था। नंद राजाओं की धार्मिक अभिरूचियों के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते हैं। खारवेल के हाथीगंम्फा अभिलेख में नन्द राजा द्वारा एक जैन प्रतिमा को कलिंग से उठा ले जाने के उल्लेख के आधार पर नन्दों एवं जैन धर्मो के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। नन्द राजाओं के कई मंत्री भी जैन थे। परिशिष्टपर्वन के उल्लेखों से भी नन्दों के जैन धर्मावलम्बी होने की संभावना प्रकट होती है। नन्दों की धार्मिक सहिष्णुता का संकेत इस बात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से मिलता है कि उनकी दानशाला की व्यवस्था ब्राह्मण विद्वानों के संघ के हाथ में थी। दूसरे, उनके धार्मिक अत्याचारों का कहीं उल्लेख नही मिलता है।

### 8.7 मगध साम्राज्य का उत्कर्ष के कारण

साम्रज्यवाद की दौड़ में मगध ने अन्य सभी जनपदों को परास्त कर दिया। मगध की इस सफलता के क्या कारण थे ? मगध साम्रज्य का उदय एवं विस्तार ब्राह्य दृश्य पटल पर उसके शक्तिशाली राजाओं, बिम्बिसार, अजातशत्रु,शिशुनाग, एवं महापद्मनन्द की महत्वाकांक्षाओं एवं साहसी प्रकृति का परिणाम था, लेकिन इस प्रक्रिया में मगध की बहुत सी अनुकूल आन्तरिक स्थितियों, भौगोलिक सामरिक, आर्थिक एवं सामाजिक ने बड़ा भारी योगदान दिया।

भौगोलिक दृष्टि से अपने ही क्षेत्र में स्थित सम्पन्न लोह खदानों के दोहन ने मगध को एक विशिष्ट शक्ति प्रदान की जो अन्य जनपदों को उपलब्ध नही थे। लौह खनिज की प्रचुरता ने मगध को न केवल अस्त्र शस्त्र की दृष्टि से सम्पन्न बनाया, बल्कि कृषि एवं अन्य आर्थिक गतिविधियों के विकास की गति को तेज कर दिया। गंगा घाटी के मैदानी जंगलों को लोह उपकरणो से साफ कर दिये जाने के कारण कृषि का विकास बड़ी तेजी से हुआ जिसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर पड़ा। सामाजिक दृष्टि से भी मगध की स्थिति सुद्ढ़ थी । मगध की पहली राजधानी राजगृह पांच पहाड़ियों के समूह से घिरी हुई थी। और एक अभेद दुर्ग के समान थी। दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र गंगा, गंडक व सोन नदीयों के संगम पर स्थित थी और एक जलदुर्ग के समान थी। पाटलिपुत्र को एक दूसरा विशिष्ट लाभ यह था कि बहुकोणीय जलमार्ग पर स्थित होने के कारण संचार, आवागमन, व्यापार एवं सैनिक शक्ति के स्थानान्तरण एवं अन्य कार्यो में बड़ी सुविधा हो गई।

### 8.8 सारांश

गंगा घाटी में प्रचुर खाद्यान्न उत्पादन एवं व्यापार वाण्ज्यि के विकास में मगध राजाओं के लिए कर संग्रह को आसान बना दिया और उन्होने विपुल धनकोश जमा कर लिया जिसमें विशाल सेना को बनाये रखना संभव हो सका। सैनिक दृष्टि से मगध का एक फायदा पूर्वी क्षेत्र से आसानी से उपलब्ध हाथियों से भी था। यूनानी स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि नन्दों के पास 6000 हाथियों की सेना थी। मगध के समाज में एक प्रकार का लचीलापन था। आर्यावर्त की सीमा पर स्थित होने के कारण वर्ग एवं जाति व्यवस्था की जड़ें वहां मजबूत नही हुई थी। इसी क्षेत्र में बौद्व धर्म एवं जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ। इन कारणों से मगध में सामाजिक एवं प्रादेशिक एकता तथा अपने राज्य के लिए उत्सर्ग के सूत्र विद्यमान थे।

### 8.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. बिम्बिसार की उपलब्धियों का संक्षिप्त वर्णन दीजिए।

प्रश्न 2. अजातशत्रु पर वज्जिसंघ ने किस प्रकार विजय प्राप्त की।

प्रश्न 3. शैशुनाग वंश के अधीन मगध साम्राज्य के विकास का विवरण दीजिए।

प्रश्न 4. महाद्मनन्द की विजयों एवं साम्राज्य विस्तार का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के क्या कारण थे ।

प्रश्न 6. हर्यक राजवंश का संक्षिप्त इतिहास लिखिए एवं मगध साम्राज्य के उद्भव में इस राजवंश के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 7. हर्यक राजवंश से लेकर नंदों के काल तक मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का विवरण दीजिए।

प्रश्न 8. मगध साम्राज्य के निर्माण में नन्दवंश के योगदान की समीक्षा कीजिए। भारतीय इतिहास में नन्द साम्राज्य का क्या महत्व है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-9 : मौर्य-साम्राज्य

**संरचना**


9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 मौर्यकालीन इतिहास के स्रोत

- 9.2.1 ब्राह्मण ग्रंथ
- 9.2.2 बौद्ध ग्रंथ
- 9.2.3 जैन ग्रंथ
- 9.2.4 धर्म निरपेक्ष ग्रंथ

9.3 सम्राट चन्द्रगुप्त (324—300 ई.पू.)

- 9.3.1 प्रारम्भिक जीवन
- 9.3.2 साम्राज्य विस्तार
- 9.3.3 शासन प्रबन्ध
  - 9.3.3.1 राज्य सिद्धान्त
  - 9.3.3.2 राजा अथवा सम्राट
  - 9.3.3.3 मंत्री सभा तथा मंत्री परिषद्
  - 9.3.3.4 अन्श्रय प्रमुख केन्द्रीय शासन—अधिकारी
  - 9.3.3.5 प्रांतीय शासन
  - 9.3.3.6 नगर—शासन
  - 9.3.3.7 गुप्तचर—व्यवस्था
  - 9.3.3.8 न्याय व्यवस्था
  - 9.3.3.9 अर्थ व्यवस्था
  - 9.3.3.10 सड़कें और सिंचाई
  - 9.3.3.11 स्वास्थ्य, स्वच्छता और जनगणना
  - 9.3.3.12 सैनिक शासन
  - 9.3.3.13 मूल्यांकन (क्या मौर्य शासन लोकहितकारी था?)
  - 9.3.3.14 चन्द्रगुप्त मौर्य का मूल्यांकन

9.4 सम्राट बिन्दुसार (300—2736 ई.पू.)

9.5 सम्राट अशोक महान् (273—236 ई.पू.)

- 9.5.1 सिंहासन पर अधिकार और राज्य विस्तार
- 9.5.2 शासन प्रबन्ध (नवीन सुधार)
- 9.5.3 अशोक का धर्म (धम्म) और उसके प्रसार के प्रयत्न
- 9.5.4 अशोक के उत्तराधिकारी
- 9.5.5 मौर्य वंश के पतन के कारण और सम्राट अशोक का उसमें उत्तरदायित्व


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.5.6 मौर्य संस्कृति तथा सभ्यता

9.5.6.1 सामाजिक दशा

9.5.6.2 आर्थिक दशा

9.5.6.3 धार्मिक दशा

9.5.6.4 साहित्य

9.5.6.5 मौर्य कला

9.6 सारांश

9.7 अभ्यास प्रश्नावली

## 9.0 प्रस्तावना

ई.पू. चौथी शताब्दी में भारत एक महान् साम्राज्य का निर्माण हुआ। नन्द वंश के शासकों ने बिम्बिसार तथा अजातशत्रू के स्वप्न को पूरा करने में सफलता प्राप्त की थी, किन्तु मगध का साम्राज्य अभी तक अपने चरमोत्कर्ष पर नहीं पहुंचा था। इस कार्य की पूर्ति मौर्य–वंश के शासकों ने की और भरत में एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जिसकी समता न तो उससे पहले और न बात में मध्य–युग तक, अन्य कोई भारतीय शासक कर सका। निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक और मुगल बादशाह औरंगजेब ने भारत में अधिकांश भाग को जीतकर विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया परन्तु न तो उन साम्राज्यों का निर्माण किया परन्तु न तो उन साम्राज्यों की सीमाएँ मौर्य साम्राज्य की सीमाओं की समता कर सकीं और न उसका साम्राजय समुद्रगुप्त और अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण भारत की विजय महान् सैनिक विजयें अवश्य थीं परन्तु उन्होंने उनको एक साम्राज्य में संगठित करने का प्रयत्न नहँ किया था और उनके साम्राज्य का आकार भी इतना विशाल नहीं था। इस कारण मौर्य साम्राज्य अपने विशाल आकार के कारण भारत में अद्धितीय था। इसके अतिरिक्त, शासन व्यवस्था और शासकों की जन कल्याण की भावना थी इस साम्राज्य के निर्माताओं की अपनी एक विशेषता रही। इस कारण मौया वंश और मौर्य साम्राज्य का भारतीय इतिहास में एक प्रमुख स्थान है।

## 9.1 उद्देश्य

यहां हम मौर्य साम्राज्य का अध्ययन कर सकेंगे।

## 9.2 मौर्यकालीन इतिहास के स्त्रोत

मौर्यकालीन इतिहास को जानने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। विभिन्न ब्राहम्ण, बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रन्थ, धर्म निरपेक्ष ग्रन्थ, विदेशियों के विवरण और पुरातात्विक स्त्रोत मौर्यकालीन इतिहास और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपलब्ध हैं। इन सभी ने विभिन्न प्रकार से मौर्य इतिहास और सभ्यता पर प्रकाश डाला है।

### 9.2.1 ब्राह्मण ग्रन्थ

विभिन्न पुराणों और उनकी टीकाओं से मौर्य शासकों के नाम, उनके शासन काल की अवधि, उनके समय की घटनाओं और उनके स मग की सामाकि एवं आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। गह सभी कुछ सर्वमान्ग नही है। उदाहरणार्थ, ब्राहम्ण ग्रन्थों ने मौर्य वंश को शूद्र वंश बताया। परन्तु आधुनिक विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। उनका एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि शूद्र वंशीय नन्द वंश का विरोधी ब्राहम्ण चाणक्य किसी भी स्थिति में चन्द्रगुप्त को सम्राट बनने में सहायता नहीं कर सकता था। चाणक्य के अनुसार शासन का अधिकार एक क्षत्री को ही प्राप्त होना चाहिए था। इस कारण, तर्क के आधार पर चन्द्रगुप्त की को क्षत्री स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार मौर्यो के इतिहास के संबंध में पुराणों के विरण को अन्य प्राप्त स्त्रोतों के संदर्भ में देखना आवश्यक है जैसा उनके दियां गया है उसे वैसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु तब भी पुराण मौर्ययुगीन इतिहास को जानने के महत्वपूर्ण साधन माने गए हैं।

### 9.2.2 बौद्ध ग्रन्थ

बौद्ध ग्रन्थों में 'दीपवंश' और 'महावंश', 'महाबोधिवंश', 'अट्ठाकथा', 'मिलिन्दपह्न', 'थूपवंश', सद्धम्मसंग्रह',

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'दिव्यावदान', मंजूश्रीमूलकल्प' आदि प्रमुख स्थान रखते हैं। 'दीपवंश' और 'महावंश' ग्रन्थ श्रीलंका में लिखे गए। दोनों ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। इनसे सम्राट अशोक और उसके पूर्वजों के विषय में महत्वपूर्ण ज्ञान उपलब्ध होता है। उपतिस्म द्वारा रचित 'महाबोधिवंश', बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ त्रिपिटकों पर लिखी गई टीकाएं 'अट्ठकथा', सम्राट मिलिन्द द्वारा रचित 'मिलिन्दपन्ह' वाचिस्सक द्वारा लिखा गया 'थूपवंश' धमकित्ति महासामी द्वारा रचित सद्धम्मसंग्रह, ई.पू. तीसरी सदी में लिखा गया 'दिव्यावदान' तथा महात्मा बुद्ध के समय से लेकर लगभग आठवीं सदी तक के इतिहास पर लिखा गया ग्रन्थ 'मंजूश्रीमूलकल्प' भी मौर्य इतिहास और सस्कृति को जानने में महत्वपूर्ण सहायदा प्रदान करते हैं।

### 9.2.3 जैन ग्रन्थ

ब्राहम्ण और बौद्ध धर्म ग्रन्थों की तुलना में जैन धर्म ग्रन्थों ने मौर्ययुगीन इतिहास पर प्रकाश डाला है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के बाद के समय में जैन धर्म का अनुयायी बन गया था। इस कारण जैन ग्रन्थों ने मौर्य वंश के इतिहास पर आरंभ के काल से ही प्रकाश डाला जबकि बौद्ध ग्रन्थों ने अशोक के समय को ही अपने विवरणों का मुख्य आधार बनाया। इन ग्रन्थों में भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र' हेमचन्द्र द्वारा रचित 'परिशिष्ट–पर्व', रत्ननिन्द द्वारा लिखा गया 'भद्रबाहुरचित', प्रभासूरि द्वारा रचित 'विविध तीर्थकल्प', मेरूतंग द्वारा रचित 'विचार श्रेणी', श्रीचन्द्र कृत 'कथाकोष', प्रभाचन्द्र का 'अराधना सत्यकथा प्रबन्ध', रामचन्द्र द्वारा रचित 'पुष्याश्रवकथाकोष', नेमिदत्त कृत 'अराधनाकथाकोष', हरिषेण द्वारा लिखा गया 'वृहत्कथाकोष', आदि प्रमुख ग्रन्थ स्वीकार किये गए हैं। 'कल्पसूत्र' और 'परिशिष्टपर्व' में मौर्ययुगीन घटनाओं, गाथाओं, आख्यानों आदि का विस्तृत विवरण है, विविध 'तीर्थकल्प' में चाणक्य द्वारा नन्दवंश का विनाश तथा चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल आदि का विस्तृत विवरण है तथा अन्य विविध ग्रन्थ भी मौर्ययुगीन इतिहास, संस्कृति और सभ्यता को जानने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करते हैं।

### 9.2.4 धर्म निरपेक्ष ग्रन्थ

धर्म निरपेक्ष ग्रथों में मुख्य स्थान कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का है। इसके संबंध में अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि 'अर्थशास्त्र' का र चियता कौटिल्य अथवा विष्णुदत्त चाणक्य ही था जिसने नंद वंश का विनाश करने और चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाने में सहायता दी। 'अर्थशास्त्र' अर्थ व्यवस्था का नहीं अपितु राजनीति, शासन, इतिहास आदि सभी से संबंधित ग्रन्थ है। मौर्गगुगीन शासन, अर्थ व्गवस्था, समाज, न्गाग आदि सभी के बारे में हमें उससे ज्ञान प्राप्त होता है। 'अर्थशास्त्र' के अतिरिक्त, विशाखदत्त द्वारा रचित 'मुद्राराक्षस', सामदेव का 'कथासरितसागर', क्षेमेन्द्र द्वार लिखा गयाा 'वृहत्कथामंजरी' आदि ग्रन्थ भी मौर्ययुगीन इतिहास को जानने के महत्वपूर्ण साधन माने गए हैं। इनके अतिरिक्त, बाद में लिखे गए कुछ ग्रन्थ भी हमें इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करते है। महाकवि कालीदास द्वारा लिखे गये नाटक 'मालविकाग्निमित्रि' और पतंजलि के 'महाभाष्य' में मौर्य वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। कल्हण द्वारा कश्मीर के इतिहा पर लिखे गये ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में सम्राट अशोक और उसके उतराधिकारियों का विवरण प्राप्त हो जाता है तथा वाणभट्ट के 'हर्षचरित' से हमें मौर्यो की अवनति के समय के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थ हमे मौर्ययुगीन इतिहास को जानने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करतें हैं।

### 9.2.5 विदेशियों के विवरण

विदेशियों के विवरणों में यूनानी लेखकों के विवरण मुख्य है। इसमें सिकन्दर के समकालीन व्यक्ति, निआर्कस, अनेसिक्रिट्स तथा अरिस्टोबुलस, जिसने सिकन्दर की विजयों का विशद विवरण दिया, के विवरण प्रमुख है। परन्तु इनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण साधन 'इण्डिका' है जिसे राजा सैल्यूकस द्वारा चन्द्रगप्त मौर्य के दरबार में नियुक्तत राजदूत मैगस्थनीज ने लिखा था 'इण्डिका' उपलब्ध नही हो सकी है परन्तु बाद में विभिन्न विदेशी विद्वानों ने अपने विवरणें का आधार मुख्यतया इसी को बनाया था। उन विद्वानों के विवरण उपलब्ध है। उनमें स्ट्रेबों, डायोडोरस, प्लिनी, रग्रियन, प्लूटार्क, जस्टिन आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनके विवरणों से हमें मौर्ययुगीन इतिहास को जानने में बहुत सहायता प्राप्त होती है।

### 9.2.6 पुरातात्विक स्त्रोत

विभिन्न अभिलेख, विभिन्न स्थानों पर खुदाई किये जाने पर प्राप्त हुए मिट्टी के बर्तन व मूर्तियां आदि भी मौर्ययुगीन इतिहास को जानने में सहायता प्रदान करते है। परन्तु पुरातात्विक स्त्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान सम्राट अशोक के शिलालेख, स्तम्भ और स्तूपों का है जो मौर्य, इतिहास, धार्मिक स्थिति, सामाजिक नैतिकता, कला मुख्यतया स्थापत्य और



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मूर्ति कला का ज्ञान कराने में महत्वपूर्ण सहायता करते है। उपर्युक्त सभी साधन मौर्य – युग के इतिहास और संस्कृति को जानने की स्त्रोत सामग्रीयाँ हैं।

## 9.3 सम्राट चन्द्रगुप्त (324–300 ई.पू.)

चन्द्रगुप्त मौर्य – वंश के साम्राज्य का संस्थापक था। जस्टिन और कुछ अन्य यूनानी विद्वानों ने 'सेण्ड्रोकोट्स' के नाम से का उल्लेख किया था। विलियम जोन्स पहले विद्वान थे जिन्होने सिद्व किया कि सेण्ड्रोट्स ही चन्द्रगुप्त मौर्य था। उसने भारत में एक दृढ़ एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना की, भारतीय राज्य की सीमाओं को उसकी प्राकृतिक सीमाओं के बाहर तक फैलाया, एक श्रेष्ठ शासन व्यवस्थाकी नींव रखी, सैल्यूकस को पराजित करके भारतीयों की सैनिक प्रतिष्ठा को स्थापित किया तथा विदेशों से भारत के सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया। इस कारण चन्द्रगुप्त एक महान् शासक था और उसकी महानता इस बात से और अिधक स्पष्ट हो जाती है कि उसने अपने जीवन का आरम्भ एक साधारण व्यक्ति की भाँति किया था।

### 9.3.1 प्रारम्भिक जीवन

चन्द्रगुप्त के वंश के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मतभदेद हो रहा है। ग्रीक लेखक जस्टिन ने उसे साधारण कुल का बताया, जैन ग्रन्थों में उसे एक ऐसे गांव के प्रधान का पुत्र बताया गया है जहाँ मोरों की संख्या अधिक थी, विष्णु पुराणा में उसे निम्न कुल में उत्पन्न बताया गया है। और विशाखदत द्वारा रचित 'मुद्राराक्षस' में भी चन्द्रगुप्त को रूपष्ट रूप से शुद्र नही बताया गया है। इसमें चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषल' और 'कुलहीन' शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'वृषल' शब्द का प्रयोग सर्वदा असम्मान के लिए किया गया हो, ऐसा प्रमाणित नहीं होता। डॉ. रायचौधरी का मत है कि 'वृषल' शब्द का प्रयोग उन क्षत्रियों के लिए किया जाता था जो कट्र धर्म परायण नहीं थे। इसी प्रकार, 'कुलहीन' शब्द का अर्थ 'शुद्र' मानना भी उचित नहीं है। उसका अर्थ साधारण कुल भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यह सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है। कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राजा बनाने में सहायता दी थी। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं था कि चन्द्रगुप्त शूदवंशीय होता, क्योंकि चाणक्य कट्टर ब्राहम्ण और वर्ण व्यवस्था का समर्थक था। शूद्रवंशीय नन्द राजा को हटाने का उसने निश्चय किया था। यदि चन्द्रगुप्त शूद्र होता तो वह कदापि उसकी सहायता न करता। 'ब्राहम्णों' के अनुसार क्षत्री को ही शासन का अधिकार था। ऐसी स्थिति में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की सहायता इसीलिए की होगी कि वह क्षत्री था। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों, मुख्यता 'महावमसा' में उसे क्षत्रो कुल का बताया गया है। जैन ग्रन्थों के आधार पर भी मौर्य वंश को क्षत्री वंश स्वीकार किया गया है। अब आधिकांशतः यही स्वीकार किया जाता है कि चन्द्रगुप्त 'मोरिय' क्षत्री वंश स्वीकार किया गया है। अब अधिकांशतः यही स्वीकार किया जाता है कि चन्द्रगुप्त मोरिय क्षत्री वंश का था जो वंश उतर प्रदेश के पिप्पलवन में शासन करता था। चन्द्रगुप्त की माता अपने पति की मृत्यु के पश्चात सुरक्षा के लिए पाटलीपुत्र चली गई थी जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। चन्द्रगुप्त का लालन पालन पहले एक ग्वाले ने और बाद में एक शिकारी ने किया था। अल्पायु में ही जब वह बच्चों के साथ खेल रहा था। तब चाणक्य की दृष्टि पर उस पर पड़ी और उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे तक्षशिला ले गया। उसने प्रायः आठ वर्ष तक उसे प्रत्येक प्रकार की शिक्षा दी। यह विश्वास किया जाता है कि चाणक्य (विष्णुगुप्त) तक्षशिला के प्रसिद्व विद्यालय का कुलपति था। उसने ग्रीक आक्रमणों से देश की सुरक्षा करने का निश्चय किया और सम्भवतया इसी उद्देश्य से वह पाटलिपुत्र गया जहां के शासक धननन्द को पदच्युत करने तथा ग्रीक आक्रमणकारियों को स्वदेश से बाहर निकालने का व्रत लिया। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने चन्द्रगुप्त को चुना और उसे शिक्ष देकर योग्य बनाया। अब यह भी सर्वमान्य होता जा रहा है कि 'अर्थशास्त्र' का रचियता कौटिल्य चाणक्य ही था और वह अपने समय का महान विद्वान व कूटनीतिज्ञ था।

यह कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला था और चन्द्रगुप्त की स्पष्टवादिता से अप्रसन्न होकर सिकन्दर ने उसका वध करने के आदेश दिये थे। परन्तु चन्द्रगुप्त वहां से भाग निकला। सिकन्दर के वापिस चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से पंजाब के गणतन्त्रीय राज्यों की युद्धप्रिय जातियों में से सैनिकों की भरती करना आरम्भ किया। उसने विदेशी युनानियों को भारत से बाहर निकालने का आदर्श जनसाधारण के सम्मुख रखा। अन्त में वह सफल हुआ। उसे इस कार्य में एक पहाड़ी शासक पर्वतक से बहुत सहायता मिली जो उसका मित्र बन गया था। इसके अतिरिक्त, युनानियों की स्वयं भारत में रहने की अनिच्छा, विभिन्न भारतीय क्षत्रों से युनानियों के विद्रोह, 325 ई.पू. में उतरी सिन्ध के युनानी प्रान्तपति फिलितप की हत्या और 323 ई.पूत्र में स्वयं सिकन्दर की मृत्यु ने उसे उसके कार्य में सहायता दी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और उसने युनानियों को पंजाब से निकाल दिया। 317 ई.पू. में अंतिम यूनानी प्रान्तपति भी भारत छोड़कर चला गया और सम्पूर्ण सिन्ध तथा पंजाब पर चन्द्रगुप्त ने अधिकार कर लिया।

पंजाब ओर सिन्ध को आधार बनाकर चन्द्रगुप्त ने मगध को जीतने का प्रयन्त किया। आन्तरिक विद्रोहाएवं कुचक्रों का सहारा लेकर धननन्द को समाप्त करने के प्रयत्न में सम्भवताया एक या दो बार असफल भी हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा एक भीषण युद्व में उसने धननन्द को परास्त करके मगध राज्य पर अधिकार कर लिया। धननन्द की अयोग्यता, अपने नागरिकों में उसकी अप्रियता, चाणक्य की कूटनीति और चन्द्रगुप्त का रण कौशल नन्द वंश के पतन का कारण बनें। चन्द्रगुप्त ने मगध को जीतकर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया।

### 9.3.2 साम्राज्य विस्तार

युनानी लेखकों के विवरणों से ज्ञात होात है कि इस समय चन्द्रगुप्त मगध राज्य का विस्तार करने में व्यस्था था तभी सिकन्दर के पूर्वी साम्राज्य का उतराधिकारी यूनानी राज्य सैल्यूकस भारत के यूनानी साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ा। 305 ई.पू. में सैल्यूकस सिन्धु नदी के तट पर पहूंचा जहां चन्द्रगुप्त ने उसका मुकाबला किया। यूनानी लेखक युद्व का विवरण नहीं देते। उन्होने केवल उसके परिणाम के बारे में लिखा है। एकियानस ने लिखा था कि "सैल्यूकस ने सिन्धु नदी पार की और भारत के सम्राट चन्द्रगुप्त से युद्व किया। अन्त में उनमें सन्धि हो गई। और विवाह सम्बन्ध स्थापित हुए। जस्टिन के अनुसार सैल्यूकस चन्द्रगुप्त से सन्धित करके और अपने पूर्वी साम्राज्य में शांति स्थापित करके अपने प्रतिद्वन्द्वि एण्टीगोनस से युद्व करने पश्चिम की ओर चला गया। स्ट्रेबो का कथन है कि सैल्यूकस ने ऐरियाना के प्रदेश चन्द्रगुप्त को विवाह सम्बन्ध के फलस्वरूप दिये। इस प्रकार, युद्व के पश्चात सैल्यूकस और चन्द्रगुप्त में जो सन्धि हुई। उसकी शर्तो से पता चलता है कि निश्चत ही इस युद्व में चन्द्रगुप्त की विजय हुई होगी। इस सन्धि के अनुसार सैल्यूकस ने भारत के उतर पश्चिम के वे सभी क्षेत्र चन्दग्रुप्त को सौंप दिये जिनकी राजधानियाँ हिरात, कान्धार और काबुल थी। सम्भवतया, चन्द्रगुप्त को बलूचिस्तान भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार, चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण आधुनिक अफगानिस्तान और बलूचिस्तान प्राप्त हुआ तथा उसके राज्य की सीमाएँ पर्शिया (ईरान) से मिलने लगीं। सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित किये यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि उसने चन्द्रगुप्त से अपनी पुत्री का विवाह किया अथव किसी अन्य सम्बन्धी की पुत्री का। प्लूटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस को 500 हाथी भेंट किये। सैल्यूकस ने मैगस्थनीज को चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना राजदूत नियुक्त किया तथा सर्वदा उससे अच्छे सम्बन्ध रखे।

चन्द्रगुप्त की अन्य विजयों के बारे में कोई विवरण प्राप्त नहीं है। परन्तु जूनागढ़ के रूद्रामन अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का प्रान्तपति पुरूगुप्त सौराष्ट्र (गुजरात) का शासन करता था। इससे यह अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र और उसके बीच पड़ने वाला मालवा तथा अवन्ति के प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। कुछ तमिल ग्रन्थों के विवरण के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जाता है कि चन्द्गुप्त ने दक्षिण भारत के अधिकांश भाग पर भी अधिकार कर लिया था। निस्सन्देह चन्द्रगुंप्त का जीवन युद्वों में व्यतीत हुआ होगा। उसके उतराधिकारी बिन्दुसार को दक्षिण भारत में कुछ क्षेत्रों के अतिरिक्त किसी महान विजय का श्रेय नही दिया जाता और सम्राट अशोक ने कलिंग के अतिरिक्त कोई अन्य महत्वपूर्ण विजय प्राप्त नही की जबकि अशोक के समय मौर्य साम्राज्य का विस्तार सुदूर दक्षिण के चोल और पाण्ड्य शासकों के राज्यो (जिनकी सीमाओं में सम्भवतयाः केरल, कर्नाटक, ट्रावनकोर, मदुरा, कुर्ग, दक्षिणी कन्नड और दक्षिणी मैसूर तथा आसपास के क्षेत्र सम्मिलित थे) के अतिक्ति सम्पूर्ण भारत में था। इस कारण यह विश्वास किया जाता है कि भारत से बाहर और भारत में भी मौर्य साम्राज्य का विस्तार का मुख्य श्रेय चन्द्रगुप्त को ही था।

जैन अनुश्रुतियों के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि अपने अंतिम समय में चन्द्रगुप्त ने राज्य वैभव त्यागकर सन्यास जीवन ग्रहण कर लिया था तथा जैन मुनि भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया। वहां उसने एक जैन साधु की भांति अनशन करके अपना जीवन त्याग दिया। जिस पहाड़ी पर उसने अपना अंतिम जीवन व्यतीत किया था। उसे चन्द्रगिरी पुकारते है और वहीं उसके द्वारा बनवाया गया चन्द्रगुप्त बस्ती नामक एक मंदिर है।

### 9.3.3 शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त मौर्य न केवल एक महान विजेता था अपितु एक कुशल शासक प्रबन्धक भी था। जिस शासन व्यवसी



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को उसने स्थापित किया वह मौर्य वंश के अंत तक शासनका मुख्य आधार बनी रही। उसके उतराधिकारियों में से सम्राट अशोक ने राज्य के कर्तव्यों की व्याख्यात को विस्तृत करके सम्राट और उसके शासनाधिकारियों के दृष्टिकोण को उदार, सहनशील और विस्तृत अवश्य बनाया परन्तु शासन के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नही किया। चन्द्रगुप्त के शासन को जानने के मुख्य साधन कौटिल्य का ग्रन्थ अर्थशास्त्र ओर युनानी राजदूत मैगस्थनीज के विवरण है। उनसे हमें न केवल चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था का ही बोध होता है। अपितु उस समय के राजनीतिक, सिद्वान्त, राज्य और राजा के अधिकार तथा कर्तव्य, जन जीवन और विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आदर्शो आदि का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

**9.3.3.1 राज्य सिद्वान्त**

मौर्य युग तक राजा का अधिकार वंशापनुगत बन चुका था और दैवी सिद्वान्त के आधार पर उसका समर्थन किया जाने लगा था। इस कारण, राजा के अधिकारों मे असाधारण वृद्वि हो गई थी। परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नही हो सकता था। उसके धिकारों में वृद्वि होने के साथ साथ उसके कर्तव्यों में भी वृद्वि हुई थी। इसी कारण राजा की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाात था। राजा के अधिकार उसके मन्त्रियों और उसके स्वयं के सार्वजनिक उतरदायित्वों द्वारा सीमित होते थे। राज्य का प्रधान होने के नाते राजा का कर्तव्य राज्य व्यवस्था को स्थापित रखना था। राजा का कर्तव्य राज्य धर्म की स्थापना था जिसका अर्थ राज्य के सभी नागरिकों की सर्वाधिक उन्नति करना थां इस दृष्टि से व्यक्ति के व्यक्तित्व ओर सामाजिक कर्तव्यों में अन्तर नही किया जाता था। प्रत्येक लार्य जो व्यक्ति की भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक था, उसकी पूर्ति करना और कराना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था। इसके अन्तर्गत एक परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक बनाये रखने से लेलर व्यापार और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तक का अधिसकार और उत्तरदायित्व राजय का था। एक राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने राज्य की स्मृद्धि और शक्ति का विस्तार करे तथा उसके लिए साम (सन्धि),दाम (दाम), दण्ड (युद्ध) अथवा भेद (षड्यन्त्र) में से किसी भी एक अथवा इनमें से प्रत्येक के को अपनाये। ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों संबंध केवल शत्रुता के ही हो सकते थे। कौटिल्य के अनुसार ऐ राज्य के दूसरे राज्य से संबंध के भौतिक लाभ के आधार पर ही होने चाहिए। राज्य की इस व्याख्या के कारण एक राजा के लिए सम्पूर्ण तःज प्रभुत्व सम्पन्न होना तो आवश्यक थ। परन्त व स्वेच्छाचारी नहीं हा सकता था। उसकी सर्वांगीण शक्तियां मार्य सम्राटों ने इसी आधार पर अपनी शासन – व्यवस्था को स्थापित किया। चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक तक की शासन व्यवस्था का आधार यही था।

**9.3.3.2 राजा अथवा सम्राट**

राजा राज्य का प्रधान था। वह कानून बनाने, कानूनों को लागू करने और न्याय करने में राज्य का सर्वापरि अधिकारी था। उसका अधिकार वंशानुगत था और कानूनतः उसके अधिकारों पर कोई सीमा न थी। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से मौर्य सम्राट स्वेच्छाचारी न थे। व अपने अधिकारों का प्रयोग अपने मंत्रियों की सलाह से राज्य धर्म का पालन करते हुए अपनी सम्पूर्ण प्रजा की उन्नति के लिए करते थे। भविष्य में राजा बनने वाले राजकुमारों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था और उनमें से जो योग्य नहीं हो पाता थ वह सिंहासन पर अपना अधिकार खो देता था। राजा अत्यंत व्यस्त व्यक्ति था। उसके रात और दिन के कार्य आठ भागों में बंटे होते थे और उसे विधिवत् प्रत्येक समय प्रत्येक कार्य की पूर्ति करनी होती थी। वह राज्य के धन, सेना, राज्यादेश और न्याय में स्वयं रूचि लेता था। चन्द्रगुप्त कठिनाई से छह घंटे सो पाता था। अपने शरीर की मालिश कराते हुए अथवा बालों की कंघी करते हुए भी वह अपने गुप्तचरों द्वारा सूचनाओं को सुनता था और उन्हें आदेश देता था। जनसाधारण को राजा से मिलने की सुविधा प्राप्त थी। राजा का मुख्य उत्तरदायित्व अपनी प्रजा की रक्षा और भलाई करना था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि ''प्रजा को प्रसन्न करने वाले कार्य को उचित न मानकर उसी कार्य को ठीक एवं करने योग्य माने जो उसकी प्रजा को प्रसन्न करता है।'' इस कार्य की पूर्ति करने के बदले में ही प्रजा उसे कर देती थी। राज्य की आय से राजा को व्यक्तिगत दृष्टि से सभी सुख सुविधाऐं प्राप्त थीं। वह विशाल महल में रहता था। चन्द्रगुप्त के महल की प्रशंसा मैगस्थनीज ने अपने विवरण में की थी। राजा के स्त्री शरीर रक्षक होते थे। उसके जीवन की रक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की जाती थी। यहां तक कि उसके भोजन तक की भी जांच की जाती थी। कोई उसे विष न दे दे अथवा कोई स्त्री भी उसकी हत्या न कर दे, इसका पूर्ण प्रबन्ध किया जाता था। राजा का प्रमुख कार्य सेना का सेनापतित्व और राज्य का विस्तार करना भी था।

**9.3.3.3 मंत्री सभा तथा मंत्री परिषद**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कौटिल्य के अनुसार राजा को परामर्श देने के लिए दो सभाऐं थीं – एक मंत्री सभा (Council of Manister) और दूसरी 'मंत्री परिषद' (The State Council)। कौटिल्य का कहना था कि "सम्प्रभुता (राजसत्ता का उपभोग) केवल (उनकी) सहायता से संभव है। इसका अभिप्राय था कि मंत्रीयों की ये सभाऐं आवश्यक ही नहीं अपितु प्रभावपूर्ण भी होती थीं।

मंत्री परिषद एक बडी परिषद थी जिमसें 12,16 अथवा 20 सदस्य होते थे। परन्तु कौटिल्य के अनुसार उसके सदस्यों की संख्या में राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप वृद्ध की जा सकती थी। संभवतया उसका स्थान वैदिक काल की सभा अथवा समिति के अनुरूप था। इसी कारण कौटिल्य ने मंत्री सभा और मंत्री परिषद में अन्दर किया था।

मंत्रीसभा तथा मंत्री परिषद राजा को शासन में सलह देने वाली समितियां ही न थीं अपितु वे उसे शासन करने में सहायता देती थीं। इनमें मंत्री सभा का स्थान निसंदेह श्रेष्ठ था। यद्यपि कानूनी आधार पर राजा इनकी सलाह को मानने के लिए बाध्य न था परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे मंत्री सभा के निर्णयों को स्वीकार करना पड़ता था।

**9.3.3.4 अन्श्रय प्रमुख केन्द्रीय शासन-अधिकारी**

मौर्य शासन व्यवस्था अत्यंत सुव्यवस्थत एवं केन्द्रीत नौकरशाही पर आधारित थी। 'अर्थशास्त्र' में सबसे श्रेष्ठ स्तर के पदाधिकारियों की 'तीर्थ' पुकारा गया है। उसमें अठारह (18) तीर्थों का उल्लेख है मंत्री (मुख्य अथवा प्रधानमंत्री), पुरोहित सेनापति, मुख्य न्यायाधीश और प्रतिहार (द्वाररक्षक) सबसे प्रमुख अधिकारी थे। अन्तर्वशिका (अन्तःपुर का रक्षक), प्रशास्ता (पुलिस विभाग का अध्यक्ष), समहर्ता (राज्य कर को एकत्रित करने वाला), सन्निधाती (कोषाध्यक्ष), नायक (नगर का प्रमुख अधिकारी), पौर (राजधानी का शासक), दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल (सीमा रक्षक) आदि भी अन्य प्रमुख अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त खानों, सिक्के ढालने, नमक बनाने, राज्य व्यापार, जंगल, शास्त्रालय, नापतौल, चुंगी, चारागाह, कृषि, व्यापार, बन्दरगाह की देखभाल आदि के लिए अन्य अधिकारी होते थे। इन विभिन्न अधिकारियों को वीथ, अमात्य, अध्यक्ष आदि के पद दिये जाते थे। अध्यक्षों के अधीन कर्मचारियों को 'युक्त' और 'उपयुक्त' पुकारते थे। मौर्य साम्राज्य के विशाल आधार को देखते हुए यह कोई असाधारण बात न थी। प्रो.के.ए. नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यंत विशाल एवं बडी संख्या में थी, और वह देश के प्रत्येक आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त थी।

**9.3.3.5 प्रान्तीय शासन**

मौर्य साम्राज्य अत्यंत विशाल था। इस कारण शासन का विकेन्द्रीकरण करना आवश्यक हो गया था। मौर्य – साम्राज्य में दो प्रकार के प्रान्त थे। एक वे प्राप्त जो अधीनस्थ शासकों के राज्य थे, जिन्हें शासन के अधिकार दे दिये गये थे यद्यपि वे सम्राट के नियंत्रण में थे। और दूसरे वे प्रान्त जो मौर्य सम्राटों के राज्य को विभिन्न हिस्सों में बांटकर शाण्न की इकाइयों के रूप में बनाये गए थे। अशोक के समय में चार प्रान्तों का उल्लेख मिलता है। (1) उत्तरापथ जिसकी राजधानी तक्षशिला थी (2) अवन्ति राष्ट्र जिसकी राजधानी उज्जयनी थी। (3) कलिंग प्रान्त जिसकी राजधानी तोसिल थी और (4) दक्षिणापथ जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र से शासन किया करता था। प्रान्तों में प्रान्तपति के रूप में अधिकांशतया राजकुमार नियुक्त किये जाते थे। उन्हें कुमार महामात्र कहकर पुकारा जापता था। अन्य प्रान्तों के प्रान्तपति को केवल 'महामात्र' पुकारा जाता था। चन्द्रगुप्त के समय में कितने प्रानत थे, यह स्पष्ट नहीं है परन्तु अशोक के समय में कम से कम चार प्रान्त अवश्य थे जिनकी राजधानियां क्रमशः तक्षशिला,तोसिल, सुवर्णगिरी और उज्जयनी थीं। मगध और उसके निकट का शासन सम्रट स्वयं अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से करता था। प्रान्तों के महामात्र सम्राट के आदेशानुसार प्रान्तों का शासन करते थे। परन्तु, निस्संदेह, उनके विस्तृत अधिकार होंगे, यह विश्वास किया जा सकता है। उनकी सहायता के लिए भी मंत्री परिषद जैसी सलाहकारों की समिति अवश्य होगी। 'दिव्यावदान' के कुछ उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रान्तीय मंत्री परिषदों से सम्राट सीधा सम्पर्क रखता था।

प्रान्तीय शासन में 'महामात्र' की सहायता के लिए अनेक अधिकारी होते थे। उनमें से 'युत' (कर अधिकारी), राजुक (लगान अधिकारी), प्रादेशक, पटिवेदक आदि मुख्य अधिकारी थे। प्रान्त जिलों में बंटे होते थे। प्रत्येक जिले का अधिकारी 'स्थानिक' कहलाता था। स्थानिकों के नीचे 'गोप' नामक अधिकारी था। गांव शासन की सबसे छोटी इकाई था जहां 'ग्रामिक' नामक एक अधिकारी होता था।

'ग्रामिक' की सरकार द्वारा नियुक्ति की जाती थी परन्तु कहीं – कहीं उसका निर्वाचन भी होता था। वह गांव के व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित ग्राम सभा की सहायता से गांव का शासन करता था। ग्राम सभा को गांव की सफाई, स्वच्छता शासन, पुल और सड़क निर्माण आदि कार्य करने के अतिरिक्त न्याय के भी अधिकार थे।

**9.3.3.6 नगर-शासन**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नगर शासन की बहुत अच्छी व्यवस्था थी। शासन के लिए नगर वार्डों में बंटा होता था। वार्ड का अधिकारी 'स्थानिक' होता था। वाउं को भी अन्य छोटे – छोटे टुकड़ों में बांटा जात था। और ऐसे प्रत्येक टुकड़े की जिसमें कई परिवारों के मकान सम्मिलित होते थे 'गोप' नामक अधिकारी देखभाल करता था। सम्पूर्ण नगर की देखभाल के लिए एक बड़ा अधिकारी होता था जिसकी सहायता के लिए म्यूनिसिपल बोर्ड की भांति एक सभा होती थी।

मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र और नगर व्यवस्था का विशद वर्णन किया है। उसी प्रकार की व्यवस्था अन्य बड़े नगरों में भी होती होगी, यह अनुमान किया जाता है। मैगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र 15 किलोमीटर लम्बा और 2.80 किलोमीटर चौड़ा नगर और लकड़ी की दीवार थीं और दीवार के बाहर 18 मीटर चौडी खाई थी दीवर में 64 दरवाजे और 570 बुर्जियां थीं। नगरशासन की देखभाल एक नगर समिति (नगर निगम अथवा म्यूनिसिपल बोर्ड) करती थी जिसमें 30 सदस्य होते थे। यह समिति 6 वार्डों अथव छोटी समितियों में बंटी होती थी जिनमें से प्रत्येक में 5 सदस्य होते थे। प्रत्येक समिति पृथक – पृथक कार्यों की देखभाल करती थी। एक समिति शिल्पियों और कारीगरों की दूसरी विदेशियों की तीसरी जन्म मरण के आंकड़ों की, चौथी उद्योग एवं व्यापारकी, पांचवीं बनी हुई वस्तुओं की और छठी बिक्री कर की देखभाल करती थी। सभी मिलकर नागरिक जीवन की समस्त सुविधाओं का ध्यान रखती थीं। व नाप तौल, बाजार नियंत्रण, भवनों का निमार्ण, सार्वजनिक स्थानों का निर्माण आदि कार्यों की देखभाल करती थीं। नगर की स्वच्छता तथा उसे आग से बचाने का विशेष प्रबन्ध किया गया था। नगर में सडक पद मार्ग, मंदिर, कुएँ, अस्पताल, तालाब, बाग, खेल कूद के मैदान आदि सभी की उचित व्यवस्था थी। नगर निर्माण एक योजनाबद्ध तरीके से किया गया था। इस प्रकार पाटलिपुत्र एक अत्यंत सुन्दर और अच्छे ढंग से प्रशासित नगर था।

### 9.3.3.7 गुप्तचर-व्यवस्था

मौर्य शासकों की गुप्तचर व्यवस्था बुहत श्रेष्ठ थी। गुप्तचर दो प्रकार के थे। प्रथम 'संस्था' जो एक ही स्थान पर रहते हुए वेश बदलकर सूचनाऐं एकत्रित करते थे। द्वितीय 'संचार' जो घूम घूमकर सूचनाऐं एकत्रित करते थे। राज्य के विभिन्न भागों से सभी सूचनाऐं सम्राट के पास पहुंचाई जाती थी। स्त्रियां गुप्तचर भी रखी जाती थीं। विदेशों में भी गुप्तचर भेजे जाते थे। सम्राट के गुप्तचरों के अतिरिक्त राज्य के सभी प्रमुख अधिकारी अपने अपने गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे। कौटिल्य और चन्द्रगुप्त ने इस व्यवस्था को बहुत अधिक महत्व दिया था।

### 9.3.3.8 न्याय व्यवस्था

मौर्य शासकों की दण्ड व्यवस्था कठोर थी। साधारण अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था और व्यभिचार की सजा अंग विच्छेद थी। परन्तु गंभीर अपराधों के लिए जैसी शिल्पी को चोट पहुचाने अथवा बिक्री कर न देने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। इस कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण अपराध कम होते थे।

न्यायालय दो प्रकार के होते थे – केन्द्रीय और स्थानीय। केन्द्रीय न्यायालयों में दो न्यायालय थे – एक स्वयं सम्राट और दूसरा मुख्य न्यायाधीश का। मुख्य न्यायाधीश की सहायता के लिए 4 या 5 अन्य न्यायाधीश होते थे। स्थानीय न्यायालय तीन प्रकार के होते थे। प्रथम प्रकार के न्यायालय किसी भी स्थान द्वारा न्याय हेतु स्वयं बना लिये जाते थे। दूसरी प्रकार के न्यायालय व्यापारिक संघों के होते थे और तीसरे प्रकार के न्यायालय ग्राम सभाऐं थी। इसके अतिरिक्त, फौजदारी तथा असैनिक न्याय के लिए पृथक न्यायालय थे। फौजदारी के न्यायालयों को 'कण्टकशोधन' न्यायालय मौर्य साम्राज्य की जटिल होती जा रही सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संगठित किये गए थे। वहां अभियोगों पर तुरन्त विचार किये जाने की व्यवस्था की गई थी। अशोक ने मृत्युदण्ड की सजा निर्णय होने के तीन दिन बाद दिये जाने की व्यवस्था की थी।

### 9.3.3.9 अर्थ व्यवस्था

राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि – कर (लगान) था, जो साधारणतया पैदावार का 1/6 भाग होता था। परन्तु विभिन्न स्थानों पर भूमि की उर्वरता में अन्तर होने के कारण इससे कम या अधिक भी लगान लिया जाता था। राज्य लगान समूचे गांव से नहीं बल्कि पृथक्–पृथक् किसानों से वसूल करता था। भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्वीकार कर लिया गया था। तथा राज्य अपने और किसान के बीच किसी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था को स्वीकार नहीं करता था। राज्य जंगलों

को साफ कराकर कृषि योग्य भूमि में वृद्धि करता था और वहां खेती करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में बहुसंख्यक प्रदेशों से दासों को लाया जाता था। कलिंग युद्ध के पश्चात प्रायः डेढ लाख व्यक्तियों को वहां के जंगल साफ करने और नवीन भूमि पर खेती करने के लिए लाया गया था। कृषि उत्पादन में राज्य की इतनी अधिक रूचि थी कि राज्य जनसंख्या मे भी वृद्धि चाहता था। एक व्यक्ति जब तक संतान उत्पन्न करने की स्थिति में होता था तब तक वह संन्यस ग्रहन नहीं कर सकता था। एक व्यक्ति यदि अपनी पत्नी और अपने उपर आश्रित रहने वाले जीवन की आवश्यकताओं को उपलब्ध कराये बिना संन्यास ग्रहण करता था तो दण्ड का भागी होता था। कोई भी संन्यासी राज्य द्वारा नवस्थापित गांवों में प्रवेश नहीं कर सकता था। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को समुदाय बनाने की आज्ञा नहीं थी। नवस्थपित गांव के गायक, नर्तक, नाटककार, आदि प्रवेश नहीं पा सकते थे। क्योंकि उसे गांव के व्यक्तियों का ध्यान कृषि उत्पादन से हट सकता था। कृषि उत्पादन में वृद्वि से व्यापार की भी प्रगति हुई थी। मौर्य शासन के प्रारम्भ में ही प्रचुर मात्रा में मुद्रा का प्रचलन होन बढ़ते व्यापार का प्रमाण पत्र है राज्य अपने पदाधिकारियों को वेतन भी सिक्कों मे देता था व्यापार की देखभाल करने वाला अधिकारी ''पन्याध्यक्ष' कहलाता था। जो न केवल वस्तुओं की कीमतें निश्चित करता था अपितु किसी वस्तु का अभाव ना हो इसका भी नियन्त्रण करता था। राज्य न केवल व्यापार और उद्योगो की देखभाल करता था अपितु स्वयं भी व्यापार और उद्योगों में लगा हुआ था। जो राज्य की आय का एक प्रमुख साधन था। खानों, जंगलों, नमक उत्पादन और अस्त्र शस्त्रों के निर्माण पर राज्य का एकाधिपत्य था। यह राज्य के उद्योग और व्यवसाय दोनो ही थे। इस प्रकार, कृषि, व्यापार, उद्योग आदि सभी राज्य की आय में वृद्वि करने का साधना बनाया गया था। इसके अतिरिक्त बिक्री कर, खान कर, जंगल कर, मादक द्रव्यों पर कर, मछली कर, सिंचाई कर, चूगी कर, लाईसेंस कर, जुर्माना आदि भी राज्यकी आय के मुख्य साधन थे। मौर्य शासकों ने आय के साधनों पर अधिकतम वृद्वि की थी। राज्य अनेक कारणों से व्यक्तियों की सम्पति को जब्त कर सकता था। संकट के अवसर पर राज्य प्रदर्शनी, मेलों आदि का आयोजन करके धन एकत्रित करता था। सम्राट अशोक ने लुम्बिनी जिले से पैदावार का 1/8 वां भाग भूमि कर के रूप में लिया था। राज्य के व्यय के साधनों में राजा और राजा के महल का व्यय, सेना, सरकारी अधिकारीयों का वेतन, दान, सड़क और नहरों का निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक हित के लिए किये जाने वाले कार्य थे। राज्य के सभी कर्मचारियों को नगद वेतन दिया जाता था सबसे अधिक वेतन 48000 पण (चांदी का सिक्का) वार्षिक था जो राजमाता, पटवारी, युवराज, राजपुरोहित, महामंत्री और मुख्य सेनापति को दिया जाता था। न्यूनतम वेतन 60 पण वार्षिक था जो सफाई कर्मचारी या अन्य शारीरिक श्रम मात्र करने वाले निम्नलिखित कर्मचारियों को दिया जाता था। एक पूर्ण प्रशिक्षित सैनिक लेखा जोखा या हिसाब रखने वाले (एकाउन्टेंट आदि), निम्न स्तर के गुप्तचर आदि को 500-500 प्रतिवर्ष तथा योग्य इंजिनियर, गुप्तचर आदि को 1000 पण प्रतिवर्ष आदि दिये जाते थे। सरकारी सेवा करते हुए शारीरिक दृष्टि से अपाहित हो जाने वालों तथा मृत्यु प्राप्त अधिकारी के परिवार के सदस्यों को 1000 पण वार्षिक पेंशन दी जाने की व्यवस्था की गई थी। यदि राजकोष में मुद्रा की कमी हो जाती थी तो राज्य वेतन की कमी की पूर्ति स्वेच्छा से अन्न, वस्त्र आदि देकर करता था। डॉ.डी.डी. कौसाम्बी के अनुसार 'अर्थशास्त्र' में स्पष्ट निर्देश है कि राज्य किसी भी स्थिति में स्थाई आय के साधन को (जैसे – भूमि जंगल आदि) किसी व्यक्ति को प्रदान न करे। मौर्य शासकों ने ब्राहम्णों को भी पुरस्कार स्वरूप गांव, भूमि आदि दान में नहीं दी। अधिक से अधिक एक सरकारी कर्मचारी को ऐसी भूमि दी जा सकती थी, जो कृषि भूमि नहीं थी परन्तु जिसे कृषि योग्य भूमि बनाया जाना था। ऐसी भूमि पर भी उस कर्मचारी को नियमानुसार लगान देना होता था और उस भूमि पर उसका पैतृक अधिकार स्वीकार नहीं किया जाता था। वह भूमि राज्य की ही भूमि रहती थी।

**9.3.3.10 सड़कें और सिंचाई** – राज्य की बड़ी बड़ी सड़कों और नहरों के निर्माण का उत्तरदायित्व लेता था। मगैस्थनीज ने उत्तर पश्चिम से लेकर पाटलिपुत्र तक आने वाली सड़क का वर्णन किया है जो प्रायः 1840 किमी. लम्बी थी। इसके दोनों और वृक्ष लगाये गये थी। इसकी सुरक्षा, सफाई, मरम्मत आदि की उचित व्यवस्था थी। ऐसी ही व्यवस्था अन्य राजमार्गों के लिए भी की गई होगी, यह अनुमान लगाया जा सकता है। सड़कों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग था। सड़कें 9.6 मीटर या उससे भी अधिक चौड़ी होती थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मौर्य सम्राटों ने नहरों और झीलों के निर्माण के द्वारा सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था की थी। इसके लिए एक पृथक विभाग था। सिंचाई कर लिया जाता था। जो पैदावार का ' /5 से 1/3 भाग तक होता था।

**9.3.3.11 स्वास्थ्य, स्वच्छता और जनगणना** – नागरिकों के स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए सुविधाजनक प्रबन्ध किया जाता था और इसके लिए नियम बनाये गए थे जिनका पालन कठोरता से किया जाता था। राज्य की तरफ से अस्पतालों का प्रबन्ध किया गया था। पशुओं के लिए पृथक अस्पतालों की व्यवस्था थी।

राज्य की जनगणना के लिए पृथक विभाग था तथा प्रत्येक स्थान पर जन्म और मृत्यु की गणना की जाती थी।

### 9.3.3.12 सैनिक शासन

मार्य सम्राटों की सेना विशाल और शक्तिशाली थी। सम्राट अशोक ने शान्तिप्रिय नीति को अपनाकर भी सेना की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नही किया था और ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता जिससे यह सिद्ध हो सके कि उसने सेना की संख्या में कमी कर दी थी अथवा उसे भंग कर दिया था। चन्द्रगुप्त ने सेना की व्यवस्था की ओर गंभीरता से ध्यान दिया था जिसके कारण वह सैल्यूकस को परास्त करने के अतिरिक्त एक विशाल साम्राज्य का निर्माण भी कर सका था। सेना के मुख्य चार अंग थे – पैदल, घुड़सवार, हाथी और रथ। चन्द्रगुप्त की सेना में 600000 पैदल, 50000 घुड़सवार, 9000 हाथी और 8000 रथ थे। सेना की देखभाल 30 सदस्यों की एक परिषद् करती थी जो पांच – पांच सदस्यों की छः समितियों में बंटी हुई थी। प्रत्येक समिति सेना के निम्नलिखित छह भागों की देखभाल करती थी : (1) नौसेना, (2) यातायात, (3) पैदल सैना, (4) घुड़सवार सेना, (5) रथ सेना और (6) हाथी सेना।

### 9.3.3.13 मूल्यांकन (क्या मौर्य शासन लोकहितकारी) (Welfare State) था ?

मौर्य सम्राटों की उपर्युक्त शासन – व्यवस्था अत्यंत श्रेष्ठ मानी गई है। उस समय यातायात के साधनों के अभाव में चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक के समय तक भी शासन व्यवस्था प्रायः सम्पूर्ण भारत और भारत के बाहर फैले हुए विशाल साम्राज्य को एक सूत्र में बांध सकी, यह उसकी श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण था। मध्य युग के महान् शासकों प्रबन्धकों में से अलाउदीन खलजी ने तो दक्षिण भारत को जीतकर भी उसे अपने राज्य में सम्मिलित नहीं किया और मुहम्मद तुगलक तथा मुकल सम्राट औरंगजेब इस प्रयत्न में असफल रहे।इसके अतिरिक्त, मौर्य शासन ने राज्यके उत्तरदायित्व की विस्तृत व्याख्या की थी। नागरिकों के भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की उन्नति उसका लक्ष्य था। इस दृष्टि से राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई थी। सम्राट अशोक धर्म – प्रचार एवं नैतिक आचारों को फैलाने की भावना और प्रयत्न इसके प्रमाण थे। मौर्य सम्रटों ने अपने नागरिकों की सर्वांगिक उन्नति का प्रयत्न किया। इस कारण यह भी कहा गया है कि मौर्य शासन और राज्य व्यवस्था लोकहितकारी (Welfare State) व्यवस्था थी। एक सीमित दृष्टि से इसे स्वीकार भी किया जा सकता है। लोकहितकारी राज्य की दो मुख्य विशेषताऐं मानी गई हैं। प्रथम, शासन नागरिकों की सर्वांगिक उन्नति करने के उद्देश्य से किया जाये। और द्वितीय उस शासन में नागरिक स्वयं भाग लेते हों अर्थात् शासन व्यवस्था लोकतंत्रीय अथवा जनतंत्रीय हो। लोकहितकारी राज्य की इन विशेषताओं में से एक विशेषता की पूर्ति मौर्य शासन करता था जबकि दूसरी विशेषता की पूर्ति करना उस समय संभव नहीं था। गणतंत्रीय अथवा जनतंत्रीय व्यवस्था को उस समय में विशाल साम्राज्यों के लिए अनुपयुक्त माना जाता था। कौटिल्य उस व्यवस्था के विरूद्ध था। इस कारण मौर्य सम्राटों ने गणतंत्र राज्यों को नष्ट किया था। ऐसी स्थिति में जनतंत्रीय शासन व्यवस्था का मार्य युग में कोई स्थान न था। आधुनिक समय की भांति उस समय में विशाल जनतंत्र राज्य संभव भी न थे। विशाल राज्यों के लिए उस समय में राजतंत्र ही एक मात्र शासन की व्यवस्था थी। ऐसी स्थिति में राज्य के उद्देश्यों एवं मौर्य सम्राटों द्वारा नागरिकों के जीवन को श्रेष्ठ बनाये रखने के प्रयत्नों को देखते हुए मार्य शासन और राज्य को एक सीमित मात्रा में लोकहितकारी राज्य स्वीकार किया जा सकता है। मार्य सम्राटों के शासन का लक्ष्य, निस्सन्देह, विस्तृत था और वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में पर्याप्त सफल हुए थे।

### 9.3.3.14 चन्द्रगुप्त मौर्य का मूल्यांकन

भारतीय शासकों में चन्द्रगुप्त मार्य एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसे एक महान शासन नहीं पुकारा गया है। मार्य शासकों में एक मात्र अशोक को ही यह स्थान प्रदान किया गया है। परन्तु यदि चन्द्रगुप्त ने एक बड़ेसाम्राज्य का निर्माण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

न किया होता तो एक सुव्यवस्थित शासन से उसे संगठित न किया होता तो संभवतया अशोक महान् कहलाने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकता था। इस कारण चन्द्रगुप्त ने केवल मौर्य वंश के साम्राज्य का संस्थापक था अपितु वह उसकी महानता का प्रारंभकर्ता भी था।

चन्द्रगुप्त ने अपना जीवन बहुत साधारण स्थिति से आरंभ किया। निस्संन्देह, वह योग्य था। चाणक्य ने विदेशियों को भारत से बाहर निकालने तथा नन्द वंश के विनाश के लिए इसी कारण उसे चुना था। धीरे – धीरे उसने अपनी योग्यता और क्षमता में वृद्धि की जिसके कारण व निरन्तर उन्नति करता गया। चन्द्रगुप्त साहसी एवं कर्मठ सैनिक, सफल सेनापति, योग्य संगठनकर्ता और उच्च आदर्शें का पालन करने वाला व्यक्ति सिद्ध हुआ। अपने चारित्रिक गुणों की इन विशेषताओं के कारण ही वह सम्राट के पद को प्राप्त कर सका था। निस्सन्देह, उसे चाणक्य के रूप में एक सर्वश्रेष्ठ सलाहकार, नीतिज्ञ और विद्वान गुरू प्राप्त हुआ जो उसकी सफलताओं के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी था। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अपनी सफलताओं कगे लिए चन्द्रगुप्त स्वयं उत्तरदायी था। चन्द्रगुप्त का एक प्रमुख कार्य धन्नन्द को परास्त करके नन्द साम्रजय पर अपना अधिकार करना था। उससे उसे एक बड़ा साम्रज्य प्राप्त हुआ। उसने उसको और अधिक विस्तार किया। प्रायः सम्पूर्ण भारत कपर उसका अधिकार था और भारत की सीमाओं के बाहर उत्तर पश्चिम में पर्शिया के साम्राज्यों की सीमाओं तक उसकी सीमाऐं थी जिनमें बलूचिस्तान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया का कुछ भाग भी सम्मिलित था। इतना विशाल साम्राज्य भारत में इससे पहले कोई अन्य भारतीय सम्राट स्थापित नही कर सकता था और उसके स्वयं के पुत्र बिन्दुसार और प्रपौत्र अशोक के अतिरिक्त कोई अन्य सम्राट उसके पश्चात भी स्थापित नही कर सका।

चंन्द्रगुप्त का दूसरा महान कार्य भारत से विदेशी ग्रीकों को निकालकर भारत की सीमाओं को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना था। जिस समय उसने अपना यह कार्य आरम्भ किया। उस समय पंजाब, सिन्ध और भारत का उत्तर पश्चिम का सम्पूर्ण भाग यूनानियों (ग्रीक) के अधिकार में जा चुका था। उसने भारत के इन भागों से युनानियों को निकाल बाहर किया। उसके अतिरक्त उसने सैल्यूकस को परास्त करके न केवल भारत को यूनानी आक्रमणों की आशंका से पूर्णतया मुक्त किया अपितु उत्तर पश्चिम की ओर से साम्राज्य का विस्तार भी किया। चन्द्रगुप्त की एक अन्य महान् सफलता उसने अपने विशाल साम्राज्य को एक ऐसी शासन व्यवस्था प्रदान करना था जिसने एक लम्बे समय तक भारत को एक सूत्र में बांध कर रखा और आगे आने वाले भारतीय सम्राटों के लिए आदर्श और व्यावहारिक शासन व्यवस्था का उदाहरण स्थापित किया। भारत में चक्रवर्ती सम्राट की आदर्श की पूर्ति करने वाला पहला शासक चन्द्रगुप्त मौर्य था। भारत एक राष्ट्र है और उसकी एक संस्कृति है ' इस आदर्श को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करने वाला पहला सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ही था। इस कारण चन्द्रगुप्त मौर्य भारत के यशस्वी शासकों में से था। डॉ.वी.ए. स्मिथ ने लिखा है ''उसकी ये सफलताऐं उसे इतिहास के महानतम् और अत्यधिक सफल शासकों में स्थान प्रदान करती है'' डॉ.आर.सी. मजूमदार ''भरतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त का एक भव्य दृश्य उपस्थित करता है – एक शीघ्र सफल होने वाला स्वतन्त्रता संग्राम विस्तृत साम्राज्य, राजनीतिक और प्रशासन की दृष्टि से संयुक्त भारत, सर्वोच्च कानून के रूप में धर्म की स्थापना और एक ऐसे जीवन का जिसने भविष्य में भारतीयों की कभी न नष्ट होने वाली सांस्कृतिक एकता की भावना को जन्म दिया।

### 9.4 सम्राट बिन्दुसार (300 – 2736 ई.पू.)

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार सिंहासन पर बैठा। उसके समय में इतिहास के बारे में अधिक ज्ञात नहीं हो पाता परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि बिन्दुसार अपने पिता से प्राप्त किये हुए साम्राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था करने में सफल हुआ। उसके समय में तक्षशिला में एक विद्रोह हुआ परन्तु? उस विद्रोह का कारण स्थानी प्रान्तपति का दुर्व्यवहार था। जब राजकुमार अशोक को उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया तो वहां के निवासियों ने अशोक का मुकाबला नहीं किया और न सम्राट बिन्दुसार अथवा उसकी शासन व्यवस्था की बुराई की अपितु केवल स्थानी अधिकारी को हटाने की मांग की। इससे सिद्ध होता है कि बिन्दुसार एक सफल शासक रहा। बिन्दुसार के सम्बन्ध उत्तर पश्चिम के अपने पडौसी यूनानी राजाओं से बहुत अच्छे रहे और मैगस्थनीज के पश्चात भी यूनानी राजदूत मौय दरबार में आते रहे। संभवतया, उसके समय में दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों को विजय किया गया।

### 9.5 सम्राट अशोक महान् (273 – 236 ई.पू.)

बिन्दुसार का उत्तराधिकारी अशोक हुआ जिहसे प्राचीन भारत के सम्राटों में अद्वितीय एवं महान् सम्राट माना गया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। एच.जी. वैल्स ने उसे सम्राटों में हानतम सम्राट कहा है। उसकी महानता का कारण उसके विशाल साम्राज्य को नहीं अपितु उसके चरित्र, उसके आदर्श और उन सिद्धांतों को बताया गया है जिनके प्रत्येक राष्ट्र ऐसे राजा को जन्म नहीं दे सकता। अशोक की समता आज तक भी विश्व इतिहास में किसी अन्य से नहीं की जा सकती। इस प्रकार अशोक का स्थान भारत के ही नहीं अपितु संसार के महानतम सम्राटों में प्रथम माना गया है।

प्रायः एक सौ पचास (150 वर्ष) पूर्व अशोक का स्थान मौर्य सम्राटों में गगण्य मात्र था। पुराणोंमें उसके बारे में बहुत कम उल्लेख था। 1837 ई. में प्रिसप में ब्राह्मी लिपि में लिखे गये अभिलेख में एक राजा का वर्णन पढड़ा जिसे दवानामापिया पियादशी उपाधि प्रदान थी। उसके पश्चात अन्य विभिन्न अभिलेखों में भी इस उपाधि के नाम के राजा का विवरण प्राप्त हुआ। 1915 ई. में अभिलेख में अशोक पियादशी नामक एक राजा का विवरण प्राप्त हुआ। जिससे यह अनुमान किया गया कि सम्राट अशोक को ही 'पियादशी' की उपाधि प्राप्त थी। श्रीलंका के बौद्ध ग्रन्थ महावसमा में भी जब यह विवरण प्राप्त हुआ कि अशाक को ही पियादशी पुकारा गया था तब से यह स्वीकार कर लिया गया कि बौद्व धर्म का अनुयायी और महान धर्म-प्रचारक ''पियादशी सम्राट'' मौर्य – वंश का सम्राट अशोक ही था। तब से अशोक का स्थान महान सम्राटों में सम्मिलित हुआ।

### 9.5.1 सिंहासन पर अधिकार औ राज्य विस्तार

बौद्व जनश्रुतियों के अनुसार अशोक अपने 99 भाईयों को मारकर सिंहासर पर बैठा। आधुनिक इतिहासकार उसे अतिश्योक्ति मानते है। परन्तु यह विश्वास किया जाता है कि अशोक ने सिंहसन प्राप्त करने के लिए अपने भाईयों से संघर्ष अवश्य किया था और उसमें सफलता प्राप्त करने के पश्चात ही वह सिंहासन पर बैठा सका था। उसके भाईयों की संख्या क्या थी और कितनों से उसका संघर्ष हुआ, इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होते।

अशोक की एकमात्र विजय कलिंग की थी। कलिंग मौर्य – साम्राज्य की सीमाओं से लगा हुए शक्तिशाली राज्य था। सुरक्षा की दृष्टि से विजय आवश्यक समझी गई। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए कलिंग की भूमि और उसके समुद्र तट पर अधिकार करना लाभदायक समझा गया। अपने शासनकाल के आठवें वर्ष में अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। वह युद्व बहुत भीषण हुआ परन्तु अशोक की विजय हुई। उसके एक शिला अभिषेक (नं. 13) से ज्ञात होता है। कि इस युद्व में 100000 सैनिक मारे गये, 150000 बन्दी बना लिये गये और उससे कई गुनें अधिक घावों और बीमारी से मर गये। कलिंग के युद्व के पश्चात अशोक ने युद्व द्वारा साम्राज्य विस्तार की नीतित को त्याग दिया। परन्तु उस समय तक भी अशोक के साम्राज्य का विस्तार बहुत अधिक हो चुका था। उत्तर में कश्मीर से लेकर सुदूर दक्षिण के चोल तथा पाण्ड्य राज्यों के अतिरिक्त सभी प्रदेशों में तथा पश्चिम में आधुनिक अफगानिस्तान और ब्लूचिस्तान से लेकर पूर्व में बंगाल तक उसका राज्य था।

इसके अतिरिक्त दूरस्थ पड़ौसी राज्यों में भी अशोक का सम्मान था। और उनसे उसके संबंध अच्छा थे। श्रीलंका से अशोक के संबंध सदैव घनिष्ठ रहे। नेपाल और कुलीन सरदार से अशोक ने अपनी पुत्री का विवाह किया था और समभवतया नेपाल उसके प्रभाव क्षेत्र में था। अपने एक अभिलेख में अशोक ने सीरिया के शासक लिोडेलफस, मेसीडोनिया के शासक एण्टीगोनस, ईपिरस के शासक एलेक्जेण्डर आदि का उल्लेख किया है। इन सभी से उसके संबंध मित्रता के थे और इन सभी स्थानों पर उसने अपने अधिकारी भेजे थे और उनके अधिकारियों को बुलाया था।

### 9.5.2 शासन प्रबन्ध (नवीन सुधार)

यद्यपि अशोक के समय में शासन व्यवस्था मूलतः वपहीं रही जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त ने की थी परन्तु अशोक ने राज्य धर्म के दृष्टिकोण में और अधिक विस्तार किया, नगरिकों की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति को अपना परम लक्ष्य बनाया, सार्वजनिक हित के कार्यो में वृद्धि की और इन कार्यो की पूर्ति हेतु कुछनवीन प्रशासकीय सुधार भी किये।

यद्यपि कलिंग के युद्ध के अशोक में विरक्ति की भावना जागृत हुई परन्तु यह भावना नकारात्मक न होकर सकारात्मक थी। उसने अपनी प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख धर्म माना। वह अपने नागरिकों को अपने बच्चों के समान मानता था। उसका कहना था कि सभी व्यक्ति मेरे बच्चे हैं और जिस प्रकार मैं अपने बच्चों के लिए यह चाहता हूं कि वे इस संसार और परलोक में भी प्रत्येक प्रकार का सुख और प्रसन्नता प्राप्त करेंवैसे ही मैं सभी व्यक्तियों के लिए चाहता हूं। अशोक न केवल अपनी प्रजा की सुरक्षा और उसकी भौतिक उन्नति करने में भी विश्वास करता था अपितु उसका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लक्ष्य अपनी प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति भी था। राज्य धर्म और राजा के उतरदायित्वों की इससे बडी परिभाषा करना कठिन था। परन्तु अशोक इस बात से संतुष्ट नहीं हुआ। वह संसार के सभी व्यक्तियों की भलाई करना चाहता था। उसके शिलालेख (नं. 6) में ि लिखा है कि सम्पूर्ण विश्व की भलाई करने से बडा अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है। संभवतया विदेशों में धर्म प्रचारक भेजने का कारण भी उसकी यही इच्छा थी। अशोक के ये आदर्श केवल आदर्श न थे अपितु उसने उनकी प्रापत कि लिए सक्रिय प्रयत्न भी किये। वह उनकी पूर्ति के लिए अत्यधिक परिश्रम करता था। इसी अभिलेख में उसने लिखवाया था। कि सम्पूर्ण संसार की भलाई करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है तथा उसकी जड़ परिश्रम और शासन कार्य को निबटाना है। इस कारण राज्य के संदेशवाहकों को आदेश थे कि उसे उसे कभी भी मिल सकते थे चहे वह भोजन कर रहा हो, सो रहा हो, या। कर रहा हो अथवा मनोरंजन में व्यस्त हो। इससे स्पष्ट है कि अशोक अपने शासन सम्बन्धी कार्यो के प्रति सचेष्ट और परिश्रमी था। अशोक के शासन सम्बन्धी विचारों के बारे में डॉ.आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि ''सम्मतयाः किसी अन्य शासक ने इतनी सरल एवं आदर्श भाषा में राजा और प्रजा के सम्बन्धों को अभिव्यक्त नही किया''।

अशोक ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए शासन में निम्नलिखित सुधार किये :–

1. उसे राजुकों, युतों एवम महामात्रों को आदेश दिये कि वे समय समय पर घुम घुम कर न्याय और शासन की देखभाल करें जिससे निम्न अधिकारी प्रजा के साथ न्याय करें और उनकी सुख सुविधा का प्रबन्ध करें। इसके अतिरिक्त, उनका कर्तव्य था कि वे सम्राट की प्रजा की स्थिति के बारे में सूचित करें।
2. अशोक ने धर्म–युत, धर्म महामात्र और 'स्त्री अध्यक्ष' महामात्र नामक नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की। 'धर्म–युत' और धर्म महामात्रों का कर्तव्य प्रजा की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का प्रयत्न करना था। वे प्रजा में सद्भावना सहनशीलता और नैतिक आचारो को फलाते थे। आवश्यकता होने पर अपराधियों के दण्ड को कम कर सकते थे और प्रजा की भलाई के लिए राज्य की ओर से दान ओर सहायता का प्रबन्ध करते थे। स्त्रियों की भलाई के लिए स्त्री अध्यक्ष महामात्र की नियुक्ति की गई थी।
3. न्याय में सुविधा और शीघ्रता के उददेश्य से उसने राजुकों को न्याय अधिकार प्रदान किये।
4. अपराधियों को मृत्यु दण्ड देने के लिए तीन दिवस कम समय दिया जाने लगा ओर अपने राज्याभिषेक के वार्षिक उत्सव के समय उसने अपराधियो को मुक्त करने की परम्परा आरम्भ की।
5. उसने मौजदारी तथा दीवानी (धन सम्बन्धी) मुकदमों में सनी व्यक्तियों के साथ समान कानूनों के द्वारा न्याय किये जाने की व्यवस्था की।

अशोक केवल शासन सम्बन्धी सुधारों से ही सन्तुष्ट नही हुआ, उसने लोक कल्याण के भी विभिन्न कार्य किये, उसने सडकें, नहरूं और कुऐं बनवायें, सडकों के दोनो और छायादार वृक्ष लगवायें, यात्रियों की सुविधा के लिए विश्रामगृहों की स्थापना की, दवाईयों के पौधे और लें के वृक्ष लगवायें तथा मनुष्यों और पशुओं के पृथक पृथक चिकित्सालय बनवाये। अशोक ने अहिंसा पर विशेष बल दिया। विभिन्न अवसरों पर मांस खाना वर्जित कर दिया। वर्ष में 56 दिन मछली खाने पर अंकुश लगा दिया गया।, पशुओं का अनावश्यक वध व शिकार बंद कर दिया गया। जंगलों की सुरक्षा एवं उन्हे आगे से बचाने का प्रबन्ध किया गया और इन सभी कार्यो की पूर्ति के लिए विभिन्न कानून बनाये गये परन्तु पशु वध और मांस खाने पर रूकावट जितनी कठोरता से राजा के महल में लागू थी उतनी जनसाधारण पर नही थी।

अशोक ने विहार यात्राओं और शिकार को समाप्त कर दिया। उसके स्थान पर उसने धर्म यात्राऐं आरम्भ की। वह समय समय पर विभिन्न बौद्व तीर्थयात्राओं पर एवं जनसाधारण के गांवों में जाता था और दान तथा सहायता कार्य करता था। उसके शासन धिकारियों से भी इसी बात की अपेक्षा की जाती थी।

इसी प्रकार अशोक ने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विभीन्न प्रशासनिक एवं लोकहितकारी कार्य किये। परन्तु अशोक ने शासन में ढिलाई नहीं आने दी। मृत्यु दण्ड उसके समय में था। उसने अपनी प्रजा को दण्ड देने के भय से मुक्त नहीं किया था। इस कारण शान्तिप्रिय नीतियां अपनाने पर भी अशोक अपने शासन में सफल हुआ।

### 9.5.3 अशोक का धर्म (धम्म) और उसके प्रसार के प्रयत्न

प्रारंभ में अशोक ब्राहम्ण धर्म का अनुयायी था। 'महावमसा' के अनुसार वह प्रतिदिन 60000 ब्राहम्णें को भोजन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कराता था तथा अनेक देवी देवताओं की पूजा करता था। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार अशोक शिव का पूजक था। परन्तु कलंग के युद्ध के पश्चात् उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया।

तब भी अशोक का धर्म अथवा धम्म क्या था, इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है यद्यपि वह मतभेद बुहत गंभीर नहीं है। डॉ. आर.जे. भण्डारकर ने लिखा है ''अशोक का धर्म धर्म निरपक्ष और बौद्ध ध्णर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं था।'' डॉ. एन. के शास्त्री ने लिखा है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को एक शुष्क बौद्धिक ज्ञान की खोज के स्थान पर एक आकर्षक, भावनात्मक एवं लोकप्रिय धर्म में परिवर्तित कर दिया। डॉ. एफ. डब्ल्यू. थॉमस ने लिखा है कि अशो निसंन्देह बौद्ध मतावलम्बी था। वह पहले मात्र उपासक था जो बाद में भिक्षु बन गया। तत्पश्चात् उसने धर्म के प्रति सम्मान और अपने व्यक्तिगत विश्वास की घोषणा भी की। परन्तु डॉ. थॉमस यह भी लिखते हैं कि दूसरी तरफ हम उससे धर्म के गहन विचारों और मौलिक सिद्धांतों के बारे में कुेछ भी नहीं सुनते। वह लिखते है कि हमें उसके विचारों में कहीं भी चार सत्य अष्टांक मार्ग जीव के आवागमन के सिद्धांत आदि के बारे में कुछ भ प्राप्त नहीं होता। इसी विचार को डॉ. स्मिथ ने आगे बढाते हुए लिखा है कि अशोक का धम्म किसी एक सम्प्रदाय विशेष से संबंधित न होकर जाति अथवा धर्म से पृथक एक नैतिक कानून है। इस प्रकार कुछ द्विान यह मानते हैं कि अशोक बौद्ध धर्म का मानने वाला था और उसने बौद्ध धर्म अथवा उसके कुछ परिवर्तित स्वरूप का प्रचार किया और कुछ अन्य विद्वान यह मानते हैं कि अशोक का धर्म अथवा धम्म बौद्ध धर्म न होकर उसके कुछ नैतिक सिद्धान्तों की स्वीकृति तथा उनका प्रचार मात्र था। परन्तु सभी विद्वान यह स्वीका करते है कि अशोक ने बौद्व धर्म के मूल सिद्धान्तों का नहीं अपितु उसके कुछ नैतिक सिद्धान्तों का ही प्रचार किया जो निसन्देह बौद्व धर्म से प्रेरणा प्राप्त तो थे परन्तु जो अन्य सभी भारतीय धर्मो में भी प्राप्त किये जा सकते है। यह भी मानाजाता है कि उसने व्यक्तिगत दृष्टि से बौद्व धर्म को स्वीकार कर लिया था। कलिंग के युद्व के पश्चात अशोक ने बौद्व धर्म स्वीकार किया, वह बौद्व संघ में भी रहा और वह बौद्व तीर्थस्थानों पर जाता था, यह सभी मानते है। डॉ. मुखर्जी ने लिखा है कि अशोक की स्थिति ''उपासक और भिक्षु के मध्य में भिक्षुगतिक की थी'' इस आधार पर आधुनिक समय में यह विश्वास किया जाता है कि अशोक का व्यक्तिगत बौद्व धर्म था। 'भाब्रलघु' के शिलालेख में उसने बौद्व धर्म के तीन रत्न – बुद्व ध्र्म और संघ में अपनी आस्था स्पष्ट रूप से प्रकट की है। उसने बौद्व धर्म और संघ में एकता बनाये रखने का भी प्रयन्त किया था। परन्तु अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया और जो अशोक धम्म कहलाया, वह बौद्व धर्म से प्ररणा प्राप्त कुछ नैतिक और सामाजिक नियम थे जिन्हे सभी धर्मो में समान रूप से पाया जा सकता है। इस कारण अशोक अपनी प्रजा से जिस धर्म का अनुसरण करना चाहता था सह उसके व्यक्तिगत धर्म से पृथक था।

जिन कारणों से अशोक के धर्म का निर्माण हुआ उनमें यह आवश्यक भी था कि वह अपने व्यक्गित धर्म तथा उस धर्म में अन्तर करता जिसे वह अपनी प्रजा में फैलाना चाहता था । अशोका का व्यक्तिगत धर्म तो बौद्व धर्म था परन्तु जिस धर्म को अशोक ने अपनी प्रजा में फैलाने का प्रयत्न किया वही उसका धर्म अथवा धम्म से पुकारा जाने का अधिकारी है। अशोक के इस धर्म के निर्माण में विभिन्न परिस्थितियां उतरदायी थी। मौर्य वंश ब्राहमण धर्म के विरूद्व न था परन्तु वह वह नवीन जैन और बौद्व धर्म के पक्ष में था। प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त अपने अंतिम समय में जैन मतावलम्बी हो गया था। अशोका का भी इन नवीन धार्मिक आन्दोलनों के प्रतिसहदृय होना उसके पारिवारिक वातावरण के अनुकुल था। इसके अतिरिक्त, इन आन्दोलनों ने समाज को विभाजित कर दिया था। नवोदित व्यापारी वर्ग और नगरों में उसकी शक्ति के बढ़ने से यह सामाजिक विभाजन और अधिक तीव्र हो गया था। जनसाधारण की सहानुभूति भी इन नवीन धार्मिक विचारों के प्रति थी। ऐसी स्थिति में सामाजिक एकता को बनाये रखने और जनसाधारण की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अशोक ने अपने धम्म के विचार को जन्म दिया। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है : ''अशोक को इस कार्य में इस तथ्य की सहायत मिली कि इन सम्प्रदायों को नवोदित व्यापारी वर्ग का समर्थन प्राप्त था और जनसाधारण का बहुमत इनके विरूद्व न था। इसके अतिरिक्त, ये नवीन विचार उग्र रूप से पुराने विचारों के विरूद्व न थे जिसके कारण दोनो में समझौता सम्भव था। इस प्रकार, अशोक ने धम्म के विचार को ग्रहण करने में व्यावहारिक लाभ देखा'' राज्य की राजनीतिक आवश्यकताऐं भी इसके पक्ष में थी। अशोक का साम्राज्य बहुत विस्तृत था और उसके नागरिकों में परस्तर अपने अधिक सांस्कृतिक मतभेद थे कि उन्हे एक सूत्र में बांधने के लिए समान धार्मिक विचारधारा की आवश्कता थी। नवीनतक विजित प्रदेशों अथवा छोटी छोटी स्वतन्त्र राजनीतिक इकाईयों को एक राजनीतिक एकता में बांधने के लिए भी इस प्रकार की आवश्यता थी। एक ऐसी विचारधारा जो सभी के अनुकूल हो इस कार्य की पूर्ति कर सकती थी। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है कि एक नवीन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

धर्म (विश्वास) को अपनाना और उसका सक्रिय प्रचार करना (राज्य की) छोटी इकाईयों को सम्मिलित करके साम्राज्य को एक सूत्र में बांधने वाली शक्ति का कार्य कर सकता था। उसका प्रयोग विजित भू क्षेत्रों के संगठन के लिए भी किया जा सकता था यदि वह प्रयोग सावधानी से किया जाता और उसे इच्छा न रखने वाले व्यक्तियों पर जबरदस्ती न लादा जाता। इन सामाजिग और राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अशोक ने बौद्ध धर्म का सहारा लिया जो उस समय एक प्रभावशाली आन्दोलन था। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा '' अशोक निश्चय ही बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसका अनुयायी बन गया। लेकिन उसके समय का बौद्ध धर्म केवल एक धार्मिक विश्वास न था अपितु वह विभिन्न स्तरों पर समाज को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने वाला एक सामाजिक और बौद्ध आन्दोलन था। निश्चय ही एक कुशल राजनीतिक के लिए उससे समझौता करना आवश्यक था।'' परन्तु राजनीति के लिए धर्म का प्रयोग करते हुए अशोक धर्म के प्रति वास्तव में श्रद्धालु था। बौद्ध धर्म उसके लिए एक व्यक्ति का शासक दोनों ही दृष्टियों से लाभप्रद था।

उपर्युक्त आधारों पर अशोक ने अपने धर्म (धम्म) का निर्माण किया। 'धम्म' प्राकृत भाषाा का शब्द है जिसे संस्कृत भाषा में धर्म पुकारते हैं धर्म की व्याख्या अथवा उसका दर्शन अत्यंत विस्तृत है। अशो ने उसी विस्तृत आधार पर अपने धर्म का निर्माण किया। उसने जिस धर्म का प्रचार किया उसकी निम्नलिखित विशषताऐं थी।

(i) उसने कुछ नैतिक सिद्धांतों के व्यवहार पर बल दिया जिनका आरंभ परिवार से हाता है। एक व्यक्ति को परिवार के सभी सदस्यों से उचित व्यवहार करना चाहिए। बों का सम्मान, पारस्परिक प्रेम, गुरू के प्रति श्रद्धा, मिों से सद्व्यवहार, ब्राहम्ण, श्रवण तथा साधुओं का सत्कार, दासों, निर्धनों एंव असहायों के प्रति कृपा, दान आदि मनुष्य के कर्त्तव्य हैं।

(ii) अपने दूसरे तथा सातवें स्तम्भ अभिलखे में अशोक ने व्यक्ति के लिए दया, दान, सत्यता, पवित्रता और सदाचार पर बल दिया। मनुष्यों को इन गुणों का पालन करना चाहिए।

(iii) अहिंसा पर उसने अत्यधिक बल दिया। अशोक कर्मकाण्ड और बलि प्रथा के विरूद्ध था। मानव के प्रति ही नही अपितु पशुओं के प्रति भी मनुष्य को दया का व्यवहार करना चाहिए। यह कारण वह पशु हत्या पशु बलि के विरूद्ध था। अपने धर्म में उसने इसका प्रचार किया।

(iv) उसने व्यक्तियो, को ईर्ष्या, क्रोध, पाप और दम्भ और क्रुरता को त्याग देने के लिए कहा।

(v) उसने व्यक्तियों को कर्मकाण्ड को छोड़कर धर्म दान और धर्म विजय के लिए कहा।

(vi) उसने उपर्युक्त सभी व्यक्गित गुणों को सामाजिक गुणों में परिवर्तित करने के लिए कहा।

(vii) उसने सभी सम्प्रदायों से परस्पर सहिष्णुता का व्यवहार करने के लिए कहा। अपने 12 वें शिलालेख में उनसे लिखवागा था कि सभी व्यक्ति सभी स्थानों पर रहें, सभी एक दूसरे से मीठा बोलें, सभी अपने हृदयों को शुद्व बनायें, कोई भी दूसरों की निन्दा न करें और अपनी तथा सम्प्रदाय की प्रशंसा न करें, सभी एक दूसरे के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करें और सभी अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा का पालन करें।

उपर्युक्त व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता तथा आचरण के नियमों ने अशोक के धर्म का निर्माण किया। इस प्रकार, यह नहीं कहा जा सकता है कि अशोक ने बौद्व धर्म के सिद्वान्ता का प्रचार किया, अशोक का धर्म एक व्यावहारिक आचरण का धर्म था जिसके सिद्वान्त सभी धर्मो में पाये जा सकते है। अशोक का धर्म व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाने पर निर्भर करता था। उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना प्रमुख थी। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है कि अशोक लिए धम्म व्यावहारिक जीवन का एक ऐसा मार्ग था जिसे उसने अपने परिचित दार्शनिकों के नैतिक उपदेशों एवं सम्भवतया अपने जीवन के अनुभव से प्राप्त किया था। वह एक श्रेष्ठतम सामाजिक नैतिकता और नागरिक उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर था। उसने धर्म का आधार अत्यधिक सहिष्णु था। उसके सिद्वान्त हिन्दू, बौद्व और अन्य सभी धार्मिक सम्प्रदायों के नैतिक नियमों से लिये गये थे। इस कारण अशोक का धम्म स्वयं उसके द्वारा उत्पन्न किया गया था। डॉ. थापर ने लिखा है कि घम्मं स्वयं अशोक का अन्वेषण था। अपने धर्म के प्रचार के द्वारा अशोक ने किसी एक विशेष धर्म का प्रचार नही किया। अपितु उसका उद्देश्य अपने सभी नागरिकों की भलाई और उसमें सहिष्णुता एवं सामाजिक भावना जागृत करना था। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है कि अपने धर्म प्रचार के द्वारा अशोक धर्म प्रचार के संकीर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करने, दुर्बलों की शक्तिशालियों से रक्षा करने और अपने साम्राज्य में एक विस्तृत सामाजिक उतरदायित्व की भावना को जागृत करने का प्रयत्न कर रहा था, जिसका विशेष कोई भी सांस्कृतिक समुदाय नही कर सकता था। अपने इसी उद्देश्य के कारण अशोक महान् कहलाने का अधिकारी बना। उसे पहले और उसके पश्चात, सम्भवतया, किसी भी शासक ने अपने सम्मुख इतना विशाल दृष्टिकोण नही रखा। केवल मुगल बादशाह अकबर कुछ माा में उसके निकट आ सकता थां। धर्म महामात्यों की नियुक्ति इस बात को सिद्व करती है कि अशोक किसी एक विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का समर्थन नही कर रहा था, अपितु वह अपने सभी नागरिकों की धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक व राजनीतिक उत्थान के लिए प्रत्यतशील थां यदि अशोक किसी एक विशेष धर्म के प्रचार का प्रयत्न करना चाहता था। धर्म महामात्यों की नियुक्ति की आवश्यकता न थी क्योंकि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने धर्म के प्रचार के लिए स्वयं समर्थ और स्वतन्त्र थ, मुख्यातया बौद्व संघ तो इस कार्य में अत्यधिक समर्थ थे। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है कि यदि "धम्म (अशोक का धर्म) किसी एक धर्म, मुख्यतया बौद्व धर्म, से सम्बन्धित होता तो धर्म महामात्यों की नियुक्ति सर्वथा अनावश्यक थी। धर्म महामात्य अशोक के धर्म का प्रचार अवश्य करते थे परन्तु वे किसी एक विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का समर्थन नही करते थे अपितु सभी व्यक्तियों एवं सभी धर्मो के आचरण पर बल देते थे। उनका एक प्रमुख कर्तव्य समाज के असहाय एवं दुर्बल वर्गो की रक्षा करना था।

अपने धर्म अथवा धम्म के प्रचार के लिए अशोक ने निम्नलिखित विभिन साधनों का प्रयोग किया :

1. उसने विभिन्न स्थानों पर शिलाओं तथा स्तम्भों पर अपने विचारों को लिखवाया। ये शिला अभिलेख और स्तम्भ लेख उसके प्रचार के साधन बने तथा उसने यह भी पता लगता है कि उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए किन साधनों का प्रयोग किया था। अशोक के समय के इतिहास को जानने के लिए भी बहुत उपयोगी है। इन अभिलेखों को हम चार भागों में बांट सकते है।

1. **चौदह शिलालेख** :–ये पेशावर हजारा, देहरादुन, गिरनार (काठियावाड़) थाना (बम्बई, धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) तथा कुर्नूल जिलों में पाये गये है। जिनकी कुल संख्या 14 है।
2. **लघु शिलालेख** :–ये रूपनाथ (जबलपुर) बैराट जयपुर) सहसराम बिहार, मस्की (रायपुर) मैसूर में पांच स्थनों परन, गुज्जरा (गध्य प्रवेश), कुर्नूल गें एक रथान पर, उत्तर प्रवेश गें गिर्जापुर जिले गें एक रथान और एक आन्ध्र पेवश गें प्राप्त हुए है, इनकी कुल संख्या 13 है।
3. **सात स्तम्भ अभिलेख** :– ये भारत के पृथक पृथक सात स्थानों पर प्राप्त हुए है। इनमे से एक स्तम्भ का फीरोजशाह तुगलक दिल्ली लाया था।
4. **अन्य अभिलेख** :– ये लुम्बीनीवन, तक्षशिला, जलालाबाद, बाराबर आदि विभिन्न स्थानों पर पाये गये है।

अशोक ने अपने अभिलेखों में स्थानीय लिपियों का प्रयोग किया था जिससे विभिन्न अभिलेखों की लिपि भिन्न भिन्न है। उतर पश्चिम सीमा के अभिलेख खरिष्ठ लिपि में लिखे हुए प्राप्त थे।

2. उसने अपने व्यक्तिगत आचरण को धर्म के अनुकुल बनाया। उसने मांस खाना बंद कर दिया, महल में पशु वध कम कर दिया, दान और सार्वजनिक हित के कार्य किये, तीर्थयात्राऐं की तथा सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया। बौद्व सभा के अवसर पर भी उसने आजिविकों के लिए बराबर की पहाड़ियों में निवास स्थान (गुहाऐं बनवाये थे।

3. उसका सामाजिक व्यवहार धर्म के अनुकुल बन गया। उसने पशुओं की दौड़, लड़ाई, शिकार आदि के स्थान पर धार्मिक उत्सव तथा समारोह मनाने आरम्भ किये। उसने रण घोष के स्थान पर धर्म घोष किया और राज्य विस्तार की नीति को त्याग दिया। उसका विश्वास धम्म विजय में हो गया और उसने कलिंग के युद्व के पश्चात कोई युद्व नही किया।

4. उसने धर्म महामात्यों की नियुक्ति की जो उसके धार्मिक विचारों और सहिष्णुता की भावना को प्रसारित करने, विभिन्न सम्प्रदायों मे सहयोग स्थपित करने, निर्बलों की रक्षा तथा असहायों की सहायता करने आदि कार्य करते थे।

5. उसने राजुक, प्रदेशाक और मुक्त नामक अधिकारियों के भी इस प्रकार के कार्य करने के आदेश दिय।

6. उसके समय में बौद्व की तीसरी सभा पाटलिपुत्र में हुई जिसकी अध्यक्षता भोग्गलिपुत तिस्स ने की। इस सभ ने देश विदेश में धर्म प्रचार के लिए बौद्व भिक्षुओं को विभिन्न स्थानों पर भेजा। महेन्द्र एवं संघमित्रा (सम्भवतया अशोक का सबसे बड़ा पुत्र ओर पुत्री) भी इसी सभा के द्वरा धर्म प्रचार के श्री लंका भेजे गये।

7. स्वयं अशोक ने सीरिया, मिस्त्र, साईप्रस, एपिसर, चोल और पाण्ड्य राज्य आदि विदेश तथा स्वदेश के धर्म प्रचारक भेजे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक सीमित यात्रा में अशोक के उपर्युक्त प्रयत्न सफल रहें उसके समय में भी उसकी प्रजा ने उसके धर्म का पालन किया और विदेशों में भी उसका प्रचार हुआ यद्यपि यह नही माना जा सकता है कि अशोक साम्प्रदायिक और धार्मिक मतभेदों को समाप्त करने में सफल हुआ था।

### 9.5.4 अशोक के उतराधिकारी

अशोक की मृत्यु के पश्चात मौर्य वंश पतन की ओर अग्रसर हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके साम्राज्य का विभाजन हो गया। दुर्बल उतराधिकारियों और उतर पश्चिम के विदेशियों के आक्रमण तथा दक्षिणी भारत की ओर से आन्ध्रों के आक्रमण ने इस वंश के पतन में भाग लिया था। कुणाल, दशरथ, सम्प्रति, शालिशुक, देववर्मा, शतधन्वा, और वृहद्रथ मौर्य वंश के उतरकालीन सम्राट माने गये थे। इसके अंतिम शासक वृहद्रथम को उसके सेनापति, पुष्यमित्र ने मारकर श्रृंग वंश की स्थापना की।

### 9.5.5 मौर्य वंश के पतन के कारण और सम्राट अशोक का उसमें उत्तरदायित्व

अशोक की मृत्यु के पश्चात पचार वर्षो में ही शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके अंतिम सम्राट वृहरथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने उसकी सेना के सम्मुख ही कत्ल करके एक नवीन वंश के राज्य की नींव डाली। इस साम्राज्य के पतन के विभिन्न कारण बताये जाते है।

डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने अशोक के शासन के विरूद्व हुई ब्राहमाों की प्रतिक्रिया को मौर्य वंश के पतन का मुख्य कारण बताया है। उसके अनुसार, पशु बलि की समाप्ति, मौर्य वंश के शुद्र शासकों (जैसा कि ब्राहमण उसे मानते थे) द्वारा कानून बनाना, धर्म महामात्यों द्वारा ब्राहमण धर्म का दमन तथा ब्रहमणों के विशेषाधिकारों की समाप्ति आदि ने ब्राहमणों की प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसका अंतिम परिणाम पुष्यमित्र शुंग के द्वारा वृहरथ का कत्ल था। परन्तु डॉ. शास्त्री के विचार सर्वमान्य नहीं है। अशोक की कोई भी नीति ब्राहमण विरोधी न थी अपितु उसके शिलालेखों से पर्याप्त ऐसी साम्रग्री मिलती है है जो सिद्व करती है कि अशोक ब्राहमणों का सम्मान करता था और उन्हे दान देता था। पुष्यमित्र का सेनापति बनाना ही इस बात का प्रमाण था कि मौर्य शासक ब्राहमण विरोधी नही थे । पुष्यमित्र का सिंहासन प्राप्त करना जनसाधारण के व्रिदोह का परिणाम न होकर महल में एक षड़यन्त्र का परिणाम था। ब्राहमणों की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप किसी जन क्रान्ति का आभाष उस घटना से नहीं होतां। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी ने डॉ. शास्त्री के मत का तीव्र विरोध कियां उसके अनुसार पुष्यमित्र की महत्वाकांक्षा उसके विद्रोह का कारण थी न कि ब्राहमणों की प्रतिक्रिया

डॉ. हेमचन्द्र रायचौधर के अनुसार अशोक की अहिंसा की नीतियों ने राज्य की सैनिक शक्ति और सैनिक मनोबल को दुर्बल कर दिया जिसके कारण वह ग्रीक (युनानी) आक्रमणों से मुकाबला करने की स्थिति में न रहा। उनके अनुसार सम्राट की सैनिक दुर्बलता प्रान्तीय सरदारों के द्वारा प्रजा के प्रति अत्याचार करने का कारण बनी जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थनों पर प्रजा के विद्रोह हुए। इस प्रकार डॉ. रायचौधरी अशोक को मौर्य साम्राज्य के शीघ्र पतन के प्रत्यक्ष रूप से उतरदायी ठहराते है। परन्तु डॉ. रायचौधरी का विचार सर्वमान्य नही है। अशोक की अहिंसा की नीति के युद्व करने में मनोबल पर तो अवश्य प्रभाव पड़ा होगा परन्तु यह प्रमाणित नही होता है कि अशोक ने अपनी सेना की संख्या में कमी कर दी थी अथवा राज्य दण्ड के भय को समाप्त कर दिया था। इस कारण, अशोक की अंहिसा की नीति मौर्य साम्राज्य के पतन का एक सहायक कारण तो मानी जा सकती है परन्तु प्रमुख कारण नही मानी जा सकती।

डॉ. कौशाम्बी के अनुसार मौर्य शासकों की आर्थिक दुर्बलता उसके पतन का कारण थी। एक विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य के व्यय के लिए मौर्य शासकों ने जनता पर कर का भार डाल दिया। और धन की कमी के कारण खराब सिक्के चलाये। इससे आर्थिक दुर्बलता आयी जो मौर्य वंश के पतन का कारण बनी। परन्तु डॉ. कौशाम्बी का मत भी सर्वमान्य नही है। तब भी यह माना गया था कि मौर्य वंश की आर्थिक दुर्बलता भी उसके पतन का एक कारण अवश्य थी। सम्राट अशोक के समय से एक बड़ी सेना की आवश्यकता नही रह गई थी क्योंकि उसने युद्व करने बंद कर दिये थे। तब भी मौर्य सेना की विशाालता में कमी नही की गइ। अशोक ने अनेकक नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की थी जिससे नौकरशाही का व्यय भी बढ़ गया था। अशोक ने धर्मार्थ और सार्वजनिक हित मे वृद्वि करने के लिए भी धन का व्यय किया। इन सभी ने राज्य के व्यय को बढ़ा दिया जबकि उसके अनुपात में राज्य के आय के साधनों में वृद्वि सम्भव नही हुई। इस कारण राज्य आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हुआ जिसने, निःसन्देह मौर्य वंश के पतन में भाग लिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस कारण, जैसा कि डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है, मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण सैनिक, अकर्मण्यता, ब्राहमणों का असन्तोष, जनसाधारण के विद्रोह अथवा आर्थिक दबाव के आधार पर सन्तोषजनक तरीके से नही समझाये जा सकते। उसके कारण इनसे अधिक मौलिक थे और इनसे कहीं अधिक मौर्य जीवन के विस्तृत आधारों से सम्बन्धित थे। डॉ. थापर के अनुसार, मौर्य वंश के पतन का मूल कारण केन्द्रीय नौकरशाही व्यवस्था और एक राज्य अथवा राष्ट्र के विचार का अभाव थां उसके अनुसार मौर्य शासन केन्द्रीकरण पर आधारित था और उसमें नौकरशाही की योग्यता एवं वफादारी पर बहुत कुछ निर्भर करता था। परन्तु मौर्य शासकों ने न तो योग्यता को जांचने का कोई ठोस आधर अपनाया और न ही राज्य के प्रति नौकरशाही की वफादारी को स्थापित रखने का कोई उपाय किया। उसमें सभी कुछ एक व्यक्ति अर्थात सम्राट की योग्यता और शक्ति पर निर्भर करता था। उस शासन में प्रतिनिधि सभाऐं न थी और कार्यकारिणी एवं न्यायपालिका के अधिकारों को पृथक नही किया गया। इस प्रकार, उस व्यवस्था में राज्य और राजा में कोई अन्तर नही था इसकेअ अतिरिक्त, आर्थिक आधार और गम्भीर असमानताओं के कारण एकता सम्भव न थी और सांस्कृतिक प्रगति के आधार पर देश के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत अन्तर थे। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकता सम्भव न थी। इसी कारण डॉ. थापर के निर्णयानुसार मौर्यो के पतन का मुख्य उत्तरदायित्व ऐसे अत्यधिक केन्द्रित शासन को दिया जाना चाहिए जिसमे सम्पूर्ण सत्ता कुछेक व्यक्तियोंके हाथों में थी जिनमें किसी भी प्रकार की राष्ट्रीयता की भावना का अभाव थ। परन्तु डॉ. थापर का विचार आधुनिक विचाराधारा के आधार पर मौर्य युग की परिस्थितियों को समझने का प्रतीत होता है अन्यथा उस युग में राष्ट्रीयता की भावना अथवा एकता की कोई ऐसी भावना जो सम्पूर्ण भारत में व्याप्त होती, सम्भव नही हो सकती थी और सम्भवतया राजतंत्र अथवा राजा के व्यक्तिगत शासन और नौकरशाही के उसके प्रति वफादार होने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की शासन व्यवस्थ इतने बड़े साम्राज्य के लिए उपर्युक्त भी नही हो सकती थी।

डॉ. आर.के मुखर्जी ने इन कारणों को अधिक व्यावहारिक रूप में लिया है। उनके अनुसार, अशोक से पहले और बाद के समय में भी उससे कहीं छोटे साम्राज्यों का पतन भी इसी प्रकार हुआ और इसके कुछ स्वाभाविक कारण रहे। उसके अनुसार स्थानीय स्वतन्त्रता की भावना, आवागमन के साधनों का अभाव, प्रान्तपतियों का अत्याचारपूर्ण शासन और विद्राह की प्रकृति, महल के षड़यन्त्र और सरकारी अधिकारियों की धाखेबाजी आदि इसके प्रमुख कारण रहें। विदेशी आक्रमणकारियों ने भी इसमें सहयोग दिया, चाहे उन विदेशी आक्रमणों का कारण भी आन्तरिक दूर्बलता ही रही हो। डॉ. रोमिला थापर भी इस बात से सहमत है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात राज्य के विभाजन से दुर्बलता आ गई थी। मौर्य साम्राज्य का पश्चिम भाग कुणाल को और पूर्वी भाग दशरथ को प्राप्त हुआ था और क्योंकि पश्चिम भाग को अपने शासन को व्यवस्थित करना था, अतएव वह युनानी आक्रमणों की ओर पूर्ण ध्यान न दे सका। वह यह भी स्वीकार करती है कि राजपरिवार के सदस्यों का सिंहासन को प्राप्त करने अथवा प्रान्तों में अपने को स्वतन्त्र बनाने की लालसा भी साम्रााज्य की दुर्बलता का कारण थी। इस कारण, मौर्य साम्राज्यों का पतन प्रायः उन्ही कारणों से हुआ जिसके कारण मध्य युग तक अन्य साम्राज्यों का भी पतन होता रहा। अयोग्य उतराधिकारी, स्थानीय स्वतन्त्रता स्थाति करने के प्रयत्न, आवागमन के साधनों की कमी, महल के षड़यन्त्र आदि मौर्य साम्राज्य के पतन के भी मुख्य कारण रहें। इस कारण, मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक को उतरदायी ठहराया जाना उपर्युक्त नही है, और यदि थोड़ा बहुत भाग उसका रहा तो उसने जो अन्य कार्य किये उन्हे देखते हुए उसका दोष नगण्य रह जाता है।

### 9.5.6 मौर्य संस्कृति तथा सभ्यता

#### 9.5.6.1 सामाजिक दशा

मौर्य युग में जाति व्यवस्था और वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्णतया विकसित हो गई थी तथा जाति बन्धन कठोर थे। युनानी राजदूत मैगस्थनीज ने भारतीयों को सात जातियों मे वर्गीकृत किया थां (1) दार्शनीक (2) किसान (3) शिकारी और पशु पालन करने वाले (4) व्यापारी, कारीगर ओर नाव बनाने वाले (5) यौद्वा (6) गुप्तचर (7) अमात्य तथा मंत्री। परन्तु मैगस्थनीज का यह जाति विभागजन गलत धारणा का परिणाम था। उसने विभिन्न व्यवसायों अथवा कार्यो को आधार पर जातियों का विभाजन किया था अन्यथा भारत में उस समय मुख्यतयाः चार वर्ग तथा जातियां – ब्राहमण, शुद्र, वैश्य और शुद्र थी। इसके अतिरिक्त 'अर्थशास्त्र' में कुछ वर्ण संकर जातियों का भी उल्लेख है।, जैसे अम्बष्ठ, पारश्व, सूत, वेदेहक, रथकार, चाण्डाल आदि। अर्थशास्त्र के अनुसार चाण्डालों के अतिरिक्त जिन्हे नगर के बाहर रहना पड़ता था और जो

मूलतया स्वच्छता ओर सफाई के र्का करते थे, सभी अन्य वर्ण शंकर जातियों को शुद्रों में स्थान प्रदान किया गया था। इस काल में शुद्रों को भूमि देकर उन्हे उत्पादन में भागीदार होने का अधिकार को आरम्भ किया गया। उपर्युक्त सुविधाओं के प्राप्त होने पर, निःसन्देह, मौर्य काल मे शुद्रों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ होगा। जिससे उनके सामाजिक स्तर में भी सुधार अवश्य होगा। अर्थशास्त्र में शुद्र को भी आर्य पुकारा गया है। और उसे मलेच्छ से भिन्न माना गया है। उसमें यह भी विवरण है कि आर्य शुद्र को दास नही बनाया जा सकता है। इसके सिद्व होता है कि मौर्य काल में वर्ण व्यवस्था जटिल होते हुए भी शुद्रों के प्रति पर्याप्त उदार थी। जातिय कठोरता इस बात से स्पष्ट होती है कि विभिन्न जातियों में पारस्परिक विवाह सम्बन्धों और खान पान पर प्रतिबन्ध थे। विभिन्न नवीन जातियों का निर्माण भी इस काल में आरम्भ हो चुका था। व्यवसायों के आधार पर जुलाहे, धोबी, दर्जी, सुनार, बढ़ई, लुहार आदि नवीन जातियो के रूप में उभर चुके थे। सभी व्यक्ति वर्णाश्रम व्यवस्था अर्थात चार आश्रमों, ब्रहचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का पालन करते थे। परन्तु एक व्यक्ति गृहस्थ आश्रम के उपरान्त अपनी पत्नी और बच्चों की सुरक्षा व्यवस्था करने के पश्चात ही सन्यास ले सकता था।

यद्यपि युनानी लेखकों ने दास प्रथा का वर्णन नहीं किया है परन्तु दास प्रथा प्रचलित थी। मौर्य सम्राटों ने आर्थिक कारणों से भी दास प्रथा का प्रोत्साहन दिया था। राज्य के कृषि फार्मो पर दासों से खेती कराई जाती थी।

दास प्रथा कानून द्वारा स्वीकृत थी तथा मालिक और दास के कानूनी अधिकारों की व्याख्या की गई थी जैसे यदि एक दास स्त्री अपने मालिक से पुत्र उत्पन्न कर दे तब उसे दासता से मुक्ति मिल जाती थी और उसके पुत्र को उसके पिता के समान कानूनी अधिकार प्राप्त हो जाते थे। 'अर्थशास्त्र' में बताया गया कि एक व्यक्ति अपनी कीमत देकर दासता से मुक्त हो सकता था अथवा उसका मालिक भी उसे स्वेच्छा से मुक्त कर सकता था। और उस पर उससे खरीदी गइ सम्पति पर दास का ही अधिकार होता था, मालिक उसे छीन नही सकता था।

स्त्रियों की स्थिति पहले से गिर गई थी। यद्यपि वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थी, धार्मिक ओर समाजिक कार्योतथा उत्सवों में भाग लेती थी और गुप्तचर और शरीर रक्षकों के रुप में उन्हे राज्य सेवा में भी स्थान प्राप्त होता था परन्तु उन्हे स्वतन्त्रताओं पर सीमाऐं लगी हुई थी। साधारणतया स्त्री पुरूषों का मिलना उचित नही समझा जाता था। यद्यपि इससे यह प्रतीत होता है कि पर्दा प्रथा का प्रचलन हो गया था। साधारण व्यक्ति एक ही स्त्री से विवाह करते थे। परन्तु धनाढ्य और राजवर्गो के पुरूषों गें बहु विवाह प्रचलित हो गया था। राती प्रथा केवल उत्तर पश्चिग के कुछ गागों गें प्रचलित थी। यद्यपि यह सर्वमान्य न थी। स्त्रियां वैश्यावृति भी करती थी। उनको गणिका अथवा सयाजिवा पुकारा जाता था। राज्य इनसे कर वसूल करता था। वस्तुतः वैश्यावृति राज्य के नियन्त्रण में थी। परन्तु यदि उनमें से किसी के भी पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त धन हो जाता था तो वह राज्य का कर देकर वैश्यावृति से छूटकारा पा सकती थी। स्त्रियों की स्थिति बौद्वों तथा जैनियों में कुछ अधिक अच्छी थी। जो उन्हे भिक्षुगी अथवा साधु बनाने का अधिकार प्रदानक करते थे। हिन्दु धर्म में भी स्त्री को कत्ल करना ब्राहमण हत्या के समान समझा जाता था।

स्त्री पुरूष दोनो ही अच्छे वस्त्र पहनते थे। साधारण वर्ग सुती कपड़े पहनाता था परन्तु धनवान व्यक्ति बहूमूल्य सूती तथा रेशमी वस्त्र पहनते थे जो कढे हुए होते थे और जिन पर बहुमूल्य पत्थर अथवा माणिक जड़े होते थे। स्त्री पुरूष दोनो ही सौन्दर्य के प्रति जागृत थे। और अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने के लिए सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते थे।

उनका साधारण भोजन चावल, दुध और उससे बने हुए अन्य पदार्थ, दाल, फल, सब्जियां आदि था। परन्तु उत्सवो के अवसर पर वे शराब और मांस का भी प्रयोग करते थे।

मनोरंजन के लिए विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक उत्सव होते थे। इसके अतिरिक्त, मनुष्यों तथा पशुओं की व्यक्तियों का नैतिक चरित्र बहुत अच्छा था। झुठी और चोरी का नाम तक न थां उनमे सम्पति के लिए झगडे बहुत कम थे और उनके मकानों की सम्पति को किसी भी सुरक्षा की आवश्यकता नही होती थी।

जाति विभाजन, आर्थिक असमानता, दास प्रथा और स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारण सामाजिक तनाव अवश्य होगा, परन्तु उसका कुप्रभाव उस समय तक स्पष्ट रूप से व्यक्त नही हुआ था।

### 9.5.6.2 आर्थिक दशा

मौर्य युग सम्पन्नता का युग थ। कृषि व्यापार और उद्योगों के प्रगति के कारण देश धनवान था। राज्य के आर्थिक कार्यो में अत्यधिक वृद्वि हो गई थी। भूमि पर राज्य का स्वामित्व माना जाने लगा था। कृषि और कृषि योग्य

भूमि में वृद्वि की गयी थी। लड़ाईयां, रथों की दौड़, जुआ या शतरंज खेलना, संगीत और नृत्य मनोरंजन के अन्य साधन थे। अशोक ने मनुष्यों और पशुओं की लड़ाईयो को बंद कर दिया था। नाटक भी मनोरंजन का एक साधन था। मौर्य सम्राटों ने बहु जनसंख्या वो क्षेत्रों से व्यक्तियो को हटाया और उन्हे नवीन भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहन दिया। अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारियों ओर पुरोहितों को खेती करने के लिए नवीन भूमि दी गई। यदि कृषक कृषि उत्पादन में वृद्वि नही कर पाते थे तो उन्हे भूमि से हटाक अन्य कार्यो में लगा दिया जाता था। राजा ने अपने कृषि फार्म बनाये। कौटिल्य ने कृषि के सम्बन्ध में 6 मौसमों को बताया है जबकि उसके पूर्व के समय में केवल 5 मौसमों का उल्लेख प्राप्त होता है। राज्य ने सिंचाई को भी पर्याप्त व्यवस्था की और किसानों को कृषि में वृद्वि करने के लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा प्रदान की जाती थी। चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र के प्रान्तपति ने गिरनार के निकट एक नदी पर बांध का निर्माण कराकर एक झील बनवायी थी।

राज्य ने व्यापार और उद्योगों की प्रेगति को प्रोत्साहन दिया था। राज्य ने नाप तोल व वस्तुओं की जांच और बाजार की देखभाल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये थे। खानों पर राज्य का स्वामित्व था। सम्भवतया छोटा नागपुर की तांबे ओर सोने की खानों तथा मैसूर की सोने की खानों का पता सर्वप्रथम मौर्य काल में लगा। इस काल में लोहे के उत्पादन में वृद्वि हुई। जंगल, नमक और अस्त्र शस्त्र निर्माण पर भी राज्य का एकाधिपत्य था। शराब बनाने और बचेने का कार्य भी सरकारी एकाधिपत्य था। सभी जुआघर राजकीय नियन्त्रण में थे। राज्य कुछ वस्तुओं का व्यापार स्वयं करता था। कपड़े का उत्पादन ओर व्यापार सर्वप्रमुख था। उनी, सूती और रेशमी और सादा और कढ़े हुए विभिन्न रंगों के वस्त्र तैयार किये जाते थे। बंगाल और दक्षिण में सूती मलमल बहुत अच्छी तैयार होती थी। ओर उसका निर्यात विदेशों में होता था। इसके अतिरिकत, लकड़ी का काम, हाथीदांत का काम, शस्त्र निर्माण का काम, नाव और जहाज बनाने का काम, बर्तन और जेवर बनाने का काम आदि अन्य व्यवसाय थे। व्यापार और उद्योगों के प्रगति इस बात से भी स्पष्ट है कि व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के संघ बने हुए थे जो आधुनिक बैंकों की भांति कार्य करते थे ओर आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। परन्तु व्यापार न तो सरकारी कर बचा सके और न अनावश्यक लाभ प्राप्त कर सकें। उदाहरणस्वरूप एक व्यापारी अपनी वस्तु को उसी स्थन पर नहीं बेच सकता जहां उसका उत्पान हुआ हो। इसी प्रकार, एक व्यापारी के लिए अपनी वस्तुओं को पूर्व निर्धारित स्थान पर ले जाकर बेचना आवश्यक था अन्यथा सरकारी कर्मचारी उसकी वस्तुओं का उचित मूल्य निर्धारण करके बाजार में बेचने के लिए स्वतन्त्र थे। आर्थिक प्रगति का एक बड़ा प्रमाणय है भी था कि धनवान स्त्रियां हाथीदांत के कर्णफूल प्रयोग में लाती थी। उसी प्रकार नियार्कस ने लिखा था कि भारतीय सफेद रंग के जूते पहनने में बहुत सुदर होते है जो। इस काल में काली मिट्टी से बने हुए बर्तन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो चुके है जो बहुत श्रेष्ठ माने गये है। इसका एक प्रमाण यह थी था कि विनिमय में अधिकाधिक मुद्रा का प्रयेग होने लगा थां राजा अपने अधिकारियों को वेतन भी मुद्रा के रूप में देता था। मौर्य सम्राटों ने व्यापार की सुरक्षा तथा आवागमन की सुविधा के लिए पूर्ण व्यवस्था की थी। यातायात सड़कों तथा नदियों दोनो से होता था। उस समय के राजमार्गो में से तक्षशिला से पाटलिपुत्र का मार्ग, पाटलिपुत्र से दक्षिण भारत में ताम्रलिपि के बन्दरगाह तक जाने वाला मार्ग प्रमुख थे। दक्षिण भारत के लिए एक प्राचीन मार्ग श्रीवस्ती से गोदावरी के तटवर्ती नगर प्रतिष्ठान तक जाता था। इस मार्ग को, सम्भवतया उतरी मैसूर तक बढ़ाया गया था। एक अन्य मार्ग चम्पा से बनारस तक फिर यमुना नदी के किनारे किनारे कौशाम्बी तक जाता थं एक प्राचीन मार्ग श्रीवस्ती से राजगृह तक भी थ। ये सभी मार्ग व्यापार में सहायक थे। कलिंग की विजय से मौर्य साम्राज्य का दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में व्यापार करने का मार्ग खुल गया था। पश्चिमी देशों मं सीरिया, मिस्त्र तथा युनान तक से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट पर विभिन्न बन्दरगाह थे, जैसे पश्चिमी तट पर सोपारा तथा पूर्वी तट पर ताम्रलिपि प्रसिद्व बन्दरगाह थे। समुद्री मार्ग से पूर्व तथा पश्चिमी दोनो तरफ व्यापार होता था। स्थल मार्ग विदेशों के लिए तक्षशिला से कन्धार तथा आगे तक था। विदेशों से व्यापार करने के लिए राज्य से स्वीकृती लेनी पड़ती थी। मौर्य सम्राट स्वयं समुद्री जहाज बनवाते थे और व्यापारियों को किराये पर देते थे। कपड़ा, बने हुए वस्त्र, हाथीदांत, चन्दन की लकड़ी, माणिक आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुऐं थी। सोना, शराब, मेवा आदि विदेशों से भारत आते थे। श्रेष्ठियों के संघ, धनवान सेठ, और तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्बी, काल्पी, पाटलिपुत्र आदि जैसे सम्पन्न नगर उस समय की सम्पन्न के प्रतीक थे इस कारण नगर जीवन विकसित हो गया था और नागरिक जीवन की सभी सुविधाऐं का उपयोग करते थे। नगरों में व्यक्ति अच्छे मकानों में रहते थे पशु पक्षी पालते थे और अपने मकानो में बगीचे अथवा फलों व फूलों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के वृक्ष तथा पौधे लगाते थे।

उस समय सोने का सिक्का 'निष्क' और चांदी का सिक्का 'पण' और 'धरण' और तांबे का सिक्का कर्षाषण कहलाता था।

मौर्य सम्राटों की आर्थिक व्यवस्था का एक पहलू नागरिकों से अत्यधिक कर प्राप्त करना था। ब्राहमण चाणक्य ने तो राजा द्वारा मदिरों की सम्पति को लूटने तक का अधिकार स्वीकार किया था। विस्तृत एवं विशाल साम्राज्य में जहां सम्पन्नता की वृद्वि में सहयोग किया था वहां राज्य के सैनिक और प्रशासनिक व्यय में भी वृद्वि की थी। किसानों से उत्पादन का एक चौथाई, एक बटा छः या इससे कम भी लगान के रूप में लिया जाता था। सम्भवतया सिंचाई कर को हरण्य पुकारते थे, बालिक एक धार्मिक कर था, कड़ा फलों और पुष्यों पर लिया जाने वाला कर था और सेनाभक्त वह कर था जो किसानों को उनकी सीमाओं से गुजरने वाली सेनाओं हेतु रसद के रूप में देना पड़ता था। व्यापारिक कर वस्तु के मूल्य का 1/5 या 1/12 तक हुआ करता था। और यह विभिन्न वस्तुओं पर भिन्न भिन्न था। मौर्य शासकों को न केवल अपनी विशाल सेना और शासन के व्यय के लिए ही धन की आवश्यकता थी अपितु उनकी आर्थिक नीति का एक मुख्य आधारयह भी थ कि वे राज्य इसी कारण मौर्य सम्राट बहुत से करों को वस्तु तथा पदार्थो के रूप में लिया करते थे और उनको इकट्ठा करने के लिए उन्होने राज्य में गोदाम बनवाये थे। निःसन्देह इस प्रकार की नीति का प्रभाव राज्य की आर्थिक व्यवस्थ पर बुरा पड़ा होगा। क्योंकि इसके अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में धन और वस्तुऐं बाजार में आने के स्थान पर राज्य के पास संग्रह हो जाती थी। एस.शर्मा ने मौर्य अर्थ व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मौर्य अर्थ व्यवस्था की मुख्य विशेषता राज्य द्वारा कृषि उद्योग तथा व्यापार का नियन्त्रण और प्रजा पर विभिन्न प्रकार के कर लगाना था। परन्तु तब भी विशाल साम्राज्य, अच्छे शासन और राज्य के सक्रिय आर्थिक प्रयत्नों के कारणअधिकांश मौर्य युग में आर्थिक व्यवस्था अच्छी थी।

### 9.5.6.3. धार्मिक दशा

मौर्य युग में हिन्दू (भागतव, शैव), बौद्व तथा जैन, तीनों ही धर्म प्रचलित थे। स्वयं सम्राट चन्दगुप्त, बिन्दुसार तथा अशोक आरम्भ में हिन्दू धर्म के अनुयायी थी। सम्राट अशोक के बारे में कहा गया है कि वह आरम्भ में शिव का उपासक थ। निसन्देह, प्रवीन हिन्दू धर्म को नवोदित बौद्व तथा जैन धर्म से प्रतिस्पर्धा थी। कौटिल्य ने स्वयं बौद्व तथा जैन धर्म की तीक्ष्य आलोचना की थी। परन्तु यह प्रतिस्पर्धा तथा आलोलचना बौद्विक वाद विवाद तक ही सीमित रही होगी, ऐसा अनुमान कियाजा सकता है। चन्दगुप्त का बाद में जैन धर्म को स्वीकार करना और अशोक का बाद में बौद्व बन जाना धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण का प्रतीक है। अशोक ने सभी धर्मो द्वारा सहिष्णुता का व्यवहार किये जाने पर बल दिया था।

हिन्दुओं में कृष्ण, बलराम, शिव, वरूण, इन्द्र, अग्नि, गंगा नदी आदि को मुख्य देवता या देवी मानकर पुजा जाता था। यक्ष, गन्धर्व, चैत्य या नाग पूजा भी प्रचलित थी। हिन्दुओं में यज्ञों पर बल था। परन्तु मूर्ति पुजा उस समय तक आरम्भ नही हुई और पशु बलि का महत्व भी कम हो गया था।

### 9.5.6.4 साहित्य

संस्कृत, प्राकृत और पाली उस समय की मुख्य भाषाऐं थी। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार नें संस्कृत को प्रोत्साहन दिया था कौटिल्य ने अर्थशास्त्र, भद्रबाहु का कल्पसूत्र, पणिनी का व्याकरण, और कात्यायन की रचनाऐं उस समय की प्रमुख रचनाऐं थीं इनके कारण संस्कृत भाषा के आधुनिक स्वरूप का निर्माण हुआ। सुबन्धु ने वासवदता नाट्यधारा नामक नाटक की रचना की, बौद्व पुस्तक, कथावस्तु की रचना हुई और अन्य विभिन्न बोद्व तथा जैन ग्रन्थों का स्वरूप परिवर्तित किया गया। तामिल साहित्य में संग्रम गन्थों (संगम विद्वानों की एक परिषद थी) में से कुछ ग्रथों की रचना का समय इसी समय को माना गया है। इस प्रकार, इस काल में पर्याप्त साहित्यक प्रगति हुई, परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि इस काल में बहुत ही ग्रंथ उपलब्ध नही है। प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर उनका केलव अनुमान किया जा सकता है।

### 9.5.6.5 मौर्य कला

मौर्य कला का स्थान भारत की प्राचीनतम कलाओं में है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में पाये गये कलात्मक अवशेषों के पश्चात अच्छे कला अवशेष हमें मौर्य कला से ही प्राप्त होते है। और उनमें भी मुख्यतयाः सम्राट अशोक के समय के जब से भारतीय स्थापत्य कला में पत्थर का प्रयोग आरम्भ हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भारत में कला की प्रेरणा शक्ति सर्वदा धर्म रहा है। इस कारण भारतीय मूर्ति कला और स्थापत्य कला मुख्यतया देव देवताओं की मूर्तियों, मंदिरों, विहारों, चैत्यों, स्तूपों, आदि के निर्माण पर व्यक्त हुई। मौर्य कला के बारे में भी यही कहा जा सकता है। मौर्य कला के जो अवशेष प्राप्त हुए है। वे सभी कलाकृतियां सम्राट अशोक के द्वारा धम्म विजय के हेतु निर्मित कराई गई थी । परन्तु प्राचीन भारतीय कला और प्रचीन भारतीय साहित्य (जिसकी प्रेरणा शक्ति भी धर्म ही था) में एक अन्तर है। जबकि प्राचीन भारतीय साहित्य ब्रहमणों, साधुओ, ओर धार्मिक विद्वानो द्वारा निर्मित किये जाने वे कारण धर्म से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। भारतीय कला धर्म से प्रेरणा प्राप्त करते हुए भ सौन्दर्य रचना से विमुख नही हुई क्योंकि उसका निर्माण उन कलाकारों ने किया जिनके लिए धर्म के स्थान पर कला प्रधान थी। इस कारण भारतीय कला की प्रेरणा शक्ति का आधार जहां धर्म रहा वहां भौतिक सौन्दर्य की रचना थी। डॉ. बाशम के मतानुसार भारतीय कला की साधारण प्रेरणा शक्ति निरन्तर ब्रह्म की खोजन करना उतना अधिक नही है जितना कि उस प्रसन्नता को प्राप्त करना है जिसे कलाकार ने इस संसार में पाया। आगे आने वाले समय में भारतीय कला का विकास डॉ. बाशम के इस विचार को अधिक स्पष्ट कर देता है परन्तु मौर्य कलाकृतियों में भी हमें कलाकारों का सौन्दर्य और कला के प्रति प्रेम स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जिसके कारण श्रेष्ठ कलाकृतियों का निर्माण संभव हो सका।

मौर्य कला पर विदेशी कला का प्रभाव है अथवा नही, इसी विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। परन्तु अधिकांशतया यह माना जाता है कि मौर्य कला पर्शियन, और यूनानी (ग्रीक) कला से प्रभावित होती हुई थी। डॉ. निहारंजन रे ने पर्शिया एवं युनानियों से भारतीयों के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए अपना मत व्यक्त किया है कि मौर्य कला पर्शियन तथा युनानी कला से प्रभाव्ति हुई थी। एक लम्बे समय तक पर्शियनों और युनानियों के राजनीतिक सम्बन्ध भारत से रहे। मौर्य सम्राटों के सम्बन्ध उत्तर पश्चिम के सभी युनानी सम्राटों से अच्छे रहे थे और पर्शिया में युनानी और पर्शियन कला का जो मिश्रण हो चुका था जिससे अपने आदेशों के प्रचारार्थ पत्थर के अभिलेखों का प्रयोग किया, जैसा कि भारत में अशोक ने अनी धम्म विजय के लिए किया था। यह भी प्रमाणित है कि भारत के सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्पर्क भी कई सदियों तक पर्शियनों और युनानियों से रहे। इन सम्पर्को के कारण भारतीयों ने पर्शियनों तथा युनानियों से कुछ व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार, राजनीतिक विचार, मुद्रा कला आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। उसी प्रकार भारतीयों ने कला के क्षेत्र में मुख्तयया स्थापत्य कला और मूर्ति कला के क्षेत्र में भी पर्शियनों और युनानियों से कुछ प्राप्त किया, इसमें संदेह नही किया जा सकता। निसन्देह पर्शियनों ने स्थापत्य कला ओर युनानियों ने मूर्ति कला में भारतीयों से पहले उन्नति की थी। ऐसी स्थिति में विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों के कारण मौर्य कला पर्शियन तथा युनानी कला से प्रभवित हुई थी। यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है। डॉ. कुमारस्वामी के अनुसार तो भारतीय सौन्दर्य कला में भारत का अंश बहुत कम और पश्चिमी एशिय से प्राप्त किया हुआ अंश अधिक है। डॉ. कुमारस्वामी ने भी सम्मिलित किया है और उनके अनुसार इस सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न देशों में व्यक्तियों में सांस्कृतिक आदान प्रदान हुआ। भारत भी उसमें एक सहयोगी था और उसे भी अन्यों से कुछ प्राप्त करने तथा अन्यों को कुछ देने का अवसर मिला। वे लिखते है कि भारत सदियों ओर सम्भवतय ई.पू. सहस्त्र वर्षो तक प्रचीन पूर्व का एक अभिन्न अंग था जो मेडीटरेनियन (भूमध्य सागर) से लेकर गंगा की घाटी तक फैला हुआ था। ऐसी स्थिति में मौर्य कला, निसन्देह , अपने से पहले की ओर अच्छी प्रकार से विकसित पर्शियन और युनानी कला से प्रभावित हुई थी। परन्तु मौर्य कला पूर्णतया पर्शियन और युनानी कला न थी और न यह माना जा सकता है कि मौर्य कला का निर्माण पूर्णतया पर्शियन अथवा युनानी कलाकारों की सहायता से किया गया था। मौर्य युग से पहले भी भारतीय कलाकार मिट्टी और लकड़ी की कलाकृतियां का निर्माण करते थे जिनके अवशेष विभिन्न स्थानों पर प्राप्त हुए है।परन्तु उनका आकार छोटा होता था और वे शीघ्र नष्ट हो जाने वाली थी। मौर्य सम्राटों का संरक्षण प्राप्त होने से उसका विकास हुआ। इस कारण मौंर्य कला में भारतीयता है। वह एक ऐसी कला है कि जिसका आधार भारतीय है। परन्तु जिसने स्वतन्त्रतापूर्वक पर्शियन और युनानी कला से प्रेरणा ओर ज्ञान प्राप्त किया है।

मौर्य युग में मुख्यतयाः स्थापत्य कला का विकास हुआ यद्यपि कुछ मात्रा में शिल्प कला भी विकसित हुई। उस समय भी कला के नमूनों में प्रमुख अशोक द्वारा बनवाये गये स्तूप और स्तम्भ है। इसके अतिरिक्त साधुओं के लिए निर्मित करायी गई गुफाऐं भी प्राप्त होती थी। पाटलिपुत्र के नगर अथवा महल की तो केवल कल्पना ही की जा सकती है।

मौर्य युग में नगरों ओर अद्वितीय महलो का निर्माण हुआ था। ग्रीक विद्वानों ने चन्द्रगुप्त के महल की तुलना पर्शियन राजप्रसादों से की थीं। कई सदी पश्चात आने वाला चीनी यात्री फाहियान भी पाटलिपुत्र के महलों को देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। परतु अब इस नगर तथा महल में से केवल एक सौ स्तम्भ वाले एक बड़े कमरे के अवशेष



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ही प्राप्त हुए है।

अशोक और उसके प्रपौत्र दशरथ के द्वारा बौद्व अथवा आजिविक साधुओं के निवास के लिए बनवायी गई बाराबर, नागार्जुन, सुदामा और कर्ण पहाड़ियों की गुफाऐं भी कला के अच्छे नमूने है। इन गुफाओं की चमकती हुई दीवारें बहुत अच्छी है। यह कहा गया है कि अशाोक ने प्रायः 84000 स्तूपों का निर्माण कराया था। इतनी बड़ी संख्या तो विश्वसनीय नहीं है परन्तु अशोक ने अनेक स्तूपों का निमार्ण कराया था, यह माना जा सकता है। स्तूपों की व्यवस्था मौर्य कला की रचना से पवहले भी थी। महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपनी अस्थियें पर एक स्तूप के निर्माण का आदेश दिया था। बाद में स्तूपों के निर्माण पर बहुत बल दिया गया और वे बौद्ध धर्म की एक विशेषता बन गये। स्तूप अर्द्ध गोलाकार आकृति के होते थे। यदि एक गोल गेंद को बीच में से काट कर उसे आधे भग को भूमि पर रख दिय जायें तो उसकी आकृति एक समता एक स्तूप की आकृति से की जा सकती है। कहीं कहीं ही ये पत्थर के बनाये गए थे अन्यथा इनमें से अधिकांश का भतरी भाग कच्ची ईंटों का और बाहरी भाग पक्की ईंटों से बनाया जाता था। इसके उपरी भाक के मध्य में लकड़ी अथवा पत्थर का एक छत्र बनाया जाता था। स्तूप की परिक्रमा करने के लिए उसके चारों ओर पद मार्ग बनाया जाता था। पद मार्ग को घेरते हुए लकड़ी अथवा पत्थर की चारदिवारी बनाई जाती थी। परन्तु संभवतया यह कार्य पर्याप्त समय के बाद में किया गया। स्तूप महात्मा बुद्ध की अस्थियों अथवा बाद में महान् बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों पर बनाये गए। संभवतया अशोक ने सांची का स्तूप बनवाया था यद्यपि उसके प्रवेश द्वार बाद में बनाये गए। उसका व्यास 36.50 मीटर का है और उसकी ऊंचाई 23.25 मीटर है। नेपाल में प्राप्त एक स्तूप अभी तक अपनी मूल स्थिति में है। और जो मिस्र के कुछेक पिरामिडों से भी बड़ा है। अशोक द्वारा बनवाये गए अधिकांश स्तूप नष्ट हो गये।

मौर्य – कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने सम्राट अशोक द्वारा बनवाये गए पत्थर के विभिन्न स्तंभ हैं। इनकी संख्या निश्चित रूप से नहीं जानी जा सकी है। परन्तु संभवतया अशोक ने 30 से 40 तक स्तंभ बनवाये थे। उनमें से कुछ मथुरा क्षेत्र में प्राप्त लाल चती वाले सफेद रंग के पत्थर से बनवाये गये थे और अन्य चुनार क्षेत्र में प्राप्त काले धब्बे वाले भूरे पत्थर से बनाये गए थे। विभिन्न स्तंभ विभिन्न ऊंचाई तथा वजन के थे परन्तु उन सभी की विशेषता यह थी कि वे सभी पत्थर की एक शिला से काटकर बनाये गए थे और उनमें कहीं पर भी जोड़ नहीं था। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उनकी पालिश इतनी चमकदार और चिकनी है कि मानो व किसी धातु को काटकर बनाये गए हों। उन स्तंभों की ऊंचाई 12 से 15 मीटर तक थी और उनका वजन 50 टन था। उसका जो भाग भूमि में था उसमें मोर बने हुए थे तथा उसके पश्चात् गोलाकार स्तंभ होता था। इस गोलाकार स्तंभ के ऊपर उल्टा कमल का फूल और उसके उपर पत्थर की गोल पट्टी जिसमें चक्र अथवा पशु बने हुए थे और सबसे उपर एक या एक से अधिक पशुओं की मूर्तियां थी। किसी स्तंभ के शीर्ष पर हाथी, किसी पर सिंह, किसी पर सॉड और किसी पर घोड़ा बना हुआ था। लौरियां नन्दगढ़ के स्तंभ पर सबसे ऊपर सिंह है, रामपुरव स्तंभ पर सांड और सनकिन स्तंभ पर हाथी है। स्तंभ का मुख्य भाग और शीर्ष भाग तांबे की प्रायः 2 फीट चौड़ी पट्ट से जुड़ा होता था।

इन स्तंभों में सारनाथ का स्तंभ सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण माना गया है। इसकी मुख्य विशेषता इसके शीर्ष भाग में है। स्तुंभ के मुख्य गोलाकार भाग के ह्पर उल्टा कमल का फूल है। उसके ऊपर पत्थर की एक गोल पट्टी है जिसमें चारों दिशाओं में 24 तानों वाले चक्र बने हुए हैं और उनके बीचं के स्थानों में चार दिशाओं में क्रमशः हाथी, सांड, घोड़ा, और सिंह बने हुए हैं। 24 तानों वाले चक्र बौद्ध धर्म के 24 मुख्य सिद्धंतों के प्रतीक हैं। इनके बीच में बना हुआ प्रत्येक पशु महात्मा बुद्ध के जीवन के प्रमुख चार घटनाओं का पतीक है हाथी उन्का अपनी माता के गर्भ में आने का, सांड उनकी यौवनावस्था का, घोड़ा उनके गृह त्याग का और सिंह उनको पूर्ण शक्ति प्राप्त हो जाने का प्रतीक है। पत्थर की इस गोल पट्टी के उपर चारों दिशाओं में मुख किये हुए और एक दूसरे से पीठ लगाय हुए चार खड़े हुए सिंह है जो चारों दिशाओं में बुद्ध की शक्ति का प्रतीक हैं। इन सिंहों की पीठ पर एक 32 तानों वाला धर्मचक्र था जिसका केवल एक टूटा हुआ भाग ही प्राप्त हो सका है। उसकी 32 तानें महात्मा बुद्ध की 32 शक्तियों का प्रतीक है और सिंहों को पीठ पर धर्मचक्र को होना यह संकेत देता है कि सांसार में आध्यात्मिक शक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

अशोक के स्तंभों और उनकी कला की प्रशंसा संसार के सभी विद्वानों ने की है। उनका वजन, उनको बिना जोड़ के बनाना, उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर भूमि में गाढना, उनकी चमकदार पॉलिश, उनमें बने हुए पशुओं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की आकृतियां आदि, सभी कुछ अद्वितीय और सुन्दरतम् है। डॉ. स्मिथ जो मार्य कला पर विदेशी कला का प्रभाव बताते हैं यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन पशु शिल्पकला द्वारा निर्मित इस सुन्दर कलाकृति से श्रेष्ठ अथवा इसके समान भी उदाहरण किसी अन्य देश में प्राप्त करना कठिन है।

अशोक के स्तंभों में उत्कीर्ण यक्ष अथवा यक्षणियों की आकृतियां, भिलसा में प्राप्त एक स्त्री आकृति, दीदारगंज में प्राप्त कुछ पत्थर की मूतियां और कुछ जैन मूर्तियां भी इस समय की शिल्प कला के नमूने हैं परन्तु शिल्पकला में श्रेष्ठ स्थान अंशो के स्तंभों पर बने हुए विभिन्न पशुओं की मूर्तियों को दिया गया है। इस प्रकार मौर्य युग में स्थापत्य और शिप्लकला में प्रगति हुई तथा उसका भारतीय कला में ही नहीं वरन् विश्व की कलों में एक विशेष स्थान है। परन्तु डॉ. निहाररंजन रे ने इसका एक दोष बताया है। उनके अनुसार, नौर्य कला का विकास आत्म प्रेरणा से नहीं अपितु मौर्य सम्राटों के संरक्षण के कारण संभव हुआ। एक शक्तिशाली सम्राट और वैभवपूर्ण साम्राज्य का संरक्षण प्राप्त करने से कला का विकास तो हुआ और उसने भारतीय कला को कला का स्थान भी दिया, परन्तु उसमें जीवनदायनी शक्ति का अभाव था। सम्राट अशोक के पश्चात् वह कला पनप न सकी जिसके कारण वह अपने युग तक ही सीमित रही। भारतीय कला के विकास में उसका कोई सहयोग न रहा और मौर्य कला मौय युग तक सीमित रहकर अपने आप में अलग खड़ी रह गई। उसमें न तो आत्मक प्रेरणा थी और न ही वह भारतीय कला को प्रेरणा प्रदान कर सकी। उन्होंने लिखा है '' अशोक की धम्म विजय की नीति की भांति इस कला की दिशा का निर्माण भी मुख्यतया एक व्यक्ति की इच्छा, रूचि और पसन्द के कारण हुआ। दोनों में ही सामूहिक सामाजिक इच्छा, रूचि व पसन्द की गहरी जड़ों का अभाव था। इस कारण, दोनों को शक्तिशादी मौर्य दरबार की चहारदिवारी में सीमित रहकर साथ साथ रहना पड़ा और दोनों का जीवन एकाकी और अल्प रहा।''

कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि मार्य कला की प्रेरणा बौद्ध धर्म था। यह कथन भी सत्य है। अशोक ने बौद्ध धर्म में आस्था रखकर ही इस कला का निर्माण कराया था। इस कारण बौद्ध धर्म उसकी और उसके समय की कला की प्रेरणा बना।

मौर्य कला का एक रूप ऐसा भी है जिसे लोक कला पुकारा गया है जो राजकीय संरक्षण से पृथक पनपी। उसमें पाटलिपुत्र, विदिशा, कलिंग, और पश्चिमी भारत में अनेक स्थलों से प्राप्त यक्ष और यक्षणियों की मूर्तियां हैं। इन मूर्तियों की शैली उस शैली से भिन्न है जिसका निर्माण राजकीय संरक्षण में हुआ था। इनको भी मौर्य कला में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है।

## 9.6 सारांश

मौर्य कला के उपर्युक्त पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह मानना पड़ता है कि मौर्य कला उत्तम थी और भारतीय कला में उसका स्थान श्रेष्ठ है।

## 9.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. मौर्य वंश के इतिहास को जानने के स्त्रोतों पर एक टिप्पणी लिखिए।

प्रश्न 2. चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन और उसकी उपलब्धियों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 3. चन्द्रगुप्त मौर्य के सैनिक और असैनिक शासन का वर्णन कीजिए। सम्राट अशोक ने उसमें क्या सुधार किये।

प्रश्न 4. ''मौर्य शासन लोकहितकारी शासन था।'' आप इस विचार से कहां तक सहमत है।

प्रश्न 5. मैगस्थनीज के भारत विवरण पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 6. अशोक ने साम्राज्य विस्तार के लिए क्या प्रयत्न किये। वे कहां तक सफल हुए ?

प्रश्न 7. अशोक के धम्म से आप क्या समझते है ? उसकी क्या विशेषताऐं थी ?

प्रश्न 8. सम्राट अशोक को महान क्यों पुकारा गया है ?

प्रश्न 9. मौर्य वंश के पतन के कारणों पर विचार कीजिए। अशोक उसके लिए कहां तक उत्तरदायी था ?

प्रश्न 10. मौर्य युग की कला, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों पर विचार कीजिए ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## संवर्ग-3 : पूर्व गुप्तकाल

# इकाई-10 : शुंग–सातवाहन शक युग शुंग वंश की स्थापना

**संरचना**

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 शुंग कौन है?
10.3 पुष्यमित्र शुंग
10.3.1 राज्याभिषेक की तिथि
10.3.2 विदर्भ युद्ध
10.3.3 यवन युद्ध
10.3.4 अश्वमेघ यज्ञ
10.3.5 ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार
10.3.6 पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म
10.3.7 राज्य विस्तार
10.3.8 पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी
10.4 कण्व वंश
10.5 सारांश
10.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 10.1 प्रस्तावना

पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य सम्राट ब्रहद्रथ को मारकर मौर्य वंश को समाप्त कर एक नये राजवंश की स्थापना की जो इतिहास में शुंगवंश के नाम से विख्यात हुआ। हर्षचरित से भी इस कथन की पुष्टि होती है। हर्षचरित में बृहद्रथ को ''प्रज्ञादुर्बल'' (दुर्बुद्धि अथवा निर्बल बुद्धि) कहा गया है। वस्तुतः वह ऐसा ही था। उसके शासन काल में दरबार में दो परस्पर विरोधी दलों, मंत्री ओर सेनापति के दलों का विकास हो चुका था। प्रान्तीय राज्य धीरे धीरे स्वतन्त्र होते जा रहे थे। ओर बाहर से भी शत्रुओं के आक्रमण होने शुरू हो गये थे। परन्तु सम्राट को इसकी चिन्ता न थी और सेना और देश के शासन से उसका सम्पर्क टूट चुका था। यही कारण है कि जब वह सम्पूर्ण सेना का निरीक्षण कर रहा था, तभी सेनापति ने सेना के सामने ही सम्राट को मार डाला ओर एक भी सैनिक ने प्रतिरोध नही किया। स्पष्ट यह है कि सम्राट का वध कोई षड़यन्त्र न था। सेनापति ने राष्ट्र विरोधी शक्तियो का उन्मूलन करने के लिए ऐसे प्रज्ञादुर्बल सम्राट को मारना अपना कर्तव्य समझा।

डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय आदि विद्वानों ने मौर्यवंश के अंत को ब्राह्मण प्रतिक्रिया बतलाया है। उनका मानना है कि क्षत्रिय देश के शासक और संरक्षक थे, परन्तु अहिंसावादी बौद्ध धर्म के प्रभाव के आकर बहुसंख्यक क्षत्रिय अपने कर्म से विरक्त होकर निवृतिमार्गी होते चले गये। इससे देश की सुरक्षा, संस्कृति और धर्म भी खतरे में पड़ गया। चूंकि ब्राह्मण देश के व्यवस्थाकार थे, अतः इस कुव्यवस्था से उन्हे भारी धक्का लगा ओर स्थिति को सुधारने के लिए उन्होने शस्त्र धारण किए। वृहदृथ की हत्या आकस्मिक घटना न थी। इसके पीछे बौद्ध धर्म के विरूद्ध ब्राह्मण धर्म का विद्रोह काम कर रहा था। परन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार यह कथन पूर्णतः सही नही माना जा सकता। पुष्यमित्र सेनापति था और सेना उसके पक्ष में थी । परन्तु क्या सेना में भी सैनिक ब्राह्मण थे ? इसके अलावा यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रजा भी पुष्यमित्र के साथ थी। अतः इसे मात्र ब्राह्मण प्रतिक्रिया कहना उचित नहीं होगा। निश्चत ही अयोग्य एवं दुर्बल मौर्य सम्राटों के शासन से प्रजा तंग आ चुकी थी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए पुष्यमित्र शुंग ने सम्राट का वध कर दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठ गया।

## 10.1 उद्देश्य

यहां हम शुंग वंश का अध्ययन कर सकेंगे।

## 10.2 शुंग कौन थे?

शुंग कौन थे, यह प्रश्न विवादास्पद है। प्रारम्भ में डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने शुंग राजाओं के नाम के अंत में मित्र शब्द को देखकर उन्हे पारसीक (ईरानी) बतलाया था। क्योंकि पारसिक लोग 'मिथ्र' (सूर्य) की पूजा करते थे। परन्तु बाद में शास्त्री जी ने स्वयं ही अपने मत को त्याग कर उन्हे ब्राह्मण घोषित किया। निःसन्देह शुंग ब्राह्मण थे ओर शुंग उनका कुल रहा होगा। पाणिनी के अष्टाध्यायी से शुंगों का सम्बन्ध भारद्वाज गौत्र से स्थापित होता है। इतिहास में बहुत से ब्राह्मण सेनापतियों का उल्लेख मिलता है। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण ही थे। सिकन्दर की वापसी यात्रा में उसे सिन्ध के सशस्त्र ब्राह्मणों से संघर्ष करना पड़ा था।

अब पश्न यह उठता है कि पुष्यमित्र कौन था ? हरिवंश पुराण में एक ब्राह्मण सेनापति का उल्लेख है जिसने बहुत समय से बंद अश्वमेद्य यज्ञ किया था। और उसके बाद उसके किसी वंशज ने राजसूय यज्ञभी किया था। डॉ. के.पी. जायसवाल ने इस कश्यप द्विज सेनानी की पहचान पुष्यमित्र शुंग से की है। पुराण में इस सेनानी के लिए 'औद्भिज्ज'' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इस शब्द का अर्थ है ''आकस्मिक रूप से उदय होने वाला''' पुष्यमित्र का उदय भी आकस्मिक रूप से हुआ था। डॉ. चौधरी भी जयसवाल से कथन से सहमत है। मालिविकाग्निमित्र में अग्निमित्र को बैम्बिक कुल का बताया गया है। बैम्बिकों का सम्बन्ध बिम्बिका नामक पौधे या बिम्बिका नाम की नदी से जोड़ा गया है। ये बैम्बिक काश्यप ब्राह्मण थे। अतः स्पष्ट है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण थे।

## 10.3 पुष्यमित्र शुंग

### 10.3.1 राज्याभिषेक की तिथि

पुराणों से ज्ञात होता है कि मौर्य वंश ने 137 वर्ष तक शासन किया। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण की तिथि 322 ई.पू. मानी जाती है। इस हिसाब से 185 ई.पू. के आस पास मौर्य वंश का अंत तथा पुष्यमित्र शुंग का राज्याभिषेक होना चाहिए। वायु पुराण तथा ब्राह्मण पुराणों में पुष्यमित्र के 60 वर्ष तक शासन करने का उल्लेख है, किन्तु यह सत्य प्रतीत नही होता। सभवतः इन पुराणों ने इसमें पुष्यमित्र वंश का वह समय जोड़ दिया है, जब वह मौर्यो के अवधी अवन्ति का गर्वनर था, यद्यपि यह अधीनता नाम मात्र की थी। अन्य पुराणों में पुष्यमित्र के 30 वर्ष तक शासन करने का उल्लेख मिलता है जो अधिक तर्कसंगत और उचित प्रतीत होता है।

पुष्यमित्र शुंग ने रक्त से अपना राज्य आरम्भ किया था और रक्त से ही उसे कायम रखा। पुष्यमित्र का अपनी सेना से अंत तक सम्बन्ध बना रहां। संभवतया यही कारण है कि उसने अपने लिए सम्राट की उपाधी धारण करके सेनापति की उपाधि का ही प्रयोग किया। तत्कालीन सभी साक्ष्यों में उसके लए सेनानी का ही प्रयोग किया गया है, जबकि उसके पुत्र और उतराधिकारी अग्निमित्र के लिए राजा की उपाधि का ही प्रयोग किया गया है। पुष्यमित्र ने जब बृहद्रथ की हत्या की थी तब मगध साम्राज्य की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। कलिंग महाराष्ट्र आन्ध्र आदि राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे तथा मगध साम्राज्य के लिए चुनौती बन रहे थे। सीमा प्रान्तों का पूर्ण आधिपत्य न रहने के कारण यूनानी आक्रमणों का खतरा बहुत बढ़ गया था। ऐसी परिस्थितियों में सर्वप्रथम उसने साम्राज्य की स्थिति को सुधार कर उसे दृढ़ता प्रदान की। अवन्ति का राज्य मगध से दूर होने के कारण पाटलिपुत्र से उस पर पूर्ण अधिकार बनाये रखना कठिन हो रहा था। अतः पुष्यमित्र ने विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया और अपने पुत्र को वहां अपने राज्य प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया। इस प्रकार उसने अपने साम्राज्य को संगठित कर केन्द्र को शक्तिशाली बनाया।

### 10.3.2 विदर्भ युद्ध

पुष्यमित्र शुंग के राज्य की प्रमुख घटनाओं में से केवल विदर्भ के विरूद्ध लड़ा गया युद्ध है। इय युद्ध का विस्तृत विवरण नही मिलता है। केवल मालविकाग्निमित्र नामक नाटक से थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। इस नाटक के अनुसार विदर्भ (आधुनिक बरार) में हाल में ही एक नया राज्य स्थापित हुआ। जिसका राजा यज्ञसेन था। यज्ञसेन पुष्यमित्र शुंग का स्वाभाविक शत्रु था। क्योंकि अतिम मौर्य शासक के समय में जिन दो परस्पर विरोधी गुटों का उदय हुआ था। उसमें से एक का नेता पुष्यमित्र शुंग और दूसर का नेता मंत्री था। यज्ञसेन इसी मंत्री का निकट का सम्बन्धी था। सम्राट ब्रहद्रथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की हत्या के बाद पुष्यमित्र ने मंत्री को बंदी बना लिया। शायद इसी समय विदर्भ का प्रान्तीय शासक यज्ञसेन स्वतन्त्र हो गया। विदर्भ के पड़ौसी प्रान्त विदिशा में पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र नियुक्त किया गया था। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन, अग्निमित्र का साथी था। एक दिन माधवसेन अपनी बहिन मालविका के साथ विदशा को जा रहा था कि विदर्भ की सीमा पर यज्ञसेन के सैनिकों ने दोनो भाई बहिन को बंदी बना लिया। इस पर अग्निमित्र ने यज्ञसेन को कहलाया कि वह उन दोनो को तत्काल रिहा कर दे। यज्ञसेन ने उन दोनो कि रिहाई के बदले में अपने सम्बन्धी मंत्री की रिहाई की मांग की। इस पर अग्निमित्र ने अपने सेनापति वीरसेन के साथ विदर्भ पर आक्रमण कर दिया। यज्ञसेन पराजित हुआ। उसे अपना आधा राज्य माधवसेन को देना पड़ा तथा पुष्यमित्र शुंग की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

### 10.3.3 यवन युद्ध

पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की दूसरी प्रमुख घटना है – यवन आक्रमण उसके समय में यवनों ने आक्रमण किया था, इसकी पुष्टि पतंजली के महाभाष्य, गार्गी संहिता का युग पुराण और मालविकाग्निमित्र से होती है। पतंजली के महाभाष्य में अनद्यतन भूत क्रिया के उदाहरणस्वरूप में लिखा है – यवनों ने अयोध्या पर आक्रमण किया। यवनों ने माध्यमिका (नगरी चित्तोड़) पर आक्रमण किया। गार्गी संहित में यवनों के साकेत, मथुरा, पांचाल और पाटलिपुत्र पर आक्रमण का संकेत है। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र और यवनों के मध्य संघर्ष का उल्लेख है । संघर्ष का कारण अश्वमेद्य के घोडे को यवनों द्वारा पकड़ना थां इन प्रमाणों से भारत पर यवनों का आक्रमण होना और उनकी पराजय सिद्ध होती है।

परन्तु किसी भी प्रमाण में यवन आक्रान्ता के नाम का उल्लेख नही किया गया है। अतः यह प्रश्न उठ खड़ा होना स्वाभाविक है कि इस यवन आक्रमण का नेता कौन था ? इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। गौल्डस्टूफर, रैप्सन, स्मिथ आदि के मतानुसार इस यवन आक्रमण का नेता मीनण्डर था। भण्डारकर, राय चौधरी, जायसवाल के अनुसार डेमेट्रिअस ने आक्रमण किया था। डॉ राय चौधरी ने सबल तर्क प्रस्तुत करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि साहित्य और सिक्कों, दोनो ही प्रमाणों के आधार पर, मीनेण्डर पुष्यमित्र का समकालीन नही हो सकता था, यही सिद्ध होता है। इसलिए डेमेट्रिअस ही वह व्यक्ति है। जिसकी पहचान पतंजली और कालिदास (मालविकाग्निमित्र) द्वारा उल्लिखित यवन आक्रान्ता से की जा सकती है। परन्तु प्रोफेसर नागेन्द्रनाथ घोष ने कुछ विद्वानों को पुरानी मान्यता को पुनः स्थापित करते हुए लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग के समय में दो बार यवन आक्रमण हुए थे। पहला उसके शासन काल में प्रारम्भ में हुआ। जिसका नेता मिनेण्डर था ओर जिसे पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र के हाथों पराजित होना पड़ा। टार्न महोदय का मत है कि डेमेट्रिअस और मीनेण्डर दोनो के साथ ही आक्रमण किया और इस बात की संभावना है कि मीनेण्डर उस समय डेमेट्रिअस का एक सेनानायक रहा हो। जो भी हो, इतना निश्चित है कि पुष्यमित्र के शासनकाल में यवनों ने भारत पर आक्रमण किया था ओर उन्हे परास्त होना पड़ा। पुष्यमित्र ने शायद इसी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेद्य यज्ञ किया होगा।

### 10.3.4 अश्वमेध यज्ञ

पतंजली के महाभाष्य ओर मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ किया था। अर्थात केवल एक अवश्मेध यज्ञ का उल्लेख है। परन्तु सेनापति पुष्यमित्र के छठे धनदेव (?) की अयोध्या लिपि में पुष्यमित्र को दो अश्वमेघ यज्ञों का करने वाला कहा गया है। अन्य किसी साक्ष्य में दो अवश्मेध यज्ञों की पुष्टि नहीं होती। अत यही अनुमान है कि उसने एक ही अश्वमेध यज्ञ किया होगा।

### 10.3.5 ब्राह्मण धर्म का पुनुरूद्वार

प्राचीन भारत में ब्राह्मणों ओर क्षत्रियों अथवा ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म में प्रभुता प्राप्ति के लिए जो संघर्षशुरू हुआ था उसकी परिणति शुंग काल में हुई। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर जब क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मण धर्म ओर चतुर्वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मण सभ्यता एवं संस्कृति की अन्य मान्यताओं को त्याग कर दिया तो ब्राह्मण समाज का क्रोधित होना स्वाभाविक था। पुष्यमित्र के राज पुरोहित ने भी कहा था कि ब्राह्मणों और श्रमणों में शाश्वत विरोध है। 185 ई.पू. में ब्राह्मण समाज ने अंतिम मौर्य सम्राट का अंत करके राजसता पर अधिकार जमा लिया। वस्तुतः एक महान क्रान्ति थी जिसमें राष्ट्र हित के साथ साथ ब्राह्मणों के व्यक्तिगत स्वार्थ भी सम्मिलित थे। ब्राह्मण संगठन के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण शुंगों ने राज्य प्राप्त किया था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि राज्य सत्ता प्राप्त करके शुंग अपने अधिकांश समय ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में लगाते। ब्राहण धर्म और व्यवस्था के पुनरूद्धार का काम कण्वों और सातवाहनों के समय में भी जारी रहा। सम्राट बृहद्रथ की हत्या और अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा के प्रयासों मे ही थे। अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यवस्था वाले राजतन्त्र की एक प्रतिष्ठित संस्था थी। मगध के शासकों के समय इस प्रथा का लोप गया। पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन इस प्राचीन राजोचित संस्था का पुनरूद्धार था। पंतजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। मौर्यों के शासनकाल में संस्कृत भाषा का पुनरूद्धार था। पंतजली पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। मौर्यो के शासनकाल में संस्कृत भाषा का महत्व लगभग समाप्त हो गया था। अतः जनता वेदों और वैदिक साहित्य को ही विस्मृत कर बैठी। संस्कृत भाषा की जटिलता को दूर करने तथा उसे अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से ही पंतजली ने व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी को समझाते हुए महाभाष्य की रचना की। बहुत से विद्वानों का मानना है कि मनुस्मृति भी इसी काल में लिखी गई थी। इसमें भावी ब्राह्मण व्यवस्था की रूपरेखा थी। इससे स्पष्ट है कि शुंगों के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था का वर्चस्व पुनः कायम हो गया था।

### 10.3.6 पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म

डॉ. एन.एन. घोष आदि विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का शत्रु था और उसने बौद्ध अनुयायियों के साथ घोर अत्याचार किया था। इन विद्वानों ने अपने मत के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये है (1) पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म के विरूद्ध हुई ब्राह्मण प्रतिकिया के परिणामस्वरूप सिंहासन प्राप्त किया था। अतः ब्राह्मण धर्म ओर संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठित करना तथा ब्राह्मण विरोधी बौद्धों का सफाया करना उसका मुख्य ध्येय रहा होगा। (2) दिव्यावादान में उल्लेख है कि पुष्यमित्र शुंग घोर बौद्ध द्रोही था। उसने 84000 स्तूपों को नष्ट करके ख्याति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और बहुत से स्तूप नष्ट कर दिये। उसने यहघोषणा भी करवाई कि जो व्यक्ति उसे बौद्ध भिक्षु का सिर लाकर देगा उसे 100 दीनार देगा। (3) तिब्बती लेखक तारानाथ का मत है कि पुष्यमित्र ने मध्य प्रदेश से जालंध ार तक बहुत से बौद्धों का वध किया एवं उनके स्तूपों तथा विहारों को भूमिसात किया। (4) आर्य मंजूश्रीमूलकम्प में इसी प्रकार का वर्णन है।

अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त तर्कों का खण्डन किया है। इनका मानना है कि ब्राह्मण धर्म का प्रबल प्रचारक होने का अर्थ किसी धर्म का विनाशक होना नही होता। अशोक बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचारक था, परन्तु उसने किसी अन्य धर्म का विनाश नहीं किया। भारतीय इतिहास में ऐसी परम्परा देखने को नही मिलती। दूसरी बात यह है कि दिव्यावदान, तारानाथ और मंजूश्रीमूलकल्प – ये सभी बौद्ध साक्ष्य वाद के है। अतः इन पर विश्वास करना संभव नहीं है। इनमें बहुत सी कपोल कल्पित बातें भरी पड़ी है। उदाहरणार्थ पुष्यमित्र शुंग के समय में दीनार का प्रश्न नहीं था। फिर 100 दीनार देने की बात कैसे मान ली जाय। तीसरी बात यह है कि बौद्ध ग्रन्थों के विवरण की पुष्टि अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होती। अतः उसे बौद्ध विनाशक कैसे स्वीकार किया जा सकता है। अधिकांश विद्वान पुष्यमित्र शुंग को ही एक सहिष्णु शासक स्वीकार करते है। उनका कहना है कि पुष्यमित्र के शासनकाल में ही भरहुत, बोध गया ओर सांची के स्तूपों को नया रूप दिया गया और उनके आकार को बढ़ाया गया। दूसरी बात यह है कि दिव्यावदान में यह उल्लेख किया है कि पुष्यमित्र शुंग ने कुछ बौद्धों को भी अपना मंत्री बनाया था। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि अग्निमित्र की राजसभा में एक बौद्ध धर्मावलम्बी भगवती कौशिकी नामक महिला भी थी जिसको काफी सम्मान दिया जाता था। अतः स्पष्ट है कि पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण धर्म प्रचारक होते हुए भी एक सहिष्णु शासक था।

### 10.3.7 राज्य विस्तार

मालविकाग्निमित्र, दिव्यावदान और तारानाथ के विवरणों के आधार पर कुछ विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुग का राज्य पंजाब की सिन्धु नदी तक विस्तृत था। इनके अनुसार यवनों के साथ जो युद्ध हुआ था वह सिन्धु के तट पर ही हुआ था परन्तु विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुंग के शासन के प्रारम्भिक काल में सिन्धु नदी तक उसका राज्य रहा होगा। परन्तु मीनेण्डर ओर उसके उतराधिकारियों की मुद्राओं से स्पष्ट है कि मथुरा के आगे का पश्चिमी क्षेत्र यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पुष्यमित्र के राज्य की सीमा मथुरा तक ही रही होगी। मेरूतुंग के विवरण से पता चलता है कि दक्षिण पश्चिम में अवन्ति पर पुष्यमित्र शुंग का अधिकार था। दक्षिणी सीमा पर स्थित विदिशा भी पुष्यमित्र के राज्य में सम्मिलित था। सम्भव है कि दक्षिण में नर्मदा नदी उसके राज्य की सीमा रही हो। दक्षिण पूर्व में कलिंग का स्वतन्त्र राज्य था। अतः इस दिशा में उसके राज्य की सीमा कलिंग की सीमा से सटी हुई रही होगी। पूर्व में भी पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। अयोध्या लेख से कौसल पर उसके अधिकार की पुष्टि होती है। इस प्रकार उसका साम्राज्य काफी विस्तृत था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 10.3.8 पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार शृंगवंश के निम्न दस राजाओं ने 112 वर्ष तक शासन किया था – (1) पुष्यमित्र (2) अग्निमित्र (3) वसुज्येष्ठ (4) वसुमित्र (5) आन्ध्रक (6) पुलिन्डक (7) घोष (8) वज्रमित्र (9) भाग और (10) देवभूत। पुष्यमित्र के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठा। मालविग्नामित्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र और अग्निमित्र के आपसी सम्बन्ध अधिक अच्छे न थे। मत्स्य पुराण में पुष्यमित्र शुंग के बाद अग्निमित्र का नाम न होकर वसुज्येष्ठ का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र ने भारत की माण्डलिक परम्परा के अनुसार अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में बांट दिया। डॉ. जायसवाल भी ऐसा मानते है परन्तु इस मत को स्वीकार नही किया जा सकता।

संभवतः वसुज्येष्ठ और वसुमित्र ये दोनो अग्निमित्र के पुत्र रहें होंगें। अग्निमित्र के बाद वसुज्येष्ठ ने शासन किया और उसके बाद वसुमित्र ने। वसुमित्र की किसी ने हत्या कर डाली। वसुमित्र के उतराधिकारी के कई नाम मिलते हैं– आन्ध्रक, ओद्रक, भद्रक, ओर अन्तक। आन्ध्रक के पश्चात क्रमशः पुलिण्डक, घोष, और वज्रमित्र राजा हुए। नवां शुंग शासक भाग था। इसके शासनकाल में युनानी राजा ऐण्टिआलमिड्स ने अपना राजदूत हेलीओडोरस भेजा था। यह राजदूत भगवत धर्म का अनुयायी था।

अंतिम शुंग राजा देवभूमि अथवा देवभूत था। उसके बारे में कहा जाात है कि वह अत्यधिक कामुक राजा था। उसके अमात्य वासुदेव कण्व ने उसकी हत्या कर दी। हर्षचरित से इस घटना की पुष्टि होती है। देवभूत के साथ ही शुंग वंश का अंत हो गया और वासुदेव कण्व के राजा बनते ही नये राजवंश कण्व वंश की प्रतिष्ठा हुई।

## 10.4 कण्व वंश

अमात्य वासुदेव द्वारा स्थापित नया राजवंश भी ब्राहमण वंश था। कण्व वंश ने लगभग 72 ई.पू. से 27 ई.पू. तक राज्य किया। इस वंश में क्रमशः चार राजा हुए, वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण ओर सुशर्मा। पुराणों से केवल इतनी जानकारी मिलती है कि कण्व वंश के शासक धर्मानुकुल शासन करेंगें, अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शुंगों के शासन में ब्राहमण धर्म और व्यवस्था के पुनरूद्वार का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह कण्व वंशीय राजाओं के शासनकाल में भी जारी होगा। इसके अतिरिक्त हमें इस वंश के शासकों के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नही हो पाई है।

## 10.5 सारांश

अस्तु यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र शुंग एक प्रतापी राजा थे।

## 10.6 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. शुंग कौन थे ? पुष्यमित्र शुंग की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 2. पुष्यमित्र शुंग के काल में हुए विदर्भ युद्ध का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. क्या पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का शत्रु था।

प्रश्न 4. शुंग काल में हुए यूनानी आक्रमणों का विवरण दीजिए।

प्रश्न 5. पुष्यमित्र शुंग का राज्य विस्तार क्या था ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-11 : सातवाहन वंश

## संरचना


11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 सातवाहनों का मूल स्थान

11.3 सातवाहनों का उदय

11.4 सातवाहन शासक

11.4.1 गौतमी पुत्र शातकर्णी

11.4.1.1 शक विजय

11.4.1.2 अन्य विजय

11.4.1.3 साम्राय विस्तार

11.4.1.4 पराजय

11.4.1.5 मृत्यु

11.4.1.6 व्यक्तित्व

11.4.1.7 सहशासन (सम्मिलित राज्य)

11.5 गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी

11.6 समकालीन उत्तर भाग

11.7 युनानी इण्डो बेक्ट्रियन

11.7.1 यूथीडेमस

11.7.2 डेमेट्रिअस

11.7.3 मीनेण्डर (मिलिन्द)

11.8 यूक्रेटाईडीज का दूसरा युनानी राज्य

11.9 भारतीय–यूनानी सम्पर्क के प्रभाव

11.9.1 साहित्य

11.9.2 ज्योतिष

11.9.3 चिकित्सा शास्त्र

11.9.4 कला

11.9.5 मुद्रा

11.9.6 धर्म दर्शन

11.10 सारांश

11.11 अभ्यास प्रश्नावली


## 11.0 प्रस्तावना

**सातवाहनों की जाति** – कण्व वंश के अंतिम शासक सुशर्मा के समय एक सातवाहन वंशी सामन्त शासक 'सिमुक' ने मगध पर आक्रमण कर अपना अधिकार कायम कर लिया। कण्व वंश को समाप्त कर मगध पर अधिकार करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वाले सातवाहन कौन और किस जाति के थे, इस विषय पर इतिहासकारों में भारी मतभेद हैं। पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र जातीय कहा गया है। इसलिए सातवाहन वंश को आन्ध्र वंश भी कहा जाता है। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्रों को अनिवार्य लिखा गया है। अतः कुछ विद्वान सातवाहनों को अनार्य जाति से संबंधित मानते हैं। सेनार तथा ब्यूलर आदि विद्वान एक अभिलेख के आधार पर सातवाहनों को ब्राह्मण बताते हैं। किन्तु डॉ. डी.आर. भण्डारकार तथा डॉ. के. गोपालाचारी नागों तथा ब्राह्मणों का मिश्रित रक्त वाला कुल था। इस प्रकार, सातवाहनों की जाति के बारे में कोई एक निश्चत मत नहीं होने से यह प्रश्न अभी विवाद का विषय बना हुआ है।

## 11.1 उद्देश्य

यहाँ हम सातवाहन वंश के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 11.2 सातवाहनों का मूल स्थान

सातवाहनों की जाति की तरह ही उनके मूल स्थान के बारे में भी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। डॉ. जायसवाल, प्रभाकर शास्त्री, रेप्सन तथा बर्नेट के मतानुसार सातवाहनों का मूल निवासस्थान दक्षिण में कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच का आन्ध्रप्रदेश था। डॉ. सूक्यथर तमिलनाडु (मद्रास) के बेलारी जिले को सातवाहनों का मूल स्थान मानते हैं। प्रो. मिरासी बरार (विदर्भ) को इनका आदि स्थान मानते हैं। डॉ. चौधरी के मतानुसार सातवाहनों का मूल स्थान मध्यप्रदेश का दक्षिणी भाग था। किन्तु प्रारंभिक सातवाहन शासकों के अभिलेखों, सिक्कों तथा सातवाहनों के ससकालीन कलिंग के राजा खारवेल के हाथी गंम्फा अभिलेख के आधार पर अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि सातवाहनों का मूल स्थान महाराष्ट्र था और उनकी राजधानी प्रतिष्ठान के निकट थी। आधुनिक आन्ध्रप्रदेश को उन्होंने बाद में जीता था।

## 11.3 सातवाहनों का उदय

सातवाहनों की जाति और मूल स्थान की भाँति उनके उदयकाल के बारे में भी विद्वानों में विवाद है। डॉ. स्मिथ और रेप्सन सातवाहनों के वंश संस्थापक सिमुक का उदय काल तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। किन्तु हाथीगंम्फा अभिलेख तथा अन्य ऐतिहासिक स्त्रोतों के आधार पर यह अधिक उपयुक्त लगता है कि सातवाहनों का उदय ई.पू. प्रथम शताब्दी में हुआ था। डॉ. राजबली पाण्डे का मत है कि सातवाहन मूलतः दक्षिण भारत के थे और 28 ई.पू. में (डॉ. राय चौधरी के अनुसार 70 ई.पू. में) सिमुक ने मगध पर आक्रमण कर उत्तरी भारत में अपनी सत्ता कायम की।

उत्तरी भारत में सातवाहनों की शक्ति अधिक समय तक कायम नहीं रही। मगध पर अधिकार करने के कुछ समय बाद ही उत्तरी भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा इस भाग में स्थानीय राज्यों के उठने के कारण सातवाहनों का उत्तरी भारत से अधिकार समाप्त हो गया। लेकिन दक्षिण भारत में इनकी शक्ति ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के मध्यकाल तक चलती रही और वे तत्कालीन भारत की एक प्रमुख शक्ति के रूप में बने रहे। इसी कारण सातवाहनों के काल में भारतीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत की ओर हट गये।

## 11.4 सातवाहन शासक

सातवाहन राज्य का संस्थापक सिमुक था। उसने कण्वों तथा शुंगों की शेष शक्ति को समाप्त कर अपना अधिपत्य स्थापित किया। उसके इस साहसिक कार्य में अन्य आन्ध्र, भृत्य तथा रठिक और भोज भी सम्मिलित थे। सिमुक ने राजा होने पर इन लोगों को पुरस्कृत किया और उनके साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये। पुराणों के अनुसार सिमुक ने 23 वर्ष तक राज्य किया। जीवन के अन्त में कुछ क्रूर होकर जैनों के प्रति अत्याचार करने के कारण उसे सिंहासन से, हटाकर मार डाला गया।

सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) राजा हुआ जिसके समय में सातवाहन राज्य पश्चिम में नासिक तक फैला। नासिक में उसका एक गुफा लेख है। इससे यह भी पता चलता है कि ब्राह्मण होते हुए भी कृष्ण बौद्धों के प्रति उदार था। उसने लगभग 18 वर्ष तक शासन किया। परन्तु भण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार उसने केवल 10 वर्षों तक ही शासन किया था। कन्ह के बाद ''श्री शातकर्णी'' राजा बना। वह सिमुक का पुत्र थ। उसने अपने साम्राज्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की सीमाओं को बढ़ाया तथा मालवा के आस पास तक के प्रदेशों को जीता उसने अश्वमेद्य तथा राजसूय यज्ञ किये ओर दक्षिणापथपति की उपाधि धारण की वह सातवाहन वंश का प्रथम महान राजा था। नायनिका के नाना घाट लेख में उसकी महानता के कार्यो का उल्लेख मिलता है। उसके राज्य काल में वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हुआ। नाना घाट लेख में वैदिक देवताओं और यज्ञों, अवश्मेध तथा राजसूय का भी उल्लेख है।

## 11.4.1 गौतमीपुत्र शातकर्णी

लगभग सौ वर्ष के निर्बल शासन के बाद सातवाहन वंश में एक पराक्रमी राजा का उदय हुआ। जिसने शकों को पराजित करके अपने वंश की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। वह था गौतमीपुत्र शातकर्णी । वह सातवाहन वंश का सबसे प्रतापी शासक हुआ। उसने अपनी असीम प्रतिभा, शौर्य एवं सैनिक कुशलता से अपने राजवंश से गिरे हुए गौरव को पुनः स्थापित किया ओर क्रमशः शक्ति संचय करते हुए अपने शत्रु शकों को पराभूत किया। उसके शासनकाल की अवधि के बारे में काफी मतभेद है परन्तु विभिन्न अभिलेखों के आधार पर उसकी शासन अवधि के बारे में काफी मतभेद है। परन्तु विभिन्न अभिलेखों के आधार पर उसकी शासन अवधि निर्धारित की जा सकती है। जुनार अभिलेखों में नहपान की अंतिम तिथि 46 ई. का उल्लेख है, अर्थात नहपान ने 46 + 78 = 124 ई. तक महाराष्ट्र पर शासन किया होगा। इस तिथि के बाद ही शातकर्णी ने नहपान के राज्य पर अधिकार किया होगा। महाराष्ट्र में शातकर्मी का सर्वप्रथम लेख नासिक में मिलता है जो उसके शासनकाल के 18 वें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था, अर्थात उसने अपने शासनकाल के 18 वें वर्ष में महाराष्ट्र को जीता होगा। जिसका अर्थ हुआ वह 124–18 = 106 ई. के आसपास सिंहासन पर बैठा होगा। उसके अंतिम अभिलेख में उसके शासनकाल के 24 वें वर्ष की तिथि है। अतः उसने 24 वर्ष तक तो निश्चित रूप से शासन किया ही होगा इस आधार पर हम उसका शासनकाल 106 ई. से लेकर 130 ई. तक निर्धारित कर सकते है।

**11.4.1.1 शक विजय**–गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों को परास्त किया। परन्तु इसके लिए उसे राजा बनने के बाद पूरे 18 वर्ष तक अपनी शक्ति को संगठित करने की तरफ ध्यान देना पड़ा होगा। उसके शासन के 18 वें वर्ष के नासिक अभिलेख जो गोवर्धन विजय (नासिक) के अमात्यों को सम्बोधित है, में उस भूमिदान का उल्लेख है जो ऋषभदत के अधिकार में थी। यह ऋषभदत शक नरेश नहपान का दामाद तथा शक राज्य के दक्षिण प्रान्त (जिसमें नासिक भी सम्मिलित था) का राज्यपाल था। उस समय गौतमीपुत्र शातकर्णी नासिक के आस पास वेण नदी पर अपना शिविर लगाये हुए था। इसी प्रकार, कार्ली अभिलेख में पूना जिले के करजिक ग्राम को दान में दिये जाने का उल्लेख है। इन अभिलेखों से यह सिद्ध तो हो जाता है कि उत्तरी महाराष्ट्र में शकों की शक्ति को समाप्त करके सातवाहनों ने पुनः अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। परन्तु इसका विस्तृत ब्यौरा नही मिल पाता।

वाशिष्टी पुत्र पुलुमावी के शासनकाल के 149 वें वर्ष की सुप्रसिद्ध नासिक प्रशस्ती में गौतमीपुत्र शातकर्णी की विभिन्न उपलब्धियों का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। इससे पता चलता है कि उसने शक, यवन एवं पह्वों (शक–यवन–पहलव–निसूदन) का विनाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनः स्थापना की। उसका मुख्य उद्देश्य शकों के महाक्षत्रप नहपान सहित क्षहरातों का विनाश था। क्योकि उनके कारण सातवाहन सत्ता धूमिल एवं निर्बल हो गई थी। उसने यह कार्य शासन के 18 वें वर्ष से पहले शुरू कर दिया था ओर 18 वें वर्ष तक शकों को महाराष्ट्र से खदेड़ दिया। शातकर्णी की यह प्रारम्भिक सफलता थी क्योंकि अभी तो सातवाहन राज्य का बहुत बड़ा भू भाग शकों के अधिकार में रह गया था नहपान की अंतिम ज्ञात तिथि शक 46 है, अर्थात 124 ई.। यह शातकर्णी के शासन का 18 वां वर्ष था। ओर इसी वर्ष वह शकों के विरूद्व रणयात्रा को निकला था। नासिक प्रशस्ती के अनुसार इस अभियान के फलस्वप सौराष्ट्र (काठियावाड़), कुकुर (गुजरात का परियात्र क्षेत्र), अनूप (नर्नदा नदी पर स्थित महेश्वर क्षेत्र), उपरान्त (उत्तरी कोंकण) आकर (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिम मालवा) के प्रान्त शातकर्णी के अधिकार में आ गये। ये सारे प्रान्त क्षहरातों से जीते थे और एक युद्व में महाक्षत्रप नहपान भी मारा गया। नहपान की मृत्यु के बाद पश्चिमी भारत एवं मालवा पर सातवाहनों का अधिकार हो गया। नासिक और उसके आस पास नहपान के अनेक सिक्के मिलते है। जिन पर शातकर्णी के लेख है, जो नहपान पर उसकी विजय का प्रतीक है।

**11.4.1.2 अन्य विजयों**–नासिक प्रशस्ति से पता चलता है कि गौतमतीपुत्र शातकर्णी ने केवल क्षहरातों पर ही विजय प्राप्त नहीं की, अपितु अन्य प्रदेशों को जीतकर उन्हे भी सातवाहन राज्य में सम्मिलित किया था। ये प्रदेश थे –

ऋषिक (कृष्णा तट पर स्थित ऋषिक का समीपवर्ती क्षेत्र), अश्मक (बोधन के समीप महाराष्ट्र का गोदावरी क्षेत्र), मूलक (प्रतिष्ठान क्षेत्र – आधुनिक पैथान ) और विदर्भ (बरार) आदि।

**11.4.1.3 साम्राज्य विस्तार**–उपर्युक्त विजयों के परिणामस्वरूप गौतमीपुत्र शातकर्णी के समय मे सातवाहन राज्य दक्षिण में कृष्णा नदी से लेकर उत्तर में सौराष्ट्र एवं मालवा तक ओर पूर्व में विदर्भ से लेकर पश्चिम में कौकण तक फैल गया था। उसके साम्राज्य में दक्षिणपथ के दो प्रदेश – दक्षिण कोंकण ओर आन्ध्रदेश सम्मिलित नहीं थे। उपर्युक्त क्षेत्र पर शातकर्णी का सीधा शासन था। परन्तु उसका राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र सीधे शासन की परिधि के काफी विस्तृत हो चुका था। त्रावणकोर, पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट तक उसका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो चुका था।

**11.4.1.4 पराजय**–अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व गौतमीपुत्र को शकों के हाथों शायद पराजित होना पड़ा था। साहित्यक एवं अभिलेखीय दोनो ही साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि महाक्षत्रप चष्टन एवं रूद्रादमन के शासनकाल में शकों ने सातवाहन राजा को पराजित करके उसके राज्य के उत्तरी एवं पश्चिमी प्रान्तों पर जिन्हे उसने क्षहरातों से छीना था, अधिकार कर लिया था शक महाक्षत्रप रूद्रादमन के जूनागढ़ अभिलेख से शकों की विजय की पुष्टि होती है, जिनमें उसे आकार, अवन्ति,अनूप, अपरान्त, सुराष्ट्र, एवं आनर्त का स्वामी कहा गया है। इस अभिलेख में रूद्रादमन यह भी कहता है कि उसने दक्षिणापथ नाथ शातकर्णी को दो बार परास्त किया परन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसका विनाश नही किया। वस्तुतः गौतमी पुत्र शातकर्णी उसका निकट सम्बन्धी था। रूद्रादमन की पुत्री कार्दमक का विवाह गौतमीपुत्र शातकर्णी के द्वितीय पुत्र वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णी के साथ हुआ था गौतमीपुत्र की यह पराजय सम्भवतः उस समय हुई होगी। जब वह अपनी बीमारी के कारण निस्तेज पड़ा था। परन्तु डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय आदि लेखकों का मानना है कि शकों ने सातवाहनों से उपर्युक्त प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी की मृत्यु के पश्चात छीने थे।

**11.4.1.5 मृत्यु**–गौतमीपुत्र शातकर्णी के शासनकाल का अंतिम नासिक अभिलेख उसके शासनकाल के 24वें वर्ष का मिला है। इस अभिलेख में उसकी माता के लिए महादेवी और राजमाता पदों का प्रयोग है और शातकर्णी के लिए जीवसुता का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है–''जिसका पुत्र जीवित है''। विद्वानों का मानना है कि इसका यह अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि अभिलेख उत्कीर्ण किये जाने के समय पुत्र आसन्न मृत्यु था और सम्भवतः उसके बाद शीघ्र ही उराकी गृत्यु भी हो गई थी। इरा हिराब रो गौतगीपुत्र शातकर्णी ने 24 वर्ष (106 रो 130 ई.) तक शारान किया।

**11.4.1.6 व्यक्तित्व**–नासिक प्रशस्ती गौतमीपुत्र शातकर्णी की वीरता तथा विजयों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी देती है। प्रशस्ति में उसके शोभन, शरीर, रम्य एवं देदीप्यमान मुख – मण्डल, चारू गति एवं मांसल दीर्घ भुजाओं की प्रशंसा की गई है। वह माता के प्रति अतीव आज्ञाकारी, सकल आगम ज्ञाता एवं विशिष्ट आधार का स्त्रोत था। सभी अधीनस्थ राजा उसके आज्ञाकारी थे। वह युद्व में पराजित न होने वाला शासक था वह अत्यन्त दयालु था और अपने शत्रुओं के प्रति हिंसा करने मे उसे रूचि न थी। वह प्रजा से न्यायसम्मत कर लेने वाला,प्रजा के सुख में अभिरूचि तथा दुख में सहानुभूति रखने वाला एवं समाज का कर्ता था। वह अद्वितीय धनुर्धर, अद्वितीय यौद्वा, अतीव कौशलसम्पन्न एवं ब्राहमणों का एकमात्र संरक्षक था। उसने क्षत्रियों के दंभ एवं मान का मर्दन किया, ब्राहमणों के साथ साथ कृषकों एवं व्यापारियों या हीन परिवार वालों के हितों की वृद्वि की तथा समाज में वर्ण संकरता का विनाश किया। उसने ब्रहमण धर्म की वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह शुद्र जातियों के प्रति असहिष्णु था। वह उनकी भलाई के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहा।

**11.4.1.7 सहशासन (सम्मिलित राज्य)**–कुछ विद्वानों, विशेषतः सर आर.जी. भण्डारकर ने यह मत व्यक्त किया है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी और उसके पुत्र वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी, दोनो ने कुछ समय तक साथ साथ राज्य किया था – गौतमीपुत्र शातकर्णी ने धनकत में और वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी ने प्रतिष्ठान में। उन्होने इस मत के समर्थन में निम्न तर्क दिये हैं–(1) राजमाता गौतमी वलश्री की नासिक प्रशस्ती में जो वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी के शासनकाल के 19 वें वर्ष की है, उसमें उसको महाराज की माता और महाराज की पितामही – दोनों कहा गया है। ऐसा तभी संभव है जबकि दोनों का सहशासन होरहा हो। तब वह एक की माता और दूसरे की पितामही कही जा सकती थी। (2) यदि वह माना जाये कि अभिलेख के समय से पूर्व ही गौतमीपुत्र की मृत्यु हो चुकी थी तो पुलुभावी अकेला ही शासन कर रहा था। ऐसी स्थिति में गौतमीपुत्र की उपलब्धियों के साथ साथ शासन रत पुलुभावी की उपलब्धियों का भी उल्लेख होना चाहिए। परन्तु उसके बारे में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अभिलेख मौन है। इसी प्रकार के कुछ अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये गये है। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मानना है कि सहशासन का सिद्वान्त सर्वथा निराधार है। वस्तुतः सर्वमान्य भारतीय परम्परा एवं अपनी कुल परम्परा के अनुसार पिता के बाद ही पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

## 11.5 गौतमीपुत्र के उतराधिकारी

गौतमीपुत्र के बाद उसका लड़का वाशिष्टी पुत्र पुलुभावी शासक बना उसने भी सातवाहनों के साम्राज्य का वितार किया किन्तु शकों ने उससे पश्चिमी राजस्थान तथा मालवा के प्रदेश छीन लिये। उसके बाद उसका भाई वाशिष्ठी पुत्र शिव श्री शातकमीर्स शासक बना। लेकिन सातवाहनों का अंतिम प्रतापी शासक यज्ञश्री शातकर्णी था।उसके शकों से उतरी कौंकण जीत कर अपने राज्य का खूब विस्तार किया। यज्ञ श्री के बाद विजय, चन्द्रश्री तथा पुलुभावी द्वितीय शासक बने। किन्तु अपनी अयोग्यता के कारण इक्ष्वाकु अमीर तथा पल्लव लोगों ने सातवाहन साम्प्रज्य के विभिन्न भागो पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ किया और तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्व में सातवाहनों की केन्द्रीय शक्ति समाप्त हो गई।

## 11.6 समकालीन उत्तरी भारत

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग, कण्व, तथा सातवाहनों ने उतरी भारत में शक्ति संस्थापना का प्रत्यन किया, लेकिन वे इसमें सफल नही हो सकें तथा उत्तरी भारत कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इस काल में गंगा के दक्षिणी भाग में मथुरा, मगध, काशी तथा कौशाम्बी में स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लिये। मध्य भारत में भरहुत, विदिशा, तथा उज्जैन के राज्य अस्त्वि में आए। भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में छोटे छोटे राजतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक राज्य उठ खड़े हुए तथा रावी और यमुना के बीच में स्वतन्त्र जातीय गणराज्यों का उदय हुआ।

इस प्रकार, उतरी भारत राजनीतिक दृष्टि से कई इकाईयों में विभक्त हो गया। भारत की इस स्थिति का लाभ उठाना विदेशियों के लिए स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप मौर्यो के पतन के बाद से भारत पर उतर पश्चिमी ओर से पुनः विदेशियों के आक्रमण होने लगे, जिनका नेतृत्व क्रमशः यूनानियों (बैक्ट्रियनों, शकों पह्ल्वों (पर्थियानों) तथा कुषाणों ने किया।

## 11.7 यूनानी इण्डो बेक्ट्रियन

यूनानियों के आक्रमण – दूसरी शताब्दी में ई.पू. के प्रारम्भिक काल में भारत पर सबसे पहले आक्रमण करने वाले यूनानी (बेक्ट्रियन) लोग थे। वे हिन्दुकुश के उस पार बेक्ट्रिया में रहते थे। मूलतः से लोग यूनानी थे, पर सैकड़ों वर्ष पूर्व बैक्ट्रिया में आकर वहां उन्होने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि बैक्ट्रिया में यूनानी उपनिवेशों की स्थापना सिकन्दर के आक्रमण से पहले ही यूनानी उपनिवेश या बस्तियां विद्यमान थी। सिकन्दर ने अपने आक्रमण के दौरान इन पर अधिकार कर लिया ओर सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सैल्यूकस के सीरियाई साम्राज्य में बैक्ट्रिया भी सम्मिलित था। सैल्यूकस के एक उत्तराधिकारी एन्टिआकस द्वितीय के शासनकाल में (लगभग 250 ई.पू.) डिओडिटिस बेक्ट्रिया में अपने स्वतत्र राज्य की स्थापना की। विद्वानों का मानना है कि इसी समय पार्थिया का प्रान्त भी सीरियाई साम्राज्य से पृथक हो गया ओर वहां भी एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। बेक्ट्रिया का नया राज्य हिदुकुश से लेकर ऑक्सस नदी तक विस्तृत था। 247 ई.पू. में एन्टिआकस द्वितीय की मृत्यु हो गई। ओर सेल्यूकस द्वितीय सीरिया का शासक बना। सेल्यूकस द्वितीय ने पर्थिया के विरूद्ध डिओडोट्स का सहयोग प्राप्त करने के लिए उससे मैत्री कर ली ओर अपनी बहिन का विवाह भी उसके साथ कर दिया।

230 ई.पू. में डिओडोटस की मृत्यु हो गई उसका पुत्र डिओडोट्स द्वितीय शासक बना। उसने अपने पिता की नीति के विपरित पर्थिया से मैत्री सम्बन्ध कायम किया। इस पर उसक प्रजा और उसके अमीर विरोधी हो गये। उसकी विमाता भी उसके विरूद्व हो गई और उसने युथीडेमस नामक सरदार के साथ विवाह कर लिया। यूथीडेमस ने डिआडोट्स द्वितीय का वध करके बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार कर लिया। उधर सीरिया के शासक सैल्यूकस द्वितीय की मृत्यु हो गई और एन्टिआकस ने बैक्ट्रिया को स्वतन्त्र सता को स्वीकार कर लिया ओर अपनी पुत्री का विवाह यूथीडेमस के पुत्र डेमेट्रिअस के साथ कर दिया। इसके बाद एन्टिआकस ने भारत पर आक्रमण किया परन्तु उसे अधिक सफलता न मिलती और वह काबुल की घाटी से ही लौट गया। उसके अधूरे काम को यूथीडेमस ने पूरा किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 11.7.1 यूथीडेमस

यूथीडेमस एक पराक्रमी और साहसी शासक था। वह एशिया माईनर में स्थित मैगनेशिया नामक नगर का रहने वाला था। उसने अपनी शक्ति और बुद्धि के बल पर बैक्ट्रिया का राज्य प्राप्त किया था। बैक्ट्रिया में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के बाद उसने अपने राज्य विस्तार का प्रयत्न किया और सर्वप्रथम फरगना प्रदेश को जीता। इसके बाद उसने साग्डिआना प्रदेश को जीता। उसने पार्थिया पर आक्रमण किया ओर पार्थिया राज्य का कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने अफगानिस्तान का अधिकांश भाग और पूर्वी फारस का कुछ भाग भी अपने अधिकार में कर लिया। कनिंघम आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यूथीडेमस ने भारत पर भी आक्रमण किया था ओर उसके कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। उन्होने अपने मत में दो तर्क दिये है। – (1) रावलपिंडी क्षेत्र में यूथीडेमस की मुद्राऐं प्राप्त हुई है (2) साकल (स्यालकोट) का नाम यूथी डेमिज था परन्तु अन्य विद्वान इस मत को स्वीकार नही करतें। क्योंकि किसी भी युनानी अथवा भारतीय साक्ष्य के द्वारा यूथीडेमस को भारत विजेता नही कहा गया है।

### 11.7.2 डेमेट्रिअस

यूथीडेमिस की मृत्यु के बाद डेमेट्रिअस बेक्ट्रिया का शासक बना। वह एक महान शासक था। उसने भारत पर आक्रमण किया और भारत पर यूनानी राज्य कायम किया। स्ट्रेबो और जस्टिन ने उसे भारतवर्ष का राजा कहा है सिक्कों में डेमेट्रिअस को हाथी के सिर की तरह शिरस्त्राण पहने हुए दिखाया गया है। हाथी, उसके भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध को सूचित करता है। पश्चिमी पंजाब में उसके बहुत से सिक्के भी मिले है। उसके सिक्कों पर भारतीय भाषा (प्राकृत) ओर अक्षरों (खरोष्ठी लिपि) में राजा की उपाधि और नाम प्राप्त होता है। उसने भारत पर आक्रमण कर साकल (स्यालकोट) मथुरा, साकेत तथा विदिता को जीत लिया। सिन्ध पर भी उसका अधिकार हो गया। उसके बाद उसने मगध पर आक्रमण किया परन्तु पुष्यमित्र शुंग के हाथों परास्त होकर लौटना पडा। फिर भी पख्तूनिस्तान, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर उसका अधिकार बना रहा। परन्तु डेमेट्रिअस का भारत में अधिक फंसा रहना बैक्ट्रिया पर से उसके अधिकार को हटाने में सहायक हुआ। यूक्रेटाईडीज नामक एक यूनानी सरदार ने परिस्थिति का लाभ उठाकर बेक्ट्रिया पर अपना अधिकार जमा लिया। अतः डेमेट्रिअस को वहां जाना पड़ा परन्तु वह युक्रेटाइडिज को परास्त न कर पाया ओर न ही उससे अपना राज्य वापस ले पाया। इसके विपरित यूक्रेटाईडिज ने उसे वापिस खदेड़ दिया और डेमेट्रिअस से भारतीय राज्य के झेलम नदी के पश्चिमी भाग तक अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार भारत के उतर पश्चिम भाग में यूनानियों (बेक्ट्रियनों) के दो राज्य स्थापित हो गये। एक यूथीडेमस और उसके उतराधिकारी डेमेट्रिअस के वंशजों का तथा दूसरा राज्य यूक्रेटाईडीज और उसके वंशजों का। डेमेट्रिअस के वंशजों का अधिकार पूर्वी पंजाब और सिन्ध पर था ओर यूक्रेटाईडिज के वंशजों का अधिकार पश्चिमी पंजाब और काबुल घाटी पर था।

### 11.7.3 मीनेण्डर (मिलिन्द)

डेमेट्रिअस के बाद क्रमपूर्वक कौन कौन शासक बने, इसके बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिली। लेकिन यूनानियों के इस राज्य में मीनेण्डर नामका एक प्रसिद्व राजा हुआ। वह एक महान विजेता था। भारत में अनेक स्थानों पर मिली उसकी मुद्राओं से यह कहा जा सकता है कि उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इतिहासकारों के अनुसार उसका राज्य अफगानिस्तान के कुछ भाग, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ तक विस्तृत था। विजेता होने के साथ ही मीनेण्डर एक कुशल और न्यायप्रिय शासक था। धर्म के क्षेत्र में वह बड़ा जिज्ञासु था उसने नागसेन नामक बौद्व भिक्षु से कई प्रश्न कर अपनी जिज्ञासु प्रवृति का परिचय दिया। सम्भवतः नागसेन के उतरों व उपदेशों से प्रभावित होकर उसने बौद्ध धर्म अपना लिया। भारतीय साहित्य में इस शासक को मिलिन्द कहा गया है। उसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्ट्रेटो प्रथम राजा बना। उसके बाद स्ट्रेटो द्वितीय शासक हुआ। सम्भवतः उनके बाद भी कुछ राजा हुए होंगें, परन्तु हमारे पास उनके बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है।

## 11.8 यूक्रेटाईडीज का दूसरा युनानी राज्य

भारत में यूक्रेटाईडीज के दूसरे युनानी राजवंश में एन्टियालकिड्स नामक राजा सबसे ज्यादा प्रसिद्व हुआ। इसने कपिशा, पुष्कलावती व तक्षशिला पर शासन किया। इस वंश का अंतिम राजा हर्मियस था। इसके शासनकाल में कुषाणों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने उसके भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। इस घटना के साथ ही भारत में इण्डों बेक्ट्रियन (यूनानी) राज्य की समाप्ति हो गई।

## 11.9 भारतीय – यूनानी सम्पर्क के प्रभाव

सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारतीय सन्यता एवं संस्कृति के कुछ क्षेत्रोंपर थोड़ा सा प्रभाव पड़ा था। परन्तु इस बीच युनानी लगभग 150 वर्षो तक भारत वर्ष के शासक रहे। दो विभिन्न संस्कृतियों का लम्बे काल तक मिलन, उनमे पारस्परिक आदान प्रदान की प्रवृति उत्पन्न कर देती है। भारत यूनान का सम्पर्क भी इस तथ्य का अपवाद न रहा व दोनों की संस्कृतियों ने एक दूसरे को प्रभावित किया।

### 11.9.1 साहित्य

टार्न महोदय के अनुसार दोनो के मध्य भाषा के क्षेत्र में अधिक आदान प्रदान हुआ। दोनों ने एक दूसरे की भाषा के अनेक शब्दों को ग्रहण किया। उदाहरणार्थ भारतीयों ने यूनानियों से कलम, पुस्तक, सुरंग, केन्द्र, कोण, कम्पन, होरा आदि शब्द ग्रहण किये तो युनानियों ने भारतीयों के मकर्ट, वैदर्थ, श्रृगवेर, पिप्पसि, कपिश, शर्करा, आदि शब्द ग्रहण किये। टार्न का यह भी मानाना है कि बहुत से भारतीयों ने यूनानी भाष सीख ली थी ओर शायद ''मिलिन्दपंहो'' और ''युग पुराण। से लेखक यूनानी जानते थे। जैकोबी महोदय का मत है कि भारतीयों ने दोहा यूनानियों से सीखा परन्तु कीथ महोदय ने इसका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि दोहा भारतवासियों में पहले से प्रचलित था। वेबर का मानना है कि संस्कृत नाटकों पर यूनानी नाटको का प्रभाव है ओर कदाचित भारतीय नाटको का उदय भी यूनानी नाटकों से हुआ होगा। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय ने उपर्युक्त सभी मतों का खण्डन किया है।

### 11.9.2 ज्योतिष

ऐसा माना जाता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में भारत ने यूनानियों से कई नई बातें सीखी। ज्योतिष के कई सिद्धान्तों जैसे – भारतीय रोमक ज्योतिष पद्वति तथा पौलिश सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से यूनानी प्रभाव है। हमारी ज्योतिष के कई शब्द – केन्द्र, लिप्त, होरा आदि भी यूनानी शब्द है। कुछ विद्वानों का मानना है कि हमारी मेष, वृष, मिथुन आदि बारह राशियां युनानी नामों की रूपान्तर प्रतीत होती है। गार्गी संहिता से ज्ञात होता है कि ज्योषित के क्षेत्र में भारत यूनानियों का ऋणी है। प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर ने यूनानियों को ज्योतिष का ज्ञाता होने की वजह से पुजनीय बतलाया अन्यथा भारतीय उन्हे म्लेच्छ कहते थे।

### 11.9.3 चिकित्सा शास्त्र

वोगेल महोदय का मत है चिकित्सा के क्षेत्र में भी भारत यूनानी का ऋणी है। उनका मानता है कि भारतीय चिकित्सक चरक ने चिकित्सक के आचार सम्बन्धी जो नियम निर्धारित किये थे वे यूनानी चिकित्सक हिप्रोक्रेटिज के नियमों से बहुत कुछ मिलते जुलते है परन्तु यह सही प्रतीत नही होता है।

### 11.9.4 कला

उस युग में अधिकांश भवन नष्ट हो चुके थे। अतः किस में कितना प्रभाव पड़ा यह कहना सरल नही है। तक्षशिला में एक मंदिर तथा कुछ भवन मिले है। जिनके आधार पर विद्वानो का मानना है कि इन पर यूनानी वास्तुकला का प्रभाव है। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि वास्तुकला की अपेक्षा स्थापत्य कला के क्षेत्र में यूनानी प्रभाव अधिक स्पष्ट है। भारतीय ओर यूनानी शैलियों के समन्वयक से भारत में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जो गान्धार शैली के नाम से प्रसिद्व है। इसका मुख्य क्षेत्र गान्धार होने से इस शैली को गान्धार शैली कहा जाने लगा। इस शैली में भावना भारतीय थी तथा बनावट यूनानी कला के अनुरूप होती थी।

### 11.9.5 मुद्रा

मुद्रा के क्षेत्र में भारत ने यूनानियों से कई बातें सीखी। इससे पहले भारतीय मुद्राओं का आकार न तो संतुलित होता था और न ही उन पर सुन्दर आकृतियां बनी होती थी। चूकि युनानी मुद्राऐं सुन्दर होती थी तथा राजाओं के नाम व आकृतियां वाली होती थी, अतः भारत में इस प्रकार की मुद्राऐं बनने लगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 11.9.6 धर्म दर्शन

भारतीय संस्कृति के जिस क्षेत्र में यूनानियों को सर्वाधिक प्रभावित किया वह है धर्म और दर्शन। कई यूनानी शासकों ने भारतीय धर्म अपना लिया। मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लियां एन्टियालकिडस का राजदूत हेलियोडोरस विष्णु का उपासक था। इसने बेस नगर में गरूड़ध्वज की स्थापना की। इसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी युनानियों पर भारत का खुब प्रभाव पड़ा। भारत में अपनी राज्य शक्ति के समाप्त होने पर भारत में आने वाले युनानी आक्रमणकारियों ने समय के साथ भारतीय संस्कृति को अपना लिया और वे यहां के जीवन में इस प्रकार घुल मिल गये कि पूर्णतः भारतीय बन गये।

## 11.10 सारांश

अस्तु सातवाहन शासक महान् थे।

## 11.11 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. सातवाहन कौन थे ? गौतमीपुत्र शातकर्णी की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

प्रश्न 2. क्या गौतमीपुत्र शातकर्णी महाक्षत्रप रूद्रदामन से पराजित हुआ था।

प्रश्न 3. सातवाहनों के मूल स्थान के बारे में आप क्या समझते हैं।

प्रश्न 4. गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वारा शकों पर विजय की जानकारी कैसी मिलती है।

प्रश्न 5. गौतमीपुत्र शातकर्णी की विजयों एवं साम्राज्य विस्तार का उल्लेख करते हुए उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 6. भारतीयों और यूनानियों के सम्पर्क के परिणाम बताईये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-12 : शक

## संरचना


12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 भारतीय शक राज्य और उसके शासक

12.3 शक क्षत्रप

12.4 उत्तरी भारत के क्षत्रप

12.5 पश्चिमी भारत के क्षत्रप

 12.5.1 नहपान

12.6 मथुरा के क्षत्रप

12.7 उज्जनी के क्षत्रप

12.8 रूद्रदामन प्रथम

 12.8.1 तिथि

 12.8.2 राज्य विस्तार

 12.8.3 दक्षिणापथपति की पराजय

 12.8.4 शासन प्रबंध

 12.8.5 व्यक्तित्व और चरित्र

12..9 पह्व (पार्थियन)

12.10 सारांश

12.11 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 12.0 प्रस्तावना

पहली शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानियों (बेक्ट्रियनों) के भारतीय राजा का अन्त हो गया। उनके स्थान पर 'शक'नामक एक अन्य जाति ने भारत में जीवन में अपना राज्य स्थापित किया।

शक मध्य एशिया में सीर नदी के उत्तर में 'जग्जटिज' के निकट रहने वाली एक घुमक्कड़ जाति थी। इन्हीं के समीप पश्चिमी चीन 'यहुची' नामक एक जाति रहती थी। लगभग 175 से 165 ई.पू. में यहुचियों पर एक अन्य घुमक्कड़ हुंगनू (हुण) जाति के लोगों ने आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप यहुचियों को अपना मूल स्थान छोड़ना पड़ा और उन्होंने शकों पर आक्रमण करके उनको उनके मूल स्थान से खदेड़ दिया। यहुचियों से परास्त होकर शक दो समूहों में बंट गये। उनका एक समूह पूर्वी ईरान तथा पार्थिया होता हुआ शक स्थान में आकर बस गया और फिर वहां से कन्दहार और बलुचिस्तान होता हुआ सिन्धु नदी की निचली घाटी में आकर बस गया। दूसरा समूह सीधा भारत की ओर बढ़ा और पंजाब नामक स्थान पर आकर बस गया। कालान्तर में इन्हीं स्थानों को केन्द्र बनाकर ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में शकों ने भारत पर आक्रमण कर भारत में एक विस्तृत भू – भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। भारत में अपना अधिपत्य जमाने के बाद कभी शक्तिशाली और कभी कमजोर होते हुए शकों ने इसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक यहां शासन किया।

## 12.1 उद्देश्य

यहाँ शक शासकों के बारे में जानकारी कर सकेंगे।

## 12.2 भारतीय शक राज्य और उसके शासक

जॉन मार्शल के मतानुसार भारत में शकों का सबसे पहला शासक 'मावेज' था। उसके शासनकाल की तिथियां अनिश्चित है। कुछ विद्वान मावेज के शासनकाल को 32 ई.पू. से 20 ई.पू. मानते हैं और कुछ 1 ई.पू. से 20 ई. तक मानते हैं। तिथि कोई भी रही हो, शक शासक मावेज एक शक्तिशाली राजा था। उसके राज्य में कश्मीर, पश्चिम पंजाब, और गान्धार का प्रदेश सम्मिलित था। तक्षशिला उसके राज्य का प्रमुख केन्द्र था। मावेज ने अपने राज्य के अलग – अलग भागों में शासन के लिए क्षत्रप (गर्वनर) नियुक्त कर रखे थे।

मावेज के बाद एवेज शकों का शासक बना, किन्तु कुछ समय के बाद एवेज को उसके एक अधीनस्थ सामन्त एजीलिसेज ने राज्य सिंहासन से हटा दिया और स्वयं शकों के भारतीय राज्य का शासक बन बैठा। इसने लगभग 12 वर्ष तक शासन किया। इसके बाद एवेज द्वितीय शासक बना। इसने लगभग 43 ई. तक शासन किया। किन्तु इसके बाद पह्लव (पार्थियन) शासक फायोटीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया, जिसे हटाकर बाद में कुषाणों ने नेता गाण्डोफार्नीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार तक्षशिला से शकों के अधिकार का अन्त हुआ।

## 12.3 शक क्षत्रप

भारत में शक शासकों ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया था। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से उनका राज्य कई प्रान्तों में विभाजित था। शक शासक इन प्रान्तों में शासन संचालन के लिए जिन अधिकारियो को नियुक्त करते थे उन्हें शक क्षत्रप कहा जाता था। सामान्यतया शकों के प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप होते थे। (1) क्षत्रप और (2) महाक्षत्रप। वैसे शक क्षत्रप प्रारंभ में शक शासकों के अधीन थे, लेकिन शकों के केन्द्रीय शक्ति के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी एक लम्बे समय तक, भारत में शक क्षत्रप शासन करते रहे। भारत में शक क्षत्रपों के मुख्य केन्द्रों को चार भागों में बांटा जाता है। (1) उत्तरी भारत के क्षत्रप, (2) पश्चिमी भारत के शक – क्षहरात, (3) मथुरा के क्षत्रप और (4) उज्जयनी के क्षत्रप।

## 12.4 उत्तरी भारत के क्षत्रप

उत्तरी भारत में शकों के मुख्यतः कपिश, पुष्पपुर, अनिसारप्रस्थ, कुसुलुक, मनिगुल, जिहोणिक तथा इन्द्रवर्मन क्षत्रप वंशों ने शासन किया। इनमें से कपिश, पुष्पपुर तथा अभिसारप्रस्थ वंशों ने आधुनिक काफिरिस्तान तथा तक्षशिला के उत्तर में स्थित प्रदेशों में राज्य किया तथा अन्य वंशों ने पंजाब के विभिन्न भागों में शासन किया।

## 12.5 पश्चिमी भारत के क्षत्रप

पश्चिमी भारत में जिस क्षत्रप वंश ने राज्य किया, वह क्षहरात वंश के नाम से भी प्रसिद्ध है। क्षहरात वंश के क्षत्रपों के शासन का केन्द्र नासिक था। इसलिए इसको नासिक के क्षत्रप भी कहा जाता है। इस वंश के प्रसिद्ध शासकों में भूमक और नहपान के नाम प्रसिद्ध है। भूमक के अधिकार क्षेत्र में सौराष्ट्र और मालवा का प्रदेश था। डॉ. डी.सी. सरकार के अनुसार पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध पर भी भूमक का अधिकार था।

### 12.5.1 नहपान

पश्चिमी भारत के क्षत्रपों के नहपान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इसका उल्लेख नरवाहन के रूप में हुआ है। कम से कम 8 गुहा लेखों में उसका उल्लेख मिलता है। और उसकी बहुसंख्यक मुद्राऐं मिली हैं। वह एक महत्वकांक्षी शासक था और उसका राज्य काफी विस्तृत था। अभिलेखों और मुद्राऐं मिलने के स्थानों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नहपान के अधिकार में महाराष्ट्र का कुछ भाग, मालवा, अपरान्त, गुजरात, काठियावाड़ और पश्चिमी राजस्थान का कुछ भाग रहा था। शायद इसी समय सातवाहनों को महाराष्ट्र छोड़कर आन्ध्रप्रदेश में जाना पड़ा होगा। राज्य विस्तार के लिए उसने कौन – कौन से युद्ध लड़े – इसकी हमें जानकारी नहीं मिलती । यह भी संभव है कि राज्य का इतना विस्तार उसके पूर्ववर्ती शासकों ने ही किया हो। नासिक गुहा लेख नं. 10 से उसके केवल एक युद्ध की जानकारी मिलती है जो मालवा के आक्रमणकारियों के विरूद्ध लड़ा गया था। नहपान की राजधानी मिन्नगर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

थी। इसका सीमाकरण मन्दसौर तथा दोहद से किया जाता है। डॉ. जायसवाल के मतानुसार नहपान की राजधानी भडौच थी।

जोगल्थम्मी मुद्रा भाण्ड में नहपान की बहुत सी मुद्राऐं मिली हैं। इनमें से अधिकांश मुद्राऐं ऐसी है जिन पर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अपना नाम मुद्रित करवा कर पुनः प्रसारित करवाया था। इससे स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को परास्त किया था। नहपान क्षहरात वंश का अंतिम शासक था। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस शक राज्य का अंत हो गया।

## 12.6 मथुरा के क्षत्रप

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मथुरा में शक कब और कैसे पहुंचे। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मथुरा में शक मालवा से आए और कुछ विद्वानों की मान्यता है कि हगान और हगमाश मथुरा के सबसे पहले क्षत्रप थे, जिन्होंने वहां मिलकर शासन किया। इनके बाद 'राजवुल' क्षत्रप बना। वह मथुरां के क्षत्रपों में सबसे प्रतापी था। उसने एक स्वतंत्र शासक के रूप में शासन किया। राजवुल के बाद उसका पुत्र 'सोडास' क्षत्रप बना। किन्तु उसके बाद मथुरा के क्षत्रपों की शक्ति क्षीण हो गई और सोडास के उत्तराधिकारी अन्य शासकों के अधीन होकर शासन करने लगे।

## 12.7 उज्जयनी के क्षत्रप

दक्षिणी भारत में एक दूसरे शक क्षत्रप वंश का उदय हुआ। इसका मुख्य केन्द्र उज्जैन अथवा उज्जयिनी था अतः इसे उज्जैन के क्षत्रप भी कहा जाता है। इस क्षत्रप वंश का संस्थापक यशोमती था। किन्तु इस क्षत्रप राज्य का पहला स्वतंत्र शासक ''चष्टन'' था। चष्टन बड़ा पराक्रमी था। उसी ने इस क्षत्रप वंश को राजपद दिलाया था। इस कारण उज्जयिनी का क्षत्रप वंश उसके नाम पर 'चष्टन वंश' कहलाता है।

## 12.8 रूद्रदामन प्रथम

चष्टन के बाद इस क्षत्रप राज्य का उतराधिकारी रूद्रदामन बना। वह उज्जयिनी के क्षत्रप शासकों में सबसे अधिक पराक्रमी था। इतिहास में यह महाक्षत्रप रूद्रदामन प्रथम के नाम से विख्यात है। चष्टन ने अपने जीवन काल में ही रूद्रदामन को क्षत्रप बना दिया था और वह उसके साथ साथ राज्य का शासन कर रहा था। 'अन्धो' अभिलेख से इस बात की पुष्टि होती है कि उसने चष्टन के साथ शासन किया था। उस अभिलेख में चष्टन और रूद्रदामन दोनों के साथ राजा की उपाधि का प्रयोग समान रूप से हुआ है इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उस समय रूद्रदामन चष्टन की अधीनता में शासन नहीं कर रहा था। संभवतः दोनों के अधिकार समान थे। स्पार्टा में द्वैराज्य की प्रथा थी । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी उसका उल्लेख किया है। इसी द्वैराज्य प्रणाली का ज्वलन्त उदाहरण हमें चष्टन के साथ जयदाम के पुत्र रूद्रदामन की राज्य प्रणाली में मिलता है। अन्धौ अभिलेख में चष्टन के साथ जयदाम के पुत्र रूद्रदामन को क्षत्रप के रूप में उल्लिखित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चष्टन के पुत्र जयदाम की अपने पिता के जीवल काल में ही मृत्यु हो गई थी। अतः चष्टन ने अपने जीवन काल में ही अपने पौत्र रूद्रदामन को क्षत्रप बना दिया था।

### 12.8.1 तिथि

अन्धो अभिलेख की तिथि 52 शक संवत अर्थात् 130 ई. है। इस समय रूद्रदामन चष्टन के साथ सिंहासनासीन था। लेकिन कुछ विद्वानों की मान्यता है कि रूद्रदामन 140 ई. के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ था, क्योंकि 140 ई. के लगभग लिखे गये भूगोल में टालमी, उज्जैन के राजा चष्टन का ही उल्लेख करता है लेकिन ध्यान देने योग्य तथ्य है कि टालमी ने भूगोल लिखा है, इतिहास नहीं। संभवतः दोनो शासकों में से उसने वयोवृद्ध शासक चष्टन का नाम लिखना उचित समझा हो। जूनागढ़ अभिलेख रूद्रादामन की प्रशस्ति है इस अभिलेख की तिथि 72 शक संवत अर्थात् 150 ई. है। इससे प्रगट होताहै कि रूद्रदामन ने कम से कम 150 ई. तक राज्य किया था।

रूद्रदामन ने चांदी की मुद्राऐं निर्मित कराई थी। उसकी समस्त मुद्राओं में उसके लिए महाक्षत्रप की उपाधि का प्रयोग किया गया है, इन मुद्राओं में उसके पिता जयदाम का नाम भी मिलता है। कुछ मुद्राओं पर ''जयदामन पुत्रस्'' लिखा है और कुछ पर ''जयदाम पुत्रस्'' । बाद वाली मुद्राओं पर रूद्रदामन की आकृति वृद्धावस्था की सी लगती है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि उसकी दीर्घकालीन शासन के बाद मृत्यु हुई थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 12.8.2 राज्य विस्तार

अन्धौ अभिलेख से प्रगट होता है कि चष्टन ओर रूद्रदामन सम्मिलित रूप से कच्छ प्रदेश पर राज्य कर रहे थे। जूनागढ़ अभिलेख में रूद्रदामन को स्ववीर्यजित जनपदों वाला, अर्थात अपने पराक्रम से राज्यों को जीतकर साम्राज्य का स्थापक और शासक (महाक्षत्रप) कहा गया है। जूनागढ़ अभिलेख में निम्नलिखित प्रदेश रूद्रदामन के राज्य के अन्तर्गत सिद्ध होते है –

**आकर** – यह पूर्वी मालवा का परिचायक है, जिसकी राजधानी विदिशा (मध्यप्रदेश में) थी।

**अवन्ति** – यह पश्चिमी मालवा का प्रचीन नाम था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

**अनूप** – अनूप देश नर्मदा के किनारे स्थित था ओर हैहयों का प्रसिद्व नगर महिष्मती इसकी राजधानी थी। इसलिए अनूप देश हैहय देश भी कहलाता था। अवन्ति के निवासी भी हैहयों की एक शाखा थे। डॉ. सरकार ने इसकी पहचान आधुनिक मान्धता (नीमाड़ प्रान्त, मध्य प्रदेश) से की है।

**नीवृत** – स्कन्द पुराण की कुमारिकाखण्ड देश तालिका में नीवृत को एक मण्डल कहा गया (जिसमें चार करोड़ गांव सम्मिलित थे) जूनागढ़ अभिलेख में भी इसका नाम जनपद की तालिका में दिया गया है। यह पश्चिमी भारत में स्थित था।

**आनर्त** – उतरी गुजरात जिसकी राजधानी द्वारिका थी।

**सुराष्ट्र** – सौराष्ट्र या काठियावाड़

**श्वभ्र** – इस प्रदेश में खेटक (आधुनिक खेड़ या केरा प्रान्त) भी सम्मिलित था।

**मरू** – राजस्थान का प्रसिद्व मारवाड़ देश है, जिसे मरु मण्डल, मरु भूमि अथवा मरुस्थल भी कहा गया है जल और वनस्पति की कमी के कारण भी इसका यह नाम पड़ा।

**कच्छ**

यह प्रचीन काल मे कच्छेल्ल कहलाता था। यह आधुनिक कच्छ ही है।

**सिन्धु सौवीर** – सिन्धी की निचली घाटी

**कुकुर** – सिन्धु और पारियात्र पर्वत के बीच स्थित भूखण्ड है। जिसमें राजपूताना ओर उतरी गुजरात के कुछ भाग सम्मिलित थे।

**अपरान्त** – उत्तरी कोंकण

**निषाद** – इन्हे विध्य पर्वत का निवासी कहा गया है। डॉ. राय चौधरी पश्चिमी विन्ध्य ओर सरस्वती की घाटी में स्थित बताते है। इससे रूद्रदामन का समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर आधिप्त्य सिद्ध होता है।

इन प्रदेशों में सुराष्ट्र, कुकुर, उपरान्त ओर अनूप के प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी के अधीन थे। अतः स्पष्ट है कि रूद्रदामन ने उन्हे गौतमीपुत्र के किसी उत्तराधिकारी से जीत होगा।

**यौधेय पराभव** – जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि रूद्रदामन ने उन यौधेयों को पराजित किया जिन्हे समस्त क्षत्रियों ने अपना वीर मान लिया। इसलिए जो अपने को अजेय मानते हुए उद्वत स्वभाव के हो गये थे, रूद्रदामन ने बलपूर्वक उनका उन्मूलन किया। यौधेय एक प्राचीन प्रसिद्व गण जाति थी, जिसने इतिहास में अपनी

भूमि भक्त और सैन्य शक्ति से विदेशियों के विरूद्ध युद्ध करते हुए अपने देश की रक्षा की थी। सिक्कों के आधार पर यह माना जाता है कि उन्होने कुषाणों के विरूद्ध एक संघ बनाया था इस अभिलेख के इस कथन से सभी क्षत्रियों ने उन्हे अपना नेता चुना था, सिद्ध होता है कि उनका (यौधेयों का) तत्कालीन राजनीतिक जीवन में कितना महत्व था।

### 12.8.3 दक्षिणापथपति की पराजय

जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि रूद्रदामन ने दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णी को युद्व में दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसके प्राण नही लिये, इस युद्व में रूद्रदामन ने शातकर्णी को पराजित कर यश प्राप्त किया। जिस शातकर्णी को प्रत्यक्ष युद्ध में दो बार पराजित कर सम्बन्ध की निकटता के कारण जान से नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मरा था, वह शातकर्णी कोन था ? डॉ. डी.आर. भण्डारकर का मत है कि यह शातकर्णी स्वयं गौतमीपुत्र शातकर्णी था। परन्तु इस मत को स्वीकार नही किया जाता, क्योंकि उनके अभिलेख ओर मुद्राओं से प्रामाणित होता है कि गौतमीपुत्र ने स्वयं क्षहरातों को पराजित किया था। इसके अतिरिक्त वाशिष्ठपुत्र पुलुभावी के शासन के 19 वें वर्ष के अभिलेख में उसे मात्र दक्षिणापथेश्वर कहा गया है। जूनागढ़ अभिलेख भी पराजित शक नरेश को दक्षिणापथपति कहता है इसके अतिरिक्त रैप्सन महोदय ने कन्हेरी – अभिलेख की सहायता ली है। इस अभिलेख में उल्लिखित है कि वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णी ने महाक्षत्रप रूद्र की पुत्री के साथ विवाह किया था। रैप्सन महोदय का कथन है कि वाशिष्ठी पुत्र श्री शतकतर्णी सातवाहन नरेश वाशिष्ठीपुत्र पुलुभावी था ओर महाक्षत्रप रूद्र, महाक्षपत्र रूद्रदामन था। इस दामाद श्वसुर के निकट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही रूद्रदामन ने पुलुभावी का विनाश नही किया था परन्तु रैप्सन महोदय के मत में भी अनेक दोष है, अतः रैप्सन का मत स्वीकार नही किया जा सकता। कुछ विद्वान पराजित शातकर्णी को वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी का कोई उतराधिकारी मानते है। परन्तु उसे गौतमीपुत्र शातकर्णी का कोई उतराधिकारी मानना अधिक न्यायसंगत होगा क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णी के पश्चात ही सातवाहन राज्य का क्षय हुआ। अतः पराजित नरेश गौतमीपुत्र का ही कोई उतराधिकारी रहा होगा। डॉ. राय चौधरी के अनुसार कन्हेरी अभिलेख का वाशिष्ठ पुत्र श्री शातकर्णी, वाशिष्ठीपुत्री पुलुभावी का कोई पुर्वगामी भाई रहा होगा।

इन विजयों के अतिरिक्त रूद्रदामन को शत्रुओं को पराजित करने वाला बतलाया गया है। उसने अन्य भ्रष्ट राज्यों को भी प्रतिष्ठापित किया था। समुद्रगुप्त के समान उसने सम्भवतः पराजित राजाओं को अपना वंशवर्ती बनाकर फिर से प्रतिस्थापित कर दिया था। भ्रष्ट राज्यों से केवल उसके द्वारा ही पराजित को अपना वंशवर्ती बनाकर फिर से प्रस्थापित कर दिया। भ्रष्ट राज्यों से केवल उसके द्वारा ही पराजित राजाओं को स्थापित करने का तात्पर्य नही है। यहां सामान्य रूप से उन सभी राजाओं का उल्लेख है जो किसी दूसरे के द्वारा भी राज्य च्युत किये जाते हो। महाभारत मे दान धर्म का वर्णन करते हुए, विशेषकर पृथ्वी दान का महत्व बताते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य राज्य से भ्रष्ट हुए राजा को फिर से सिंहासन पर बैठा देता है उसका स्वर्गलोक में निवास होता है तथा वहां बड़ा सम्मान पाता है प्राचीन सम्राट भूमि दान को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते थे महाभारत में इसका महत्व बताते हुए कहा गया है कि जो राजा अपने शस्त्रों से असामुद्र पृथ्वी को जीतकर दान देता है। उसकी कीर्ति संसार में लोग उस समय तक गाते रहते है जब तक कि पृथ्वी स्थिर रहती है। जूनागढ़ अभिलेख में भी कहा गया है कि रूद्रदामन धर्मकीर्ति को बढ़ाना चाहता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि शक महाक्षत्रप रूद्रदामन प्रथम की बहुमुखी प्रतिभा, प्रज्ञा और पराक्रम के द्वारा स्थापित कीर्ति तत्कालीन राजनैतिक इतिहास में उसी प्रकार प्रसिद्व हो गई जैसी की उस युग के अन्य महान शासकों खारवेल ओर गौतमीपुत्र शातकर्णी की प्रतिष्ठा थी। परन्तु कुछ बातों में यह उनके बढ़कर भी था। और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि उसने एक विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य ओर धर्म का संवर्धन किया। उसने अपने विजित राज्य को उदार शासन, व्यवस्था द्वारा संगठित किया ओर इसीलिए यह राज्य अन्ततः समकालीन शक्तियों से संघर्ष करता हुआ उस समय भी बचा रहा जबकि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को स्वयं ही उनके विरूद्ध संघर्ष करना पड़ा ओर यदि रामगुप्त की ऐतिहासिकता स्वीकार करें तो रूद्रदामन के पौत्र, प्रपौत्र आदि उसके वंशजों ने समुद्रगुप्त के यश को रामगुप्त के अल्पशासनकाल में धुल धुसरित कर दिया।

### 12.8.4 शासन प्रबन्ध

जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि वह (रूद्रदामन) जन्म से लेकर राजत्व की प्राप्ति तक राजगुणों ओर लक्षणों से विभूषित था, इसलिए सभी वर्णो के लोगों ने अपनी रक्षा के लिए उसे अपना स्वामी (राजा) चुना था। इससे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है। उसके साम्राज्य में विभिन्न जनपदों, नगरों और निगमों के लोग दस्युओं, सर्पो, हिंसक पशुओं और रोगों से मुक्त थे, तथा सम्पूर्ण प्रजा उससे अनुरक्त थी। इस जनानुराग का साक्ष्य इसी बात से मिलता है कि सुदर्शन झील की मरम्मत उसने अपने ही कोष से, प्रजा पर बिना कोई कर लगाये, प्रजा के ही सुख ओर समृद्वि के लिए करवायी थी। इस प्रकार रूद्रदामन प्रजावत्सल्य जनप्रिय शासक था।

किसी भी राज्य के शासन की सफलता उसके राजकोष में समृद्धि पर निर्भर करती है। रूद्रदामन का कोष सोना, चांदी, वज्र, वैदूर्य, रत्न ओर अन्य बहूमूल्य वस्तुओं से भरा हुआ था, जिसे उसने न्याय से धर्मानुसार प्राप्त किया था, इन्हे



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बलि, शुल्क, भाग रूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार उसका कोष 'ईप्सित द्रव्य' (आवश्यक सम्पति और सामग्री) से परिपूर्ण था। कामन्दकीय नीतिसार में भी कोष को मुक्ता, कनक, रत्न आदि से भरा हुआ, पूर्वजों द्वारा प्राप्त तथा धर्मार्जित बताया गया है। कोष की सम्पदा विभिन्न प्रकार के करों (बलि, शुल्क, भाग) पर आधारित थी। बलि सम्भवतः कर का परिचायक है। भाग राजा का प्रजा की सम्पदा (धान्य) के छठे भाग का परिचायक है। शुल्क भी इस प्रकार का राजदेय कर था। प्राचीन हिन्दु व्यवस्था का सिद्वान्त है कि कर नीति अत्यन्त उदार होनी चाहिए।

एक विजेता होने के साथ साथ रूद्रदामन अच्छा प्रशासक भी था उसने अपने विशाल साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में बांट रखा था। और प्रत्येक प्रान्त में अपने अमात्य नियुक्त कर रखे थे। रूद्रदामन की शासन पद्वति में सचिवों और अमात्यों का महत्वपूर्ण स्थान था। शासन में सहायता देने के लिए मतिसचिव (परामर्शदाता) और कर्म सचिव (कार्यकारी अधिकारी) नियुक्त थे। ये सचिव अमात्य गुणों से युक्त थे। इस प्रकार रूद्रदामन के शासन में मंत्रि सम्पद् का भी महत्व था। रूद्रदामन की शासन पद्वति प्रचलित प्राचीन सप्तांग राज्य व्यवस्था थी।

राज्य की समृद्वि के लिए सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया गया था। चन्दग्रुप्त मौर्य के राज्य काल में उर्ज्जयत अथवा रैवतक (गिरनार) की पहाड़ियों से निकलने वाली सयुवर्णसिकता ओर पालशिनी नदियों के पानी को रोक कर सुदढ़ सुदर्शन झील का निर्माण किया गया था। और अशोक के समय इसमें से नहरें निकाली गई थी। परन्तु दुर्भाग्य से रूद्रदामन के राज्य काल में यह झील या बांध भीषण वर्षा से टूट गया था। रूद्रदामन ने इसके महत्व को जानते हुए उसकी मरम्मत कराई ओर इसको और भी अधिक सुद्ढ़ बनवा दिया।

### 12.8.5 व्यक्तित्व और चरित्र

किसी भी शासक की श्रेष्ठता का कारण उसका व्यक्तित्व और चरित्र होता है। शक क्षत्रपों में रूद्रदामन सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसके लेख ओर मुद्राऐं बहुलता से प्राप्त होती है। उसकी सबसे प्रसिद्ध लिपि जुनागढ़ अभिलेख है। जुनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि वह गुरूओं के सम्पर्क में आया था। ओर उन्होंने ही उसे रूद्रदामन की संज्ञा दी थी। यद्यपि गुरूओं का अर्थ पिता व पितामह भी हो सकता है। किन्तु उसका नाम उसक पूर्वजों के नामों (चष्टन, जयदाम) की तरह न होकर संस्कृत नाम है। अतः सम्भव है कि यहां गुरूओं से तात्पर्य उसके आचार्यो और शिक्षकों से ही है। इसी लेख में उसे शब्दार्थ संगीत, न्याय आदि विद्याओं में कुशल होने के कारण यशस्वी कहा गया है। शब्दार्थ से तात्पर्य शब्द शास्त्र और अर्थ शास्त्र से भी हो सकता है। शब्दार्थ के प्रयोग से उसका काव्याभास और काव्य प्रतिभा का परिचय मिलता है इसी लेख में उसे विविध शब्द और अलंकारों से युक्त गद्य पद्य काव्य विधन में प्रवीण कहा गया है। उसकी वाणी संगीत व व्याकरण के नियमों से परिबद्व तथा शुद्व थी। इससे सिद्व होता है कि वह गान्धर्व विद्या में भी प्रवीण था।

जूनागढ़ अभिलेख प्रथम संस्कृत का अभिलेख है, जिससे हमें उस युग के संस्कृत गद्य काव्य के स्वरूप का दर्शन होता है। अतः इसका न केवल राजनैतिक महत्व ही है वरन उसका साहित्यिक महत्व भी है। सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि एक शक होते हुए भी उसके शासनकाल में भारतीय संस्कृति के मूलांकुर संस्कृत का रूप पहली बार उन्नत हुआ। सुदर्शन झील के लेख में संस्कृत के अभिमण्डित प्रवाह से उस युग में संस्कृत भाषा ओर काव्य की उन्नति का पता चलता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि रूद्रदामन विद्या का कितना उन्नायक था।

जूनागढ़ अभिलेख में बतलाया गया है कि उसने घोड़े, हाथी, ओर रथ विद्याओं में भी कुशलता प्राप्त की थी। असि चर्म (ढाल – तलवार) के युद्व में भी वह कुशल था। इसी रण दक्षता के कारण वह शत्रुओं से नित्य पराभव कर रहा था। उसकी सेना राज्य का महत्वपूर्ण अंग थी, जिसकी कुशलता पर शासन की सफलता और राज्य की सुरक्षा निर्भर करती है। रूद्रदामन प्रथम कुशल सेनानायक था, जो रण विद्या में भी दक्ष था। वह विजेता अवश्य था। लेकिन निरर्थक हत्या करना उसे रूचिकर नही था। उसने युद्ध के अतिरिक्त अन्य नर हत्या न करने की प्रतिज्ञा की थी। उसके व्यक्तित्व और चरित्र की शिक्षा और विद्या का यह वांछनीय प्रभाव ही था कि उसमे धर्म के प्रति अनुराग था। गौ ब्राह्मण की रक्षा अथवा उन्नति के लिए उसने धर्म कीर्ति का विस्तार किया था। उसका धार्मिक अनुराग इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि उसने निरर्थक नर हत्या न करने की प्रतिज्ञा की थी। उसके चरित्र में दया का महत्वपूर्ण स्थान था, जिसके कारण शरण में आये हुए लोगों को शरण देता था। और उनकी रक्षा करता था। जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि उसके पौरूष, पराक्रम तथा रूप क्रान्ति का प्रमाण इस बात से भी प्राप्त होता है कि उसने स्वयंवरों में अनेक राजकन्याओं को प्राप्त कर अपनी शक्ति, शौर्य और सौन्दर्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से राजसभा को प्रभावित किया ओर फलस्वरूप वहीं उसको मालाओं से विभूषित किया गया।

टालमी के कथानुसार रूद्रदामन के पितामह चष्टन के राज्य की राजधानी उज्जयिनी थी। कदाचित रूद्रदामन की भी यही राजधानी थी। उसके शासनकाल में उज्जयिनी का सभी दृष्टियों से विकास हुआ।

रूद्रदामन के बाद चष्टन वंश में में उसका पुत्र दामघसद (दामोजद श्री) प्रथम शासक बना ओर उसके पश्चात जीवदामन शासक बना। इस वंश का अंतिम राजा रूद्रसिंह तृतीय था। इसी काल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उस पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। इसके साथ ही चष्टन वंश का अंत हो गया।

शक भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में आए थे, किन्तु यहां आने के बाद वे भारतीय जनजीवन में घुल मिल गये। यहां रहते हुए उन्होने भारतीय आचार विचार, घर्म और रहन सहन को अपना लिया और यहां के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। इस प्रकार वे भारतीय समाज के अंग बन गए।

## 12.9 पह्व (पार्थियन)

पह्लव भी मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात बाहर से भारत में आक्रमणकारियों के रूप में आने वाली एक जाति थी। ये सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस के सिरियाई सम्प्रज्य के एक भाग पर्थिया के निवासी थे। जिस समय बेक्ट्रिया का सीरियाई साम्राज्य अलग हुआ था। उसी समय पर्थिया के निवासी थे। जिस समय बेक्ट्रिया का सीरियाई साम्राज्य अलग हुआ था। उसी समय पर्थिया भी स्वतन्त्र हो गया था। स्वतन्त्र पर्थिया का पहला शासक मिथ्रेडिटेस था। उसके नेतृत्व में ही पह्लवों ने सबसे पहले भारत पर आक्रमण किया।और युनानी (बेक्ट्रियन) शासक डेमेट्रिअस की सेना को परास्त कर सिन्धु ओर झेलम के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, भारत में उनका राज्य कायम हुआ।

पल्हवों के भारतीय राज्य का पहला स्वतन्त्र शासक वोनेजीज था। वह तक्षशिला के शक शासक मावेज का समलीन था। उसका सीस्तान एवं दक्षिणी अफगानिस्तान पर भी अधिकार था। वानेजीज ने 'महाराज रजरस महतस' (महाराजधिराज) की उपाधि धारण की थी। वोनेजीज के बाद स्पेलिरिसिस शासक बनां किन्तु पह्लवों ने भारतीय राज्य का सबसे प्रतापी राजा गोण्डोफर्नीज था। इसने भारत में अपने राज्य की शक्ति का खूब विस्तार किया। उसका राज्य पूर्वी फारस से लेकर भारत में पूर्वी पंजाब तक विस्तृत था। उसकी राजधानी गान्धार थी। शायद वह 19 ई. में सिंहासन पर बैठा और लम्बे समय तक शासन किया। कहा जाता है ईसाई धर्म प्रचारक टामस इसी के शासनकाल में भारत आया था।

गोण्डोफर्नीज के बाद पह्लवों का राज्य दो भागों में विभाजित हो गया ओर राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त गर्वनर स्वतन्त्र होने लगे। उनकी शक्ति धीरे धीरे कमजोर होने लगी। लगभग इसी समय कुषाणों के भारत पर आक्रमण हुए और उन्होने पह्लवों के राज्य का अन्त कर अपना अधिकार जमा लिया।

## 12.10 सारांश

यूनानियों और शकों की भांति पह्लव भी भारतीय समाज में घुल मिल गये ओर यहां की भाषा, धर्म आदि को अपना कर भारतीय समाज के अंग बन गए।

## 12.11 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. शक कौन थे ? रूद्रदामन की विजयों और शासन प्रबन्ध की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. रूद्रदामन की शासन अवधि निर्धारित कीजिए।

प्रश्न 3. रूद्रदामन की शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. नहपान के जीवनकाल की उपलब्धियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. मथुरा के शक शासकों का विवरण दीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–13 : कुषाण वंश

**संरचना**


13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 सम्राट कनिष्क

13.2.1 कनिष्क की तिथि

13.2.2 कनिष्क दिग्विजय

13.2.3 कनिष्क का साम्राज्य

13.2.4 शासन प्रणाली

13.2.5 कनिष्क का धर्म

13.2.6 बौद्ध संगीति

13.2.7 महायान सम्प्रदाय का विकास

13.2.8 कनिष्क का निधन

13.2.9 कनिष्क का मूल्यांकन

13.3 गान्धार कला

13.4 मथुरा कला शैली

13.5 कनिष्क के उत्तराधिकारी

13.6 कुषाण साम्राज्य का पतन और उसके कारण

13.7 सारांश

13.8 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 13.0 प्रस्तावना

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात आये विदेशी आक्रमणकारियों में कुषाणों का स्थान प्रमुख रहा। इस जाति ने देश की राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ा और कला के विकास में तथा धार्मिक जीवन में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कारण भारतीय इतिहास में उनके शासन काल का महत्वपूर्ण स्थान है।

कुषाणों के प्राचीन इतिहास का विवरण हमें चीनी ग्रन्थों से मिलता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यूहची जाति की शाखा थे और उत्तर पश्चिम चीन के कानसू प्रान्त में रहते थे। हूणों ने यूहची के शक्तिशाली कबीले को पराजित कर पश्चिम चीन से निर्वासित कर दिया। तत्पश्चात यह जाति अनेक खानाबदोश जातियों से संघर्ष करती हुई बेक्ट्रिया और आक्सास नदी की घाटी में बस गई। जिसको उसने शकों से जीता थी। किन्तु अपने इस नवीन आवास में यह जाति अधिक काल तक नही ठहर सकी क्योंकि वू–सुन जाति ने उनको वहां से खदेड़ दिया। विवश होकर वे आक्सस नदी पार कर ताहिया या तुषार प्रदेशों में प्रविष्ट हुए, जहां से अधिकांश निवासी व्यापारी थे और उनमें न तो दृढ राजनीतिक संगठन था ओर न उनकी प्रवृति युद्ध करने की थी। फलतः उन्होने यूहची लोगों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहां पर रहते हुए यूहची लोगों ने अपनी शक्ति संगठित की तथा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में अपने घुमक्कड़ जीवन का परित्याग कर स्थायी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। इस समय यूहची जाति पांच भागों में विभक्त हो गई और प्रत्येक के उपर एक ही हू (साहू या साही) शासन करता था। ईस्वी शताब्दी के प्रारम्भ में कुएई शुआंग का राज्य कुषाण नामक साही या सरदार को मिला। इसने शेष राज्यों को पराजित कर उन्हे अपने अधीन कर लिया और एक विशाल राज्य का निर्माण किया। कुषाण की अधीनता में हो जाने पर समस्त यूहची जाति को कुषाण कहा जाने लगा। किन्तु कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कुषाण शकों की एक शाखा थी। परन्तु अधिकांश आधुनिक विद्वान उन्हे

यूहची जाति की एक शाखा मानते है। उनमें शकों का रक्त भी मिश्रित हो गया था। जिस कुषाण ने विशाल राज्य का निर्माण किया था उसका नाम कुजुल कदफिस (Kujula Kahdphises) था।

कुजुल कदफिस के नेतृत्व में कुषाण जाति में दृढ़ राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। कदफिस एक वीर यौद्वा और कुशल नेता था। अपनी शक्ति सगंठित करने के बाद उसने अपने घोडे की बाग भारतीय सीमा की ओर मोड़ी। उसने हिन्दुकुश पार किया ओर पार्थियन प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। काबुल में ग्रीक सता का सिक्का जमा हुआ था उसे कदफिस ने उखाड़ फेंका। उसने दक्षिण अफगानिस्तान को भी जीत लिया। उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह आक्सस नदी से लेकर सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य में बेक्ट्रिया, सम्पूर्ण वर्तमान अफगानिस्तान, ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश के परावर्ती क्षेत्र सम्मिलित थे। उसने महाराज, महन्त तथा महाराजाधिराज की उपाधियां धारण की थी। इससे स्पष्ट है कि भारतीय प्रजा ने उसके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला और काफी अंशों तक वह भारतीयता के रंग में रंग चुका था। उसका उतराधिकारी वेम कदफिस अथवा कदफिस द्वितीय हुआ। कदफिस द्वितीय ने अपने पिता से प्राप्त हुए राज्य का विस्तार किया भारत मे उसने सम्पूर्ण पंजाब, और संभवतया पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मथुरा ओर कुछ विद्वानों के अनुसार बनारस तक के क्षेत्र को जीत लिया था। डॉ. आर.एस. त्रिपाठी के अनुसार उसके सिक्कों के सुविस्तृत प्रचलन और महाराजा राजाधिराज जनाधिय ऐसे उसके समुन्नत विरुदों से प्रमाणित होता है कि उसका अधिकार सिन्धु नदी के पूर्व पंजाब और सम्भवतः संयुक्त प्रान्त के ऊपर भी था। अपने भारतीय प्रान्तों पर वह प्रतिनिधि शासक द्वारा शासन करता था। तांबे के वे सिक्के जो साधारणतः ''नाम हरित राजा'' के बताये जाते हैं और जो उत्तर भारत के अनेक भागों में आम तौर पर पाये जाते हैं। इसी शासक के चलाये कहे जाते है'' वस्तुतः वह प्रथम कुषाण सम्राट था जिसके साम्राज्य की सीमाऐं चीन ओर रोम के साम्राज्यो से मिलती थी। उसके सिक्कों पर शिव, नन्दी, त्रिशुल आदि की आकृतियां मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह हिन्दू शैव मत सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसकी अनेक स्वर्ण मुद्राऐं प्राप्त होती है, जो उसने रोम से प्राप्त होने वालं सोने से बनवायी थी। इस वंश का तीसरा महान शासक कनिष्ठ हुआ, जिसको प्राचीन भारत के महान सम्राटों में गौरवशाली स्थान प्राप्त है।

## 13.1 उद्देश्य

यहाँ हम कुषाण वंश के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

## 13.2 सम्राट कनिष्क

सम्राट कनिष्ठ एक महान भारतीय सम्राट था। वह कुषाण वंश का सबसे प्रतापी ओर प्रभावशाली सम्राट था। कनिष्ठ के राज्यारोहण तक कुषाण भारतीय समाज और संस्कृति के अंग बन चुके थे। कदफिस द्वितीय के समय कनिष्क, कुषाणों के पूर्वी भारतीय साम्राज्य का प्रान्तपति अथवा क्षत्रप था। उत्तर प्रदेश से प्राप्त सिक्कों ये यह सिद्ध होता है कि कनिष्क कुषाण साम्राज्य के पूर्वी भाग का क्षेत्र था। कदफिस द्वितीय की मृत्यु के बाद विभिन्न क्षत्रपों में संघर्ष हुआ। और उसमें कनिष्क विजयी रहा। इस प्रकार आरम्भ से ही कनिष्क का सम्बन्ध भारत से रहा और उसने अपने साम्राज्य का विस्तार भी उत्तर प्रदेश से प्रारम्भ किया। इसलिए उसे एक भारतीय सम्राट मानने में हमें कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। कनिष्क ने भारत में एक बार पुनः साम्राज्य का निर्माण किया था।

### 13.2.1 कनिष्क की तिथि

कनिष्ठ की तिथि निर्धारण की समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास की जटिल समस्याओं में से एक है। कनिष्क की तिथि के बारे में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है और आज भी विद्वान किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नही पहूंच पाये है। डॉ. फ्लीट का मत है कि कनिष्क के दोनो कदफिसों (कुजुल कदफिस और वेम कदफिस) के पहले शासन किया था उसने जो नये संवत का प्रचलन किया वह कालान्तर में विक्रम सन्वत नाम से विख्यात हुआ। कनिंघम, डाउसन तथा फ्रांके ने इस मत का समर्थन किया था। किन्तु मार्शल ने बड़ी योग्यता से ठोस तर्को के आधार पर इस मत का खण्डन किया है। अतः मार्शल की खोजों के बाद फ्लीट के मत को स्वीकार नही किया जा सकता। मार्शल तथा स्मिथ के अनुसार कनिष्क का शासन लगभग 125 ई.पू. अथवा 144 ई. सन् के प्रारम्भ में हुआ और ईसा के द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाप्त हुआ था। किन्तु डॉ. रायचौधरी ने इस मत का खण्डन किया है। फरगूसन, टामस, बनर्जी, रैप्सन आदि अनेक विद्वानों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के अनुसार कनिष्क ने 78 ई. वाले उस सम्वत् की स्थापना की थी जिसका नाम बाद में शक सम्वत् पड़ा।अधिकांश आध्ुनिक विद्वान कनिष्क संवत का समीकरण शक काल के साथ करते है। डॉ. डी.सी. सरकार का कथन है कि यदि कनिष्क संवत का समीकरण शक काल के साथ करते है। डॉ.डी.सी. सरकार का कथन है कि यदि कनिष्क संवत का समीकरण शक काल के साथ स्वीकार कर लिया जावें तो कनिष्क ने 78 ई. सन से लेकर 101 या 102 ई. तक शासन किया। डॉ. सरकार का मत है कि कनिष्क कदफिस द्वितीय के बाद, किन्तु बहुत बाद नही हुआ था। चूंकि कदफिस द्वितीय का शासनकाल, जिसने अपने पिता के बाद लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य में सिंहासन प्राप्त किया था, स्थूल रूप से 65–75 ई. के मध्य निशचित किया जाये तो कनिष्क की तिथि को प्रथम शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के बाद नही रखा जा सकता। प्रोफेसर एन.एन. घोष ने इसी मत को स्वीकार करते हुए कनिष्क की तिथि 78 ई. निध्ाारित की है। इसी मत का समर्थन करते हुए डॉ. आर.एस त्रिपाठी ने लिखा है कि इस अनन्त वाद विवाद के बावजूद भी हमें कनिष्क द्वारा 78 ईस्वी के शक संवत का संचालन सही जान पड़ता है। इसमें संदेह नही है कि उसने एक संवत चलाया था, क्योंकि उसकी गणना पद्वति उसके उतराधिकारियों द्वारा भी प्रयुक्त हुई और भारत मे प्रचलित हम किसी अन्य संवत को नही जानते। जिसका आरम्भ उस दूसरी शती ईस्वी के प्रथम चरण में हुआ था जो तिथि कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में दी जाती है। इसके अतिरिक्त यदि प्रथम शती ईस्वी जो तृतीय चरण के मध्य के लगभग कुजुल कडफाईसिस (कदफिस) मरा तब कनिष्क उस तिथि से बहुत दूर नही हो सकता। क्योंकि अस्सी वर्ष तक जीवित रहने के कारण विम कडफाईसिस (कदफिस) का शासन अत्पकालिक ही रहा होगा। इस प्रकार अधिकांश आधुनिक विद्वानों का मत है कि कनिष्क का राज्यारोहण लगभग 78 ई. में हुआ था। इस तिथि के सम्बन्ध में जो विवाद जनक प्रश्न उठाये गये है उनका निराकरण भी डॉ. सरकार ने किया है।

### 13.2.2 कनिष्क दिग्विजय

कनिष्क अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने पिता ओर पितामह द्वारा स्थापित साम्राजय को और अधिक विस्तृत करना चाहता था। अतः उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया, उतर दक्षिण और पूर्व तीनों दिशाओं में उसने अनेक यद्ध जीते जिससे उसके साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार हुआ। सर्वप्रथम उसने कश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने राज्य का अंग बनाया। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण का कथन है कि कनिष्क के द्वारा कश्मीर में कई नगरों की स्थापना की गई। महत्वाकांक्षी कनिष्ठ ने पश्चिम में पार्थियन नरेश को परास्त किया। कनिष्क के पूर्व कुजुल कदफिस ने भी पार्थियन राजा को पराजित किया था। सम्भवतः इसलिए अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पल्हव राजा ने कनिष्क के शासन काल के आरम्भ में ही, जबकि कनिष्क अपने राज्य का ठीक तरह से संगठन भी न कर पाया था, आक्रमण कर दिया, किन्तु पल्हवों को कनिष्क के हाथों पराजित होना पड़ा ओर इस बार फिर उनको विजेता के सामने अपमानित होना पड़ा। चीन, तिब्बत ओर पंजाब के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार कनिष्क ने साकेत ओर पाटलिपुत्र पर भी अधिकार किया था। कहा जाता है कि साकेत पर अपनी विजय पताका फहराने के बाद उसने पाटलिपुत्र का घेरा डाला और वहां के शासक को सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि के फलस्वरूप प्रसिद्व भिक्षु और दार्शनिक कवि अश्वघोष से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ अश्वघोष को वह अपने साथ राजधानी ले गया ओर वहां उसका राजकीय सम्मान किया गया। कनिष्क ने चीन के विरूद्व भी युद्व किया।इस युद्व में पहले तो कनिष्क को असफलता ही हाथ लगी, किन्तु बाद में उसने चीन के सम्राट को अपनी शर्ते मानने के लिए बाध्य कर दिया। इस युद्धका विवरण हमें बौद्ध अनुश्रुतियों में भी मिलता है। इस विवरण के अनुसार चीन देश का प्रसिद्ध सेनानायक पान चाऊ बड़ा वीर और सफल विजेता था। ईसा की पहली शताब्दी के अंतिम भाग में उसका काशगर, यारकन्द और खोतान पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया, पाड़ौस के राज्यों में उसका आतंक और सिक्का जम गया। कनिष्क जैसा महत्वाकांक्षी शासक पान चाऊ की बढ़ती हुई शक्ति को सहन करने वाला नही था। इसके अतिरिक्त कनिष्क को उस्की ओर से अपने राज्य के लिए भी भय था। अतः उसने पान चाऊ से युद्व करने का निश्चय किया। उस समय चीन की साम्राज्य सत्ता इतनी दृढ़ और प्रभावशाली थी कि उसे चुनौती देना कोई साधारण कार्य नही था। जब पान चाऊ केस्पीयन सागर के तट पर रोमन साम्राज्य की सीमा पर खड़ा था, कनिष्क ने चीनी सम्राट की भांति देवपुत्र की उपाधि धारण की ओर अपना दूत भेजकर चीनी राजकुमारी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। पान चाऊ को यह प्रस्ताव न केवल अपने सम्राट के लिए बल्कि अपने देश के लिए अशोभनीय एंव

अपमानजनक प्रतीत हुआ। अतः कनिष्क के लिए युद्व अनिवार्य हो गया। उसने अपने सेनानायक की अधीनता में 70 हजार घुड़सवारों की एक सुद्ढ सेना पान चाऊ के विरूद्ध भेज दी। मार्ग में पर्वतीय प्रदेश की कठिनाईयों के कारण कनिष्क की सेना को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि थकी मांदी एवं क्षतिग्रस्त सेना जब चीनी सेना से युद्ध करने लगी तो वह बुरी तरह पराजित हुई। कनिष्क को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा ओर उसने सन्धि के अनुसार चीनी सम्राट को वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

कनिष्क को यह सन्धि अधिक कष्टकर प्रतीत हुई। किन्तु वह इस पराजय से निराश होने वाला नही था। कनिष्क उपयुक्त अवसर की खोज में बैठा रहा। इधर पान चाऊ की मृत्यु हो जाने पर पास पाड़ौस के राज्यों पर जहां चीन की धाक जमी हुई थी वह कम होने लगी। पान चाऊ का उतराधिकारी एवं पुत्र पान यांग अत्यन्त ही अयोग्य एवं अनुभवहीन था। कनिष्क अब अपनी पराजय का प्रतिशोध ले सकता था। अत कनिष्क एक विशाल सेना लेकर कश्मीर के मार्ग द्वारा युद्ध के लिए पहुंच गया। इस युद्व में कनिष्क पूर्ण रूप से सफल हुआ। और चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से मुक्त हो गया। इतना ही नही उसने यारकन्द, काश्गर और खोतान के प्रदेशों को भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर दिया। कहा जाता है कि जमानत क रूप में उसे दो चीनी राजकुमार भी मिले थे। किन्तु डॉ. आर.एस. त्रिपाठी इस तथ्य को सही नहीं मानतें।

### 13.2.3 कनिष्क का साम्राज्य

कनिष्क के साम्रज्य में भारत के बाहर अफगानिस्तान, बेक्ट्रिया, काश्गर, खोतान और यारकन्द, निश्चित रूप से उसके राज्य के अन्तर्गत थे। अभिलेखीय साक्ष्यों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कनिष्क का अधिकार आधुनिक उत्तरप्रदेश, पंजाब उतर पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सिन्ध के उत्तर में भागलपुर राज्य पर था। कनिष्क के अनेक लेख मथुरा में प्राप्त होने से उसका मथुरा पर अधिकार स्वतः सिद्ध होता है। चीनी अनुश्रुतियों के आधारपर विद्वानों का अनुमान है कि वाराणसी तक तो अवश्य ही उसका अधिकार था। कनिष्क के सिक्के, श्रावस्ती सारनाथ, तथा कौशाम्बी से भी प्राप्त हुए है ओर पूर्व में गाजीपुर तथा गोरखपुर तक प्राप्त हुए है, इस आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि वाराणसी तक तो अवश्य ही उसका अधिकार था। यद्यपि बंगाल ओर बिहार में भी कनिष्क के सिक्के प्राप्त हुए है तथा तथापि इन प्रान्तों को उसके साम्राज्य में सम्मिलित होना संदिग्ध है। भारतीय सीमा के अन्तर्गत अन्य प्रदेशों पर भी उसके राजनीतिक प्रभाव के स्पष्ट संकेत मिलते है। इस बात के तो निश्चित प्रमाण है कि सिन्धु, राजपूताना, मालवा और काठियावाड़ कनिष्क के राजनीतिक प्रभुत्व में तो नही, किन्तु उसके राजनीतिक प्रभाव में अवश्य थे। संभवतः महाराष्ट्र के उतरी भाग के शक क्षत्रपों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। ह्वेनसांग के अनुसार गंधार प्रदेश भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। कल्हण की राजतरंगिणी में कश्मीर में कनिष्क के शासन का उल्लेख मिलता है और बौद्व अनुश्रुतियों से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार कनिष्क एक बहुत ही बड़े भू भाग का स्वामी था।

### 13.2.4 शासन प्रणाली

कनिष्क की शासन प्रणाली के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, किन्तु कुछ बातें अवश्य मालूम होती है। उसके सारनाथ वाले लेख से उसकी शासन व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि कनिष्क एक योग्य शासन प्रबन्धक था वह अपने विशाल साम्राज्य का शासन प्रबन्ध क्षत्रप शासन व्यवस्था द्वारा करता था। सारनाथ के लेख से विदित होता है कि उसका खरपल्लान नामक महाक्षत्रप संभवतः मथुरा में ओर क्षत्रप नस्फर बनारस के समीप पूर्वी प्रान्तों के शासन के एि नियुक्त था। साम्राज्य के उत्तरी भागों में हम सेनानायक लल, वैश्पशि और लियक नामक क्षत्रपों के नाम सुनते है। प्रसिद्व विद्वान स्मिथ का अनुमान है कि महाराष्ट्र का क्षहरातवंशी नहपान और उज्जैन का क्षत्रप चष्टन संभवतः कनिष्क के ही सामन्त थे। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी में धनदेव तथा अयोध्या मे सत्यमित्र नामक क्षत्रपों का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्राज्य के अन्य प्रान्त भी इसी प्रकार शासित थे। कनिष्क के साम्राज्य की राजधानी पुरूषपुर (पेशावर) थी। पेशावर अफगानिस्तान से सिन्धु घाटी की जाने वाली प्रमुख राजमार्ग पर बसा हुआ था। अतः साम्राज्य के मध्य में स्थित यह नगर अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उसने अपनी राजधानी को अनेक भव्य भवनों, सार्वजनिक ईमारतों और बौद्ध मठों व बिहारों से अलंकृत किया था। काश्मीर की कनिष्कपुरी नगरी को भी सम्भवतः कनिष्ठ ने ही बसाया था। किन्तु डॉ. राय चौधरी का मत है कि इस नगर की स्थापना आरा अभिलेख वाले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कनिष्क ने की थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग जो पांच सौ वर्ष बाद हर्ष के काल में भारत आया था, इन भव्य ईमारतों को देखकर दंग रह गया था।

### 13.2.5 कनिष्क का धर्म

डॉ. राय चौधरी का कथन है कनिष्क की कीर्ती उसकी विजयों की अपेक्षा शाक्यमुनी के धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने पर अविलम्बित है। उसकी मुद्राओं तथा पेशावर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सम्भवतः अपने शासनकाल के आरम्भ में ही बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसलिए कनिष्क को द्वितीय अशोक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार प्राग्बौद्ध जीवन से कनिष्क भी अशोक की भांति रक्त पिपासु और क्रूर था। किन्तु बाद में उसे अपने निकृष्ट कार्यो पर क्षोभ हुआ और उसने प्रायश्चित के रूप में बौद्ध धर्म की संरक्षण प्रदान किया। इस सम्बन्ध में कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष से भी प्रभावित हुआ था। उसने अपनी राजधानी पुरूषपुर में एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक विद्यमान था, जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वीरदेव ने इसकी यात्रा की थी। वीरदेव, मगध नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख किया है तथा प्रख्यात मुस्लिम यात्री अलबरूनी भी कनिष्क के इस चैत्य से परिचित था।

यद्यपि कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकुल उसने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का भी परिचय दिया था। उसके विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न धर्मो के अनुयायी निवास करते थे। उन सभी के साथ कनिष्क ने धार्मिक निष्पक्षता और सहिष्णुता का व्यवहार किया था। उसके सिक्कों से उसकी धार्मिक सहिष्णुता का हमें परिचय प्राप्त होता है। कनिष्क के चलाये हुए सिक्के दो प्रकार के थे। एक प्रकार के सिक्कों की लिपि यूनानी है और दूसरे प्रकार के सिक्कों की लिपि ईरानी है। इन सिक्को पर यूनानी, ईरानी और हिन्दु देवताओं के चित्र मिलते है। इन देवताओ के नाम हेराक्लीज, सेरापिज, सूर्य, चन्द्र, शिव, अग्नि आदि है। उसकी राजसभा को सभी धर्मो के अनुयायी गुणवान व्यक्ति अलंकृत करते थे।

### 13.2.6 बौद्ध संगीति

कनिष्क केवल बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसके मूल तत्व और सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा भी की। किन्तु इसमें उसे अनेक कठिनाईयों का अनुभव हुआ, क्योंकि इस समय तक बौद्ध धर्म के स्वरूप में काफी अस्पष्टता आ गयी थी। बौद्ध धर्म के मूल तत्व और सिद्वान्तो के प्रश्न पर बोद्वाचार्यो में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। विभिन्न दार्शनिक सिद्वान्तों की सूक्ष्मता, पेचीदगी ओर जटिलता के भार से बौद्व धर्म की सरल शिक्षाऐं दब गई थी। प्रचलित धार्मिक गुत्थियों को सुलझाने तथा विवादास्पद विषयों का हल निकालने हेतु कनिष्क के राजत्व काल में जो बौद्व संगीति बुलाई गई थी उसका उद्देश्य विवादास्पद सिद्धान्तों का हल निकालना है। अतः कनिष्क ने बौद्ध भिक्षुक पार्श्व की मंत्रणा से चतुर्थ बौद्ध संगीती का आयोजन कश्मीर के कुण्डलयन विहार में किया। वसुमित्र को इस सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया तथा अश्वघोष ने उपाध्यक्ष का कार्य भार संभाला था। इस सभा में लगभग 500 बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया। इस सभा में धर्म ग्रन्थों के गूढ और जटिल स्थलों की परस्पर तर्क वितर्क द्वारा पूर्णरूपेण विवेचना की गई। इस सभा में हुए वाद विवादों के आधार पर एक भाष्य संकलित किया गया। ये भाष्य विभाषाशास्त्र कहलाये। त्रिपिटक पर एक प्रमाणित भाष्य की रचना की गई जिन्हे कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवाया। उनको पत्थर के एक संदूक में रखकर उसके उपर स्तूप का निर्माण करा दिया था। महायान सम्प्रदाय की प्रधानता होने के कारण महायान को राजधर्म घोषित किया गया। और कनिष्क उसका संरक्षक बना। प्रोफेसर एन.एन. घोष ने लिखा है कि ''इस संगीती का मुख्य दो कार्य किये। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्व दर्शन की कतिपय नवीन विचार सारणियों के विकास के प्रकाश में धर्म ग्रन्थों को नये ढंग से लिपिबद्व किया। नवीन लिपिकरण में संसकृत भाषा का प्रयोग किया गया। संगीति का दूसरा कार्य बौद्व धर्म की महायान शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क उसका संरक्षक बना। इस संगीति का अधिवेशन छह मास तक चलता रहा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 13.2.7 महायान सम्प्रदाय का विकास

मौर्य और मोर्योतर काल में जिस तीव्र गति से बौद्ध धर्म को प्रचार और प्रसार हुआ, उससे प्रभावित होकर अश्वघोष जैसे विद्वान ब्राह्मण ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। ये बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे। फलस्वरूप बौद्ध धर्म में भक्ति भावना का प्रादुर्भाव हुआ तो बोधिसत्वों की आराधना आरम्भ हुई। इसके साथ ही विदेशी तत्वों का भी उसमें समावेश हो गया। इन दार्शनिक परिवर्तनों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म में विभाजन हो गया ओर नवीन विचाराधारा को महायान धर्म की संज्ञा दी गई। कुछ विद्वानों को मान्यता है कि महायान धर्म का अभ्युदय कनिष्क के काल में चतुर्थ बौद्ध संगीति के परिणामस्वरूप हुआ था जैसे कि रॅालिन्सन महोदय ने लिखा है कि यह बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीन युग आरम्भ होने को सूचित करती है। यह था महायान का उदय जो हीनयान के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से उतना ही भिन्न है जितना की मध्यकालीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ई. के ईसाईयों के सरल सिद्वान्तों से भिन्न है। स्मिथ महोदय ने भी रालिन्सन के विचार से मिलता जुलता मत व्यक्त किया है। स्मिथ का कहना है कि जबसे बौद्ध धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया, तभी से उसके प्रचीन रूप में परिवर्तन होने लगा ओर उसमें भिन्न भिन्न धर्मो के तत्व आ मिले। परन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों को यह मत मान्य नही है कि वास्तव में हमें रालिन्सन का यह मत अधिक उचीत प्रतीत नही होता है, अश्वघोष सरीखे विद्वान ब्राह्मणों के प्रयत्नों क प्रतिफल था जो बौद्ध धर्म को हिन्दु धर्म के निकट लाना चाहते थे। महायान सम्प्रदाय के ऊपर विदेशी प्रभावों की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव स्पस्ट परिलक्षित होता था। अतः महायान का अभ्युदय कनिष्क में पहले हो चुका था जैसा कि डॉ. आर.एस त्रिपाठी का मत है कि इसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म में भक्ति के समावेश के साथ माना जाना चाहिए। प्रो. एन.एन. घोष ने भी लिखा है कि महायान के बीज हीनयान सम्प्रदाय में निहित थे। प्रो. नलिनाक्ष दत ने लिखा है कि पाली निकायों में ही ऐसे स्थल है जो महायान के सिद्धान्तों की शिक्षा देते है इसलिए डॉ. आर.एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि ''यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नही किया तथापि इस बात को मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था'' इन विद्वानों के मतों का सूक्ष्मता से परीक्षण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि महायान धर्म कनिष्क के पूर्व ही एक सजीव शक्ति के रूप में विद्यमान था, तथापि महायान धर्म का एक स्वीकृत रूप कनिष्क के समय में ही बना था।

हीनगान धर्म शुष्क और सिद्वान्तपरक था। उसका मेक्ष पर निशेष आग्रह है कि मोक्ष के लिए नह व्यक्ति, की, इस कार्य हेतु निरन्तर प्रयत्नशीलता को ही सबसे बड़ा साधन बतलाया है। इसकी दृढ आचारवादिता साधारण जनता की मनोवृति के अनुकुल नही थी, क्योंकि ज्ञान ओर वैराग्य उसकी शक्ति के बाहर थी। हीनयान मुख्य रूप से ज्ञान, बुद्धिजीवी व्यक्तियों तथा सन्यासियों के लिए था। इसकी निरीश्वरवादिता और स्वावलम्बन पर प्रबल आग्रह ऐसे तत्व थे जो जन साधारण के लिए नितान्त दुर्बोध थे। अतः महायान धर्म में उन तत्वों का समावेश किया गया जिसके द्वारा जनसाधारण की आध्यात्मिक पिपास को तृप्त किया जा सकें। इसके लिए महायान मत में भक्त को समुचित स्थान देकर बुद्ध को देवता मानकर उसकी पुजा प्रारम्भ की गई। इसमें अवतारवाद के सिद्धान्त को भी स्थान दिया गया। साधारण जनता ऐसे ही इष्टदेव की खोज करना चाहती थी जिसकी उपासना बिना संसार का परित्याग किये की जा सके महायान के उदय के कारण बौद्ध धर्म बड़ा ही लोकप्रिय हो गया। डॉ. त्रिपाठी ने ही लिखा है कि बौद्ध धर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद तक इसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसे हीनयान के आदर्शवाद के ऊपर उदार जन धर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्त को प्रज्जवलित करने की सामर्थ्य न थी। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में बाहरी जातियों का पुट तथा संस्कृतियो के अंत संघर्ष ने भी बौद्ध धर्म के इस नये सम्प्रदाय के समुदाय में योग दिया होगा। भारतीय सीमा के बाहर बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय महायान को ही है। वह भारतीय सीमाओं को लांघकर तिब्बत, चीन, बर्मा ओर जापान तक पहुंच गया। महायान धर्म के विस्तार में कनिष्क की सेवाऐं अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

### 13.2.8 कनिष्क का निधन

कहा जाता है कि कनिष्क का निधन दुखद रूप में हुआ उसके सरदार ओर सेनापति उसकी युद्व नीति से तंग आ चुके थे। अतः उन्होने सम्राट के विरूद्ध षड़यन्त्र करके उसका वध कर दिया। कनिष्क ने कम से कम 23 वर्ष तक राज्य किया। किन्तु कुछ विद्वान आरा अभिलेख के कनिष्क से उसका समीकरण करके उसका शासन काल 41 वर्ष मानते है किन्तु अधिकांश विद्वान इस मत को स्वीकार नही करतें। अतः यही मत मान्य प्रतीत होते है कि उसने 23 वर्ष राज्य किया। तदनुसार उसकी मृत्यु (78+23=101 ई.)101 ई. के लगभग हुई थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

### 13.2.9 कनिष्क का मूल्यांकन

निः संदेह कनिष्ठ कुषाण गांव वंश का सर्वश्रेष्ठ एवं महान प्रतापी सम्राट था। इसलिए प्राचीन भारत के इतिहास में उसे अत्यन्त ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। जहां एक और उनकी सैन्य सफलताऐं हमें समुद्रगुप्त का स्मरण कराती है तो दूसरी तरफ उसकी बौद्ध धर्म के प्रति की गई अमूल्य सेवाऐं हमें महान अशोक की याद दिलाती है।समुद्रगुप्त की भांति कनिष्क भी एक महान विजेता था उसने अपने बाहुबल से भारत में एक विशाल भू भाग पर अपनी विजय पताका फहराई थी। उसने अपने पूर्वजों द्वारा विरासत में जो राज्य प्राप्त किया उसकी उसने न केवल रक्षा ही की, बल्कि उसकी सीमा का विस्तार भी किया। यद्यपि चीनी सेनानायक पान चाऊ के साथ युद्ध करने जाती हुई उसकी सेना पर्वतीय मार्ग की कठिनाईयों के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी ओर उसी कारण उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा, तथापि उसने कुछ समय बाद अपने अपमान का प्रतिशोध लेकर अपनी महत्वाकांक्षा को संतुष्ट किया। उसने भारत के बाहर भी यारकन्द, काशगार तथा खोतान प्रान्त हस्तगत किये तथा पार्थियान राजाओं को नत मस्तक किया। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद भी उसकी राज्य विस्तार नीति में शिथिलता नही आई। वह न केवल सफल सेनानायक था और कुशल विजेता ही था। बल्कि उच्चकोटि का शासन प्रबन्धक भी था। मौर्यो के पतन के बाद कनिष्क के सर्वप्रथम उत्तरी भारत में शांति एवं व्यवस्था स्थापित की थी। कनिष्क स्थानीय परिस्थितियों एवं स्थानीय आवयकताओं का अत्यधिक ध्यान रखता था इसलिए उसके शासनकाल में जनता सर्वत्र सुखी एवं समृद्ध थी। उसकी राजधानी पुष्पपुर की महत्वपूर्ण स्थिति के कारण सुदुर देशों के निष्कंटक व्यापार होता था।

बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक की भांति कनिष्क का भी अत्यत गौरवपूर्ण स्थान जो। जो सेवाऐं अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु की थी वैसी सेवाऐं कनिष्क ने महायान (नवीन बौद्ध धर्म) के प्रचार हेतु की।महायान को उसने राज धर्म घोषित कर उसे राज्याश्रय प्रदान किया। उसी के शासनकाल में चतुर्थ बौद्ध संगीति हुई। जिसने महायान सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म का एक स्वीकृत रूप प्रदान किया। बोद्ध धर्म को ग्रहण करके भी उसने अशोक की भांति अपनी समस्त प्रजा के साथ सहिष्णुता प्रदर्शित की। एक बात में कनिष्क, अशोक से भी अधिक भाग्यवान था। हमें इस बात का कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं है कि अशोक की राज्यसभा में गुणवान व्यक्तियों का जमघट लगता था। किन्तु कनिष्क की राज्यसभा की गुणवान व्यक्ति अपनी उपस्थिति द्वारा अलंकृत करते थे न केवल बौद्ध दार्शनिकों, अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र ही उसकी कृपा के पात्र थे, वरन् एक अन्य विद्वान संगरक्ष भी सम्भवतः उसका पुरोहित था। नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक जिसने शून्यवाद के सिद्वान्त का प्रतिपादन किया था जो महायान सम्प्रदाय का प्रबल समर्थक था तथा चरक जिसका आयुर्वेद विषयक चरक संहिता नामक ग्रन्थ अब भी चिकित्सकों के लिए श्रद्धा और विस्मय का कारण है, कनिष्क की राज्यभा सुशोभित करते थे। इस प्रकार विद्वानों को आश्रम देने की दृष्टि से भारत के सम्राटों में कनिष्क का निश्चय ही महत्वपूर्ण स्थान है।

कनिष्क साहित्य का भी संरक्षक भी था, जैसा कि डॉ. राय चौधरी ने लिखा है कि यह युग महती साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था। अश्वघोष कुषाण युग की साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत था। तथागत के जीवन पर लिखा हुए उसका महाकाव्य 'बुद्धचरित' संस्कृत काव्य की उज्जवल एवं देदीप्यमान मणि है। अश्वघोष यद्यपि दार्शनिक एवं नैतिकता का पुजारी था, किन्तु सबसे पहले वह एक कवि था। इसलिए जीवन के उल्लासपूर्ण एवं श्रृंगारमय पक्ष की ओर भी वह उदासीन नहीं था। जिस समय युवक सिद्धार्थ को मोहित करने के लिए सुन्दर कन्याऐं आती है, अश्वघोष उनके रूप वर्णन में बिना वैरागी संकोच के अपनी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति को ही उडेल बैठता है। अश्वघोष की दूसरी कवित कृति सौन्दरानन्द है अश्वघोष ने काव्यों में अनेक मर्मस्थल उपलब्ध होते है। अश्वघोष एक नाटककार भी था। अनुश्रुति के अनुसार उसने तीन नाटकों का प्रणयन किया था। 'सारिपुत्र प्रकरण' निश्चित रूप से उसी की कृति है। प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने दर्शन के ग्रन्थों की रचना की। 'मध्यमकारिका' ओर 'सुहल्लेखा' उसके दो विख्यात ग्रंथ है। नागार्जुन का जन्म एक ब्राहमण परिवार में हुआ था, अतः वह ब्राहमण शास्त्रों में पारंगत था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने महायान धर्म की व्याख्या इस रूप में की कि वह धर्मवृति जीवियों और विद्वानों को भी रूचिकर लगा। महायान धर्म पर लिखने वाला नागार्जुन ही सबसे प्रथम विद्वान था। नागार्जुन क अतिरिक्त वसुमित्र भी इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक था। चरक को कनिष्क का राजवैद्य बताया जाता है। जिसने चिकित्सा शास्त्र पर अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ चरक संहिता लिखा था। इस ग्रन्थ का महत्व इस बात में है कि आज से बहुत पहले इस ग्रन्थ का अरबी व फारसी भाषा में अनुवाद किया गया। चिकित्सा विज्ञान में



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चरक के सिद्धान्त आज भी बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अशोक की भांति कनिष्क भी कालानुरागी तथा भवन निर्माता था जिस प्रकार पाटलिपुत्र में अशोक द्वारा बनवाये हुए राजप्रसाद की प्रशंसा आगे चलकर फाह्यान नामक के चीनी यात्री ने की थी, उसी प्रकार कनिष्क ने बौद्व चैत्य का प्रशंसा मिश्रित उल्लेख अलबरूनी ने किया था। अशोक ने नेपाल में ललित पाटन तथा कश्मीर में श्रीनगर की स्थापना की थी। तथा कनिष्क को भी नगरों की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। कनिष्क काल तक महायान धर्म में भक्ति का समावेश हो चुका था। जिससे कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न हो गई। कुषाण युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नही किया जाता था।

बुद्व की उपस्थिति के संकेतों तथा प्रतीकों द्वारा अंकित किया जाता था। यदि बुद्व के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना होता तो एक आरोहि रहित अश्व दिखा दिया जाता, जिसका अभिप्राय यह होता था कि इस अश्व पर आरूढ़ होकर तथागत ने अरण्यगमन किया था किन्तु ज्यों ज्यों बौद्व उपासकों में भक्ति भावना का संचार होता गया वे बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। इस प्रकार कुषाण काल में बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। ये अधिकांश गान्धार प्रदेश में उपलब्ध हुई जिसका केन्द्र पुरूषपुर थी। अतः तत्कालीन कला को गान्धार शैली की संज्ञा दी गई।

## 13.3 गान्धार कला

गान्धार कला से तात्पर्य एक विशिष्ट शैली से है जिसका विकास ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी में गान्धार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। गान्धार कला को इण्डो ग्रीक (हिन्दु युनानी) कला के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय है, परन्तु शैली की शिल्प विधि द्वारा जो बुद्व धर्म उसकी प्रेरणा था अतः इसे ग्रीकों बुद्धिष्ट भी कहा गया। इस शैली की शिल्प विधि द्वारा जो बुद्व की मूर्तिया निर्मित की गई, वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी साम्यता रखती है उनकी मुद्राऐं तो बौद्व है, जैसे कमलासन मुद्रा में बैठे हुए है किन्तु मूर्तियों के मुखमण्डल और वस्त्र निश्चित रूप से यूनानी है जो स्पष्टतया यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव है। बोधिसत्वों की मूर्तियों में बोधिसत्व यूनानी राजाओं की तरह लगते है। उनके वस्त्र भड़कीले है तथा वे रत्नाभूषणें से मण्डित है। अत उन्हे देखने से वे किसी भी प्रकार आध्यात्मिक पुरूष प्रतीत नही होते वरन वे किसी देश के नृपति लगते है। भगवान बुद्ध को ही महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उनकी मूर्तियों मे युरोपीयन वेष भूषा तथा रत्नाभूषणों से युक्त दिखाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन मूर्तियों की मुद्राऐं भारतीय होने पर भी उनकी शिल्पाविधि युनानी अथवा रोमन है। डॉ. ए.एल. बाशम ने भी लिखा है कि गान्धार शिलियों ने युनानी रोमन संसार के देवताओं को अपना आदर्श माना। कभी कभी उनकी प्रेरणा पूर्णतया पश्चिमी प्रतीत होती है।

गान्धारकला के नमूने बिमरन, लैरियन, हस्त नगर शाहजी की ढेरी, तक्षशिला, हड्ड आदि स्थानों पर प्राप्त हुए है, इनमें से अधिकांश पेशावर ओर लाहौर के अजायबघरों में सुरक्षित है। इन प्रतिमाओं के निर्माण में चुना, मसाला तथा सफेद रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया था। आरम्भ से लगभग 150 वर्षो तक कला प्रगति पर थी, दूसरी शताब्दी में इसमें गिरावट आ गई। किन्तु तीरारी शताब्दी के प्रारम्भ में इराकी फिर प्रगति हुई। अंतिग काल गें इरागें गिरावट आ गई, किन्तु तीरारी शताब्दी के प्रारम्भ में इसकी फिर प्रगति हुई, अंतिम काल में इस पर मथुरा शैली का भी प्रभाव पड़ा। इस कला शैली की मुख्य विशेषताऐं – मानव शरीर की सुन्दर रचना तथा मांसपेशियों की सुक्ष्मता, पारदर्शक कपड़े और उनकी सलवटें तथा अनुपम नक्काशी है। अत्यधिक सुन्दर मूर्तियों के निर्माण के कारण एक समय ऐसा था जबकि गान्धार मूर्ति कला को भारतीय कलाओं में श्रेष्ठतम और अन्य सभी मूर्ति कलाओं की जननी माना जाता था किन्तु अब इसे स्वीकार नही किया जाता।

पाश्चात्य कला समीक्षकों का विचार है कि भारत की सर्वश्रेष्ठ कला का निर्देशन गान्धार कला के द्वारा ही होता है। किन्तु इस कथन में लेशमात्र भी सत्यता नही है। सत्य तो यह है कि कला के क्षेत्र में भारत पर पश्चिम का प्रभाव कभी गंभीर न पड़ सका। क्योंकि भारतवासियों में विदेशी प्रभावों को ग्रहण करने की तत्परता तथा उन्हे अपने देश की मौलिक परम्पराओं में पचा लेने की अद्भुत क्षमता थी। भारतीय कलाकारों ने गान्धार कला के माध्यम द्वारा मूर्ति निर्माण की जो शिक्षा प्राप्त की उसका एक दूसरे केन्द्र मथुरा में, मौलिक ओर स्वतन्त्र रूप से विकास किया। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि गान्धार कला अत्यन्त उच्चकोटि की कला है। प्रो. कुमार स्वामी का तो मानना है कि गान्धार कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभाष देती है तथा उसकी निर्जीव मुद्राऐं बोद्व विचारधारा की आध्यामिकता शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान नही कर पाती। वस्तुतः गान्धार की मूर्तिया में निर्जीवता दिखाई देती है तथा उनमे कलाकार की सच्चाई का अभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ. निहार रंजन रे के शब्दों में ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 13.4 मथुरा कला शैली

कनिष्क के काल में गान्धार के अतिरिक्त मथुरा भी कला का केन्द्र था। मथुरा मे जिस शैली का विकास हुआ उसे मथुरा शैली के नाम से पुकारा गया। ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रगति करती हुई इस शैली ने आने वाले समय में उतर भारत की मूर्तिकला की शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। गुप्तकाल की श्रेष्ठ मूर्ति कला को मथुरा शैली का ही विकसित रूप माना गया है। मथुरा शैली की मूर्तियां अपनी विशालता के लिए विख्यात है। गान्धार कला की तरह मथुरा की मूर्तियां पर मूंछे बिल्कुल नही है। बालों और मूंछों से रहित मूर्तियों के निर्माण की परम्परा विशुद्ध रूप से भारतीय है। मथुरा की कुषाकालीन मूर्तियों के दोहिने कन्धे पर वस्त्र नही रहता। दाहिना हाथ अधिकांशतः अभय मुद्रा में पाया जाता है। गान्धार कला में बुद्ध को बहुधा पद्मासन या कमलासन में दिखा गया है। किन्तु मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पर पाया गया है।मूर्तियों में प्रभामण्डल का प्रयोग दोनो तक्षण कलाओ में दृष्टिगत होता है, किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं के किनारों पर वृताकार चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते है। गान्धार और मथुरा शैलियों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दौनो शैलियों का उद्‌भव और विकास पृथक पृथक तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ तथा मथुरा कला स्वदेशी थी।

मथुरा की अजायबघर में सुरक्षित सम्राट कनिष्क की मूर्ति बनारस के अजायबघर में सुरक्षित हाथ में श्रृगारदान लिये एक दासी की मूर्ति ओर मथुरा तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्वों, यक्ष यक्षणियों तथा स्त्री पुरूषों की विभिन्न मूर्तियां इस कला शैली के सुन्दर नमूने है किन्तु इसमें अधिकांश नग्न अथवा अर्द्धनग्न स्त्रियों की मूर्तियों की संख्या अधिक है। दूसरी सदी के आरम्भ में इस कला का कुछ प्रभाव गान्धार कला का और सम्भवतया कुछ प्रभाव रोमन कला का भी पड़ा था। सम्राट कनिष्क की मूर्ति, आकार तथा शरीरिक अवयवों की दृष्टि से विशाल एवं ठोस है, किन्तु उसकी वेशभूशा रोमन है। इस कला के मुख्य नमूने इन्द्रियपरक और सौन्दर्य से व्याप्त स्त्रियों की मूर्तियां है स्त्रियों के गोल, सुडोल, और उन्नत वक्ष एवं भारी व उभरे हुए कुल्हे न केवल स्त्री प्रजनन शक्ति के प्रतीक है। वरन् इससे ज्ञात होता है कि इनका निर्माण करने वाले कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नही था। मथुरा शैली में आध्यात्मिक भावना को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार मथुरा शैली में भाव, भावना ओर शारीरिक सौन्दर्य सभी को प्रदर्शित किया गया ओर इसलिए यह कला शैली धार्मिक विचार और शारीरिक सुख दोनों की अभिव्यक्ति का साधन बन सकी।

पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि मथुरा, शैली पर न केवल गान्धार कला का प्रभाव है, बल्कि उसका उद्‌भव ही गान्धार कला की अनुकृति से हुआ है। किन्तु इस कथन को अन्य विद्वान स्वीकार नहीं करतें जैसा किरॉलिन्सन महोदय ने लिखा है – ''उसी समय समकालीन कला का एक विशुद्ध देशी सम्प्रदाय, जिसका भरहुत ओर सांची में उद्‌भव हुआ था, मथुरा, भीटा, बेसनगर तथा अन्य केन्द्रों में प्रचलित था, पहले यह प्रवृति के कारण बताया जाता था, परन्तु अब सामान्यता इस बात पर विद्वान सहमत हैं कि इसका उद्‌भव मथुरा के देशी कलाकारों के द्वारा खोजा जाना चाहिये न कि गान्धार के।''

गान्धार और मथुरा कला शैलियों के साथ उस समय कृष्णा ओर गोदावरी के मुहाने पर अमरावती तथा गुन्टूर जिलों में आमरावती कला शैली का भी विकास हुआ। अमरावती शैली भरहुत गया और सांची तथा बाद में गुप्त और पल्लव कला को जोड़ने वाली कड़ी है। इस शैली में धर्म और त्याग की भावना ही प्रमुख नहीं है बल्कि कलाकारों ने कला के लिए कला के आदर्श को अपनाया है। स्त्री – सौन्दर्य, भाव, मुद्रा आदि इस शैली में मथुरा – शैली से भी श्रेष्ठ है तथा इस शैली में वैराग्य और भक्ति को भी प्रदर्शित किया गया हैं। बुद्ध की प्रतिमा के समक्ष नतमस्तक उपासिकाओं का दृश्य अत्यन्त सुंदर है। अमरावती शैली की मुख्य विशेषता मूर्तियों के निर्माण में सफेद संगमरमर का प्रयोग था।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि कनिष्क एक महान निर्माता, कला का पोषक तथा साहित्य का संरक्षक था।

## 13.5 कनिष्क के उताराधिकारी

कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण वंश का गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उतराधिकारियों में से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। अतः वे कनिष्क द्वारा निर्मित विशाल साम्राज्य को अधिक समय तक जीवित नही रख सके। कनिष्क के बाद वासिष्क उसका उतराधिकारी हुआ। वासिष्क के विषय में इतिहास नितान्त मूक है और उसके सिक्के भी प्राप्त नहीं हुए है। वासिष्क के बाद हुविष्क कुषाण सम्राट बना, जिसके बारे में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। उसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। सम्भवतः यह हुविष्क वही हुविष्क है जिसके बारे में कल्हण ने लिखा है कि काश्मीर के हुष्कपुर नामक नगर का संस्थापक था। उसके सिक्कों तथा अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि वह एक शक्तिशाली सम्राट था और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उसने कनिष्क के साम्राज्य को पूर्ववत बनाये रखा। उनकी मुद्राओं पर हमें बुद्ध की आकृति नही मिलती। किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह बौद्ध धर्म के प्रति उदासीन था। यद्यपि वह विष्णु का भक्त था, तथापि बौद्ध धर्म का रक्षक भी था। हुविष्क ने लगभग 30 वर्ष तक शासन किया। हुविष्क क बाद वासुदेव कुषाण साम्रज्य का स्वामी हुआ। इस सम्राट कें नाम से पता चलता है कि कुषाण वंश का अब पूर्ण रूप से भारतीयकरण हो चुका था। उसके लेख और सिक्के मथुरा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त से ही प्राप्त हुए है, जिससे सिद्ध होता है कि उसका अधिकार केवल इन प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। यद्यपि उसके नाम से उसके वैष्णव धर्मानुयायी होने का अनुमान होता है किन्तुउसकी अधिकांश मुद्राओं पर शिव व नन्दी की आकृति खुदी हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि वह शैव था। वासुदेव कुषाण वंश का अंतिम सम्राट था। उसके समय से ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो गया था।

## 13.6 कुषाण साम्राज्य का पतन और उसके कारण

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया था। वासुदेव के समय (145–176 ई.) कुषाण साम्राज्य का पतन तीव्र गति से आरम्भ हो गया। स्थानीय जातियों के केन्द्रीय सता की निर्बलता का लाभ उठाकर कुषाणों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। शक क्षत्रप की भांति शासन करने लगे। भारत के विभिन्न भागों में जहां कुषाण वंश का अधिकार था, विशेषकर वर्तमान उत्तर प्रदेश और राजपूताने में अधीनस्थ राजवंशों ने और यहां तक की मथुरा से भी कुषाण शक्ति का उन्मूलन कर दिया गया जहां एक नाग परिवार सतारूढ़ हो गया। नागों की प्रभुत्व में भारतीय राष्ट्रीय शक्ति की एक प्रचण्ड लहर बही जिसके वेग में कुषाण साम्राज्य बह गया।

कुषाण साम्राज्य के पतन के कारणों में मुख्य रूप से आन्तरिक ह्रास था। कुषाण साम्राज्य का संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। वह केवल सैनिक-शक्ति पर आधारित था। सैनिक शक्ति पर आधारित साम्राज्यों का स्थापित्य सदैव संदिग्ध रहा है। क्योंकि सैनिक शक्ति के क्षीण होने पर साम्राज्य की इतिश्री अवश्यम्भावी हो जाती है। अतः कनिष्क के बाद कुषाणों की सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी ओर सैनिक शक्ति क्षीण होते ही साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। कनिष्क के उत्तराधिकारी इतने सबल नहीं थे कि विशाल साम्राज्य को शाश्वत रख सकें। पश्चिम से उदीयमान सासानी शक्ति ने निरन्तर आक्रमण कर कुषाण साम्राज्य को दुर्बल बना दिया। कुषाणों की दुर्बलता का लाभ उठाते हुए भारतीय गणराज्यों ने, जिनमें यौधेय, कुणिन्द, अर्जुनायन, आदि प्रमुख थे, अपने को कुषाणों से मुक्त कर, पूर्वी पंजाब ओर राजपूताना के क्षेत्रों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। इसी प्रकार पश्चिमी उतर प्रदेश, मथुरा और मध्य भारत के नागवंशी भारशिवों ने कुषाण नृपतियों पर प्रहार कर उनकी शक्ति को आघात पहुंचाया और अन्त में अपने पृथक राज्य स्थापित कर लिये। अब जो कुछ इने गिने कुषाणों के प्रदेश रह गये थे उन पर दो दिशाओं से प्रहार हुआ – पश्चिम में श्वेत हूणों ने ओर पूर्व में गुप्त नृपतियों ने कुषाण राज्य को इतिश्री कर दी।

## 13.7 सारांश

इस प्रकार कुषाण वंश एक उल्का के समान भारतीय इतिहास के क्षितिज पर दिखाई दिया ओर शीघ्र ही पुच्छल तारे के समान समाप्त हो गया।

## 13.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. कनिष्क प्रथम की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. कनिष्क एक महान विजेता, महान निर्माता, कला का पोषक तथा साहित्य का संरक्षक था।'' इस कथन का विवेचन करते हुए कनिष्क का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 3. कनिष्क की दिग्विजय का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 4. कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिए किये गये कार्यों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 5. गान्धार एवं मथुरा कला शैली की मुख्य विशेषताऐं बताईये।

प्रश्न 6. कनिष्क के काल में साहित्य एवं कला के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई।

प्रश्न 7. कुषाणों ने भारतीय संस्कृति के विकास में क्या योगदान दिया ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-14 : गुप्तकाल के पूर्व भारत में आर्थिक विकास (व्यापार एवं वाणिज्य के संदर्भ में)

**संरचना**


14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 आर्थिक विकास
14.3 कृषि व्यवस्था का विकास
14.4 भूमि का स्वामित्व
14.5 उद्योग और व्यवसाय
14.6 आन्तरिक व्यापार
14.7 विदेशी व्यापार
14.8 व्यापारिक मार्ग
14.9 माप, तौल, मूल्य और शुल्क
14.10 श्रेणी संगठन का उद्भव और विकास
14.11 सारांश
14.12 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.0 प्रस्तावना

प्राचीनकाल में भारतवासी राज्यों के विस्तार, धन संचय तथा व्यापार और उद्योग के विकास के प्रति पूर्णतः सजग थे। क्योंकि समाज को उत्कर्ष मनुष्य के जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भौतिक और सांसारिक सुख उसके आर्थिक विकास से प्रभावित होता है। यह सही है कि मनुष्य के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित होते रहे हैं, किन्तु आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि और व्यापार – तदवत् रहा है, उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। यद्यपि निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत कृषक और औद्योगिक वर्ग के सदस्यों से निश्चित कार्यक्रम की अपेक्षा की जाती है, तथापि निश्चित परिस्थितियों के कारण उनके कार्यक्रमों में समयानुसार संशोधन भी होते रहे हैं। अतः आर्थिक जीवन को उत्प्रेरित करने वाली प्रवृतियाँ प्रत्येक युग में सहज रूप से एवं स्वाभाविक रूप से उद्‌भूत होती हैं।

भारतीय समाज का आर्थिक विकास 'पुरुषार्थ' के जीवन दर्शन के माध्यम से हुआ है, जिससे 'अर्थ' भी एक प्रधान तत्व माना गया है। वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत रहकर व्यक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता ही था। साथ ही साथ भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष भी करता था। व्यक्ति की आकांक्षा प्रायः अनेकानेक वस्तुऐं प्राप्त करने की होती हैं जो 'अर्थ' के सहयोग से प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए हिन्दू धर्म – शास्त्रकारों ने पुरुषार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' की नियोजना की। मनुष्य की मनोवांछित साम्रगी 'अर्थ' द्वारा ही सुलभ होती रही है। कौटिल्य और बृहस्पति जैसे प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने अर्थ की महत्ता प्रतिपादित की है तथा इसे संसार का मूल माना है। प्राचीन काल में अर्थ के उपार्जन से संबंधित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः वार्ता शब्द वृत्ति' से निकला है जो व्यवसाय और उसके निमित्त किये जाने वाले कार्य से संबद्ध है। विष्णु पुराण में इसे एक विद्या मानकर कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को इसमें समाविष्ट किया गया है। निश्चय ही आर्थिक जीवन के विकास में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य जैसी वृतियों का प्रमुख योगदान था।

## 14.1 उद्देश्य

यहाँ हम गुप्तकाल के पूर्व भारत के आर्थिक विकास की जानकारी करेंगे।

## 14.2 आर्थिक विकास

भारत में आर्थिक विकास क्रमशः हुआ था। पूर्व वैदिक युग के लोग मुख्य रूप से कृषि और पशुपालन पर ही निर्भर करते थे। वे अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते थे तथा दस्युओं जैसे विपक्षियों से संघर्ष किया करते थे। ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों ने अपने घुमन्तु जीवन को स्थायी निवास में परिवर्तित करने के लिए अनार्यों से अनेक युद्ध किये। निश्चय ही ये युद्ध अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए किये गए थे, जिनमें उन्हें सफलता मिली। फलस्वरूप आर्य स्थाई निवासी हुए और यहां के मूल निवासियों से भूमि छीनकर उन्होंने कृषि की दृष्टि डाली। इस प्रकार आर्यों ने सर्वप्रथम एक सुव्यवस्थित आर्थिक आधार की नींव रखी। उत्तरवैदिक युग तक आर्य अत्यधिक साधन सम्पन्न हो गये। अब वे पशुपालन के साथ-साथ कृषि भी करने लगे, जिसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। इस प्रकार आर्यों ने एक नवीन आर्थिक आधार प्राप्त कर लिया जिसे उन्होंने अनार्यों से हस्तगत किया था। परिणामस्वरूप आर्यों की नई नई बस्तियां बसने लगी। धीरे धीरे छोटे और बडे गांवों में आर्य समाज विस्तृत होने लगा। कालान्तर में आकर उनके नगर भी बसने लगे। उनका यह उत्कर्ष उनके आर्थिक जीवन की सुव्यवस्था और सुसम्पन्नता के कारण ही संभव हो सका। इस युग तक कृषि से उत्पन्न अन्न उनकी आजीविका के साथ साथ उनके आर्थिक जीवन का मुख्य आधार बन चुका था। कृषि संबंधी उनका ज्ञान कोई नया नहीं था। इसकी जानकारी उन्हें भारत में आने से पहले भी थी। किन्तु पर्व में स्थाई निवास के अभाव में वे कृषि करने में असमर्थ थे। भारत में उन्हें स्थाई आवस मिला, इसलिए उन्होंने कृषि के प्रति अधिक रूचि दिखलाई तथा उसके विकास में लग गए। भारत में उन्हें अनुकूल प्रकृति, मौसम और एक विस्तृत उपजाऊ भू भाग मिला। फलस्वरूप अपने आर्थिक जीवन मे के उन्नयन में संलग्न होकर उन्होंने आर्थिक जीवन की नई आधार शिला रखी तथा कृषि कर्म को प्रधान रूप से ग्रहण कर, पशुपालन को गौण रूप में प्रदान किया।

## 14.3 कृषि व्यवस्था का विकास

ऋग्वैदिक युग के लोगों का कृषि संबंधी ज्ञान बहुत अधिक सुव्यवस्थित तो नहीं था, लेकिन उसके प्रति उनका आकर्षण उत्सावर्द्धक अवश्य था। भूमि को वे हल से जातते थे, जिसे बैल खींचते थे। हल को छः आठ या बारह बौल मिलकर खींचते थे। अन्न के पक जाने पर उसे हंसिये से काटते थे। कटे हुए अनाज को खलिहानल में इकट्ठा किया जाता था। जहां उन्हें मण्डित किया जाता था। फिर उन्हें चलनी से ओसाया जाता था। वे लोग कुँओं और नहरों से भूमि की सिंचाई करते थे। इसके अतिरिक्त वे पोखर या तालाब द्वारा भी सिंचाई करते थे। वे अपने खेतों को पानी से सींच कर अधिकाधिक उपजाऊ बनाते तथा फसल को सूखने से बचाते थे। इसके साथ ही वे फसल को नष्ट करने वाले कीड़ों, टिड्डीयों और चिड़ियों से सुरक्षा के उपाय भी करते थे। कृषि से उत्पन्न होने वाले अन्न को वे 'यव' और 'धान्य' कहते थे। संभवतः इस समय तक वे विभिन्न अन्नों का नामकरण नहीं कर पाये थे। पशुओं में वे बैल, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी और गधा पालते थे। सुरक्षा के लिए कुत्तों का उपयोग किया जाता था। इन पशुओं का वे कृषि कार्य में समयानुसार उपयोग किया करते थे।

उत्तरवैदिक काल तक आकर उनकी कृषि व्यवस्था सुदृढ़ हो चुकी थी। भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए वे खाद के रूप में गोबर का प्रयोग करने लगे। समाज में अन्न का महत्व ब्रह्म के रूप में माना जाने लगा। अन्नोत्पादन के लिए वे अधिक जागरूक हुए तथा अधिक से अधिक अन्न उत्पादन में विश्वास करने लगे। कृषि कार्य में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का कोई योगदान नहीं था। वैश्य वर्ण के लोग ही खेती करते थे और उसके विकास में तल्लीन रहते थे। खेतों पर शूद्रों से श्रम कराया जाता था। कृषि को मनोनुकूल और सफल बनाने के लिए विभिन्न देवी देवताओं की वन्दना करते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युतपात आदि से फसल को बचाने के लिए वे तंत्र मंत्र का प्रयोग करते थे। इस काल तक आकर वे अनेक प्रकार के अन्न उपजाने लगे थो। व्रीहि (धान) के कई प्रकार विकसित हो गए थे। कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र उत्पन्न होने वाला) और महाव्रीहि (बड़े दानों वाला) नामक तीन प्रकार के धानों का उल्लेख मिलता है। चावल के अतिरिक्त उड़द, सावां, सरसों, गन्ना, तिल आदि का भी उल्लेख मिलता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि इस युग में जौ, तिल, उड़द, सावां, कांगनी, गेहूँ, मसूर, खल्व, खलकुल आदि दस प्रकार के अन्न उत्पन्न होते थे। अष्टाध्यायी में कृषि संबंधी अनेक शब्दों का उल्लेख हआ है। कषिवल (किसान), हल हलयति (हल चलाना), कर्ष (जुताई), लवन (कटाई), खल (खलिहान), निष्पाव (बरसाई) आदि शब्दों का प्रयोग पाणिनी ने किया है। उस



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

युग में फसल के नाम से खेतों के नाम होने लगे थे, जैसे व्रैहेय (धान का खेत) आदि। ईख की खेती से गुड़ आदि विभिन्न पदार्थ बनाये जाते थे। नीली अथवा नील की भी खेती होती थी, जिससे वस्त्र रंगे जाते थे। फसलें दो प्रकार की थीं – कृष्ट पच्य और अकृष्टपच्य कृष्टपच्व वह फसल होती थी जो खेत में पैदा की जाती थी और अकृष्टपच्व वे जो स्वतः ही जंगल आदि विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न हो जाती थी। कृषि योग्य भूमि का क्षेत्र कहा जाता था। कृषि के अयोग्य भूमि की ऊसर माना जाता था और वहां पशु चरते थे उसे 'गोचर' भूमि कहते थे।

बौद्ध युग तक आते आते कृषि का समुचित विकास हो चुका था। खेत को हल से जातते थे, जिसे प्रायः दो बैल खींचते थे। इस युग में अनेक प्रकार के अनाज पैदा किये जाते थे – बाजरा, चना, मटर, मूंग, उर्द, तंडुल, ईख, नारियल आदि की खेती होती थी। मिर्च, अदरक, राई, लहसुन, जीरा आदि भी पैदा किये जाते थे। उस समय आम, सेव, जम्बूफल, अंजीर, अंगूर, केला, खजूर आदि अनेकानेक फल भी पैदा किये जापते थे। जैन साहित्य में भी कृषि से संबंधित अनेक उल्लेख मिलते हैं। फसलें तीन प्रकार की होती थीं। क्षैत्रिक, आरामिक और आटविक। जो वस्तु खेतों में पैदा होती थी व क्षेत्रिक कहलाथी थीं, जो उद्यानों तथा आरामें में पैदा की जाती थी वह आरामिक तथा जो जंगलों में उत्पन्न होती थी उसे आटविक कहा जाता था। क्षत्रिक भूमि दो प्रकार की होती थी एक सेतू और दूसरी केतू। सेतु नामक भूमि सिंचाई के कृत्रिम साधनों से सिंचित होती थी तथा केतू नामक भूमि सिचाई के कृत्रिम साधनों से सिंचित होती थी तथा केतू नामक भूमि की सिंचाई वर्षा पर निर्भर करती थी। जैन साहित्य में अनेक प्रकार के अनाजों और फलों का उल्लेख हुआ है। जम्बू, अशोक, पलाश, दाड़िम, चन्दन आदि आटविक उपज थे। यूनानी लेखकों ने विभिन्न प्रकार के अनाजों और फलों का उल्लेख किया है जो भारतीय भूमि से पैदा किये जाते थे। धान, गेहूं, जौ, दाल, फल आदि का उन्होंने वर्णन किया है।

कौटिल्य ने कृषि व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया है। उपज में वृद्धि करने के लिए उसने खाद के उपयोग का निर्देश किया है। उसने तीन फसलों की चर्चा की है। जो क्रमशः वर्षा के प्रारंभ, मध्य और अन्त में बोयीं जाती थी। उसके अनुसार हल से जोतकर उत्पन्न किये गये पदार्थ को 'सीता' कहते थे तथा उसके मुख्य अधिकारी को सीताध्यक्ष। कौटिल्य लिखता है कि सीताध्यक्ष को चाहिए कि जल की कमी बेशी के अनुसार केदार क्षेत्र (धान बोने योग्य खेत) में बोने योग्य, हेमन्त काल में बोने योग्य अथवा ग्रीष्म काल में बोने योग्य बीज यथा समय बोए। महाकाव्यों में भी कृषि कर्म का अच्छा वर्णन किया गया है। इस युग में क्षत्रिय शासकों द्वारा खेतों में हल चलाना कृषि – कर्म की महत्ता प्रदर्शित करता है। यज्ञ के नियम के अनुसार राजा जनक ने खेत जोता तथा सीता की प्राप्ति की थी। वैष्णव यज्ञ को सम्पन्न करते समय दुर्योधन ने भी खेत में हल चलाया था। उस युग में कृषि कार्य करने वाली द्विजातियां भी थीं।

विदुर के अनुसार कृषि कार्य का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति समिति की सदस्यता के लिए अयोग्य था। उस युग मे कौशल, मत्स्य, वत्स आदि ऐसे प्रदेश थे जो कृषि की दृष्टि से अत्यंत ही उर्वर थे। कौटिल्य के विवरण से साम्य रखता हुआ महाकाव्यों में भी विवरण मिलता है कि चैत्र और आश्विन में उपज हुआ करती थी। उस युग में चावलों के कई प्रकार प्रचलित थे। इस प्रकार महाकाव्यों के तत्कालीन कृषि जीवन का सुन्दर और सुव्यवस्थित चित्रण मिलता है।

पतंजलि के काल में कृषि का पारंपरिक अनुकरण होता था। उसने कृषि संबंधी अनेक क्रियाओं का वर्णन किया है। बैलों से हल चलाये जाते थे। जो बैल हल और गाड़ी दोनों खींचते थे व अधिक अच्छे माने जाते थे। अच्छे हल को 'सहुल' तथा खराब हल को 'दुर्हल' कहते थे। जोती जाने वाली भूमि को 'हल्या' तथा जोती हुई भूमि को 'सीत्य' कहा जाता था। खेतों में कभी – कभी दो पदार्थ एक साथ बोये जाते थे। उड़द और तिल बहुधा एक साथ बोने का उपक्रम किया जाता था। उर्वरता के हेतु सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी, यद्यपि अधिकांश खेती वर्षा पर निर्भर करती थी। महाभाष्य में कुऐं खोदने को भी उल्लेख मिलते हैं। समयानुसार कृषकों को बीज और कर्ज भी प्राप्त होते थे। कृषकों की देखभाल के लिए राजा द्वारा सच्चे अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रकार गुप्त युग तक आकर कृषि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। शांति और सुव्यवस्था का युग होने के कारण इस काल में कृषि व पशुपालन का बहुमुखी विकास हुआ।

कृषकों से राजा भूमि कर प्राप्त करता था जिसके लिए 'ग्राम भोजक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। वैदिक युग में इस राज भाग को 'बलि' कहा जाता था। सामान्यतया राजा उपज का छठा भाग प्राप्त करता था, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर राजा उपज का चौथा भाग भी ले सकता था। कौटिल्य के अनुसार 'समाहर्ता' नामक अधिकारी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विभिन्न प्राकर के कर वसूलता था। उसने तेरह प्रकार के राजकरों का उल्लेख किया है, जिसमें भाग नामक कर अन्न के उत्पादन पर दिया जाने वाला कर था। उस समय कुछ राजकीय भूमि भी जोती जाती थी, जिसे कृषक जोतते और बोते थे और उपज का आधा भाग राजा को प्राप्त होता था। भूमि की उपयुक्तता तथा सिंचाई के साधन में सम्पनता को दृष्टि में रखकर भूमि कर की व्यवस्था की जाती थी। महाकाव्यों में भी उपज के भाग को राजकर के रूप में स्वीकार किया गया है। भूमि कर प्रायः देश और काल के अनुसार निश्चित किया जाता था। इस संबंध में ब्राह्मण, स्त्रियों व बालकों से कर ग्रहण नहीं किया जाता था। भूमि पर स्थाई रूप से रहने वाले किसानों से लि या जाने वाला कर 'उद्रंग' कहलाता था तथा भूमि पर अस्थाई निवास करने वालों से लिया जाने वाला कर 'उपरि कर' कहलाता था। राजा द्वारा अपनी प्रजा से जब फल, फूल, शाक आदि कर के रूप में प्राप्त किया जाता था तब वह 'प्रतिभाग' कहलाता था।

## 14.4 भूमि का स्वामित्व

भूमि का स्वामित्व के बारे में शास्त्रकारों में मतभेद है। कुछ विचारकों का कहना था कि भूमि पर राजा का स्वत्व है और कुछ का मत था कि उस पर व्यक्ति का स्वत्व है। कुछ ऐसे दृष्टांत भी मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि भूमि पर यदा – कदा सम्मिलित स्वत्व भी स्थापित था। वैदिक युग में भूमि पर सम्मिलित स्वामित्व का विकास हुआ। उस समय आर्य भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे तथा विभिन्न प्रकारों से भूमि हस्तगत कर रहे थे। समूहों में बंटे रहने के कारण भूमि पर उनका अधिकार भी ससमूहगत था। राजतंत्र के उत्कर्ष के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ और विजित भू भाग पर उसका अधिकार स्थापित हुआ। समय समय पर उसने भूमि, गांव आदि ब्राह्मणों, श्रमणों, मंदिरों और विहारों को प्रदान किये जो उसके भूमि स्वामित्व को व्यक्त करते हैं। व्यवहारिका के अनुसार भूमि अलग – अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी, जिसका वे स्वच्छन्दतापूर्वक आदान प्रदान और क्रय – विक्रय कर सकते थे। किन्तु राजतंत्र और साम्राज्यवाद के विकास के साथ भूमि पर राजा और राज्य का प्रभुत्व बढ़ा जिससे व्यक्ति और उसके समूहों का भूमि पर अधिकार निर्बल पड़ गया। कौटिल्य ने भूमि पर राजा के अधिकार का समर्थन किया है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि भूमि सभी लोगों की सम्पत्ति है। जैमिनी की मीमांसा पर भाष्य करते हुए शबर स्वामिन् ने लिखा है कि राज्य की समस्त भूमि और व्यक्तिगत भूमि में अन्तर था। उसके अनुसार राजा भूमि की सुरक्षा करने के कारण उपज से केवल अपना 'भाग' लेने का अधिकारी था।

## 14.5 उद्योग और व्यवसाय

वैदिक युग से ही हमारे यहां अनेक प्रकार के उद्योग प्रचलित थे। विभिन्न उद्योगों को करने वाले लोग विभिन्न नामों से पुकारे जाते थे। ऋग्वैदिक युग में आर्यों ने अपनी रूचि के अनुसार उद्योगों को अपनाया तथा उनके पृथक – पृथक नामकरण किये, जो उत्तरवैदिक काल में आकर अलग अलग वर्ग के रूप में विकसित हुए। 'तक्षा' (बढ़ई) घर के लिए लकड़ी की विभिन्न वस्तुऐं बनाता था। वह समान ढोने की गाडी भी बनाता था। उस युग में नाव और पोत भी बनाये जाते थे। जो निश्चय ही तक्षा की कला से बनते रहे होंगे। कालान्तर में तक्षा रथ भी बनाने लगा था। 'वासोवाय' वस्त्र बुनने वाला होता था। बुनकर को 'क्य' कहा जाता था। युवा स्त्रियां भी बुनने का काम करती थीं। उस काल में बुनाई कला की श्रेष्ठ शिक्षा देने के लिए पाठशालाऐं भी थीं। धातु का कार्य करने वाला 'कर्मार' कहलाता थ। लोहा या तांबा, स्वर्ण, रजत, टिन आदि धातुऐं उस समय के लोगों को ज्ञात थीं और इन धातुओं की वे अनेक वस्तुऐं बनाते थे। 'कर्मार' धातु को अग्नि में गलाता था। अग्नि को वह चिड़ियों के पंखों की धौंकनी से हवा देता था तथा सूखी लकडियों को जलाकर धातु को गलाता था तत्पश्चात् गली हुई धातु से वह बर्तन बनाता था। घरेलू सामान के अतिरिक्त वह अस्त्र शस्त्र भी बनाता था। ''हिरण्यकार सोने के आभूषण बनाता था। 'निष्क' (हार) कुरीर (मांग का टीका), कुम्ब (सिर का आभूषण), कर्मशोभन आदि अनेक आभूषण बनते थे जो विवाहादि 'कुशाल' मिट्टी के बर्तन बनाते थे जिन्हें आज कुम्हार कहा जाता है। इस वर्ग का विकास उत्तरवैदिक युग में हुआ था। चर्मकार चमड़े की वस्तुऐं बनाता था जिसमें प्रत्यन्चा, रथ कसने की रस्सियां, गोफन, चाबुक आदि वस्तुऐं प्रमुख थीं। परवर्ती काल में इन व्यवसायिक वर्गों का समुचित विकास हुआ। सूत्र साहित्य एवं अन्य उत्तरवर्ती साहित्य में उपर्युक्त व्यावसायिक वर्गों का उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार के वस्त्रों की सूचना हमें सूत्र ग्रन्थों से मिलती है, जो उस काल के वस्त्र उद्योग पर प्रकाश डालते हैं। इस युग में धातु उद्योग का भी उत्कर्ष हुआ। लोहकार दो पृथक वर्ग के रूप में स्वीकार किये गए। लोहार, हल, छुरा, सुई, चाकू तथा युद्ध संबंधी अस्त्र शस्त्र बनाता था तथा स्वर्णकार अत्यंत कलात्मक आभूषण बनाता था। चर्मकार चमड़े के विभिन्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार के जूते बनाने लगा। चमड़े के बने पात्रों में घी, शहद, तेल आदि रखे जाते थे। कुलाल विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता था, जो भोजन व जल के लिए अत्यंत पवित्र समझे जाते थे। युद्ध के समय शत्रु के बाण से बचने के लिए चमड़े की ढाल भी बनाता था।

बौद्ध युग में नगरों और अधिष्ठानों का विकास होने से औद्योगिक संस्थाओं का महत्व बढ़ा तथा विभिन्न औद्योगिक एवं व्यावसायिक जातियाँ बनी। विभिन्न औद्योगिक और व्यवसायिक वर्गों के विकास के कारण अनेक पृथक – पृथक संगठन बने जिन्हें श्रेणी कहा गया। धातु के सिक्कों का प्रचलन इसी युग में हुआ। शहरों व नगरों के बस जाने के कारण व्यावसायिकों को नया बाजार मिला। गांवों की अपेक्षा नगरों में माल बेचने का अधिक अवसर मिला। नगर में आवागमन के साधन सुलभ थे तथा वस्तुओं का आवश्यकतानुसार क्रय – विक्रय हो जाता था। बौद्ध युग में अधिकांश मकान लकड़ी के बनाये जाते थे। राजाओं और अभिजात वर्ग के प्रासाद लकड़ी से ही बनाये जाते थे। इस काल में एक अद्‌भुत शिल्पकला का ज्ञान होता है। इस युग में यन्त्रचालित विशाल हाथी का निर्माण किया जाता था जिस पर साठ व्यक्ति बैठ कर घूम सकते थे। एक कथन के अनुसार एक बढ़ाई ने अपने राजा के भय से लकडी का गरूड़ बनाया तथा उसमें यंत्र लगाया तत्पश्चात् अपने परिवार के साथ उस पर बैठ कर उड़ गया। बौद्ध युग में धातु उद्योग अपनी परिकाष्ठा पर था। मिलिन्दपन्हों के अनुसार लोहा, सोना, टिन, तांबा आदि की वस्तुऐं बनाने वालों के पृथक – पृथक वर्ग थे। उस समय यंत्रों की सहायता से भी धातुओं के विभिन्न सामान बनते थे। जैन स्त्रोतों से भी विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों का पता चलता है। लोहार, हल, भाला व खड्ग तो बनाता ही था, साथ ही घरेलू बर्तन भी बनाता था। लोहे को अत्यधिक तपाकर इस्पात की तरह चमकीला बनाया जाता था। यह शल्य क्रिया के सामान भी बनाता था। स्वर्णकार विभिन्न प्रकार के अत्यंत कलात्मक एवं आकर्षक आभूषण बनाता था। उस समय अनेक बहुमूल्य रत्न भी आभूषण में जड़े जाते थे, जिससे उसकी शोभा अद्वितीय हो जाती थी। विशाखा के विवाह के अवसर पर पांच सौ स्वर्णकार आभूषण बनाने के लिए बुलाये गए थे। रत्नजड़ित आभूषणों की इतने अधिक परिमाण में आवश्यकता थी कि उन्हें बनाने के लिए बहुत से स्वर्णकारों को बुलाना पड़ा। बौद्ध युग में वस्त्र उद्योग का भी पर्याप्त विकास हुआ। उस युग में सूती, रेशमी और ऊनी अनेक प्रकार के वस्त्र बनते थे तथा स्त्री पुरूष के अनेकानेक परिधान बनते थे। दीघ निकाय में सूती, रेशमी, ऊनी आदि अनेक परिधानों का उल्लेख हुआ है। जिससे उस युग के तन्तुवाय की कला और कल्पना का ज्ञान होता है। चर्मकारों को संघों से लगता है कि चर्म उद्योग का भी वर्ग था, जो अपने अद्‌भुत हस्तकोशल एवं कल्पना से हाथी दांत की विभिन्न कलात्मक वस्तुएं बनाता था। इस प्रकार के उद्योग का केन्द्र काशी था। उस काल में हाथी दांत के विभिन्न आभूषण, खिलौने, घरेलू वस्तुऐं आदि बनाई जाती थीं। पत्थर तोड़ने वाले को 'पाषाणकुट्टक' कहते थे, जो पत्थर की कला में दक्ष होते थे। पत्थर के कलात्मक स्तम्भ, आधार, दीवारें आदि बनाई जाती थीं। उस युग में तूलिकाकार भी होते थे। जो अपनी तूलिका और रंग से स्थापत्य एवं वास्तुकला को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करते थे। स्तूपों, विहारों और प्रासादों की दीवारों पर मेरू, सागर, झील, सूर्य, चन्द्रमा आदि के आकर्षक चित्र तुलित किये जाते थे। कपड़े साफ करना और रंगना दोनों कार्य प्रायः एक हर वर्ग के लोग करते थे। कपड़े साफ करने के लिए 'क्षार' (सोडा) का प्रयोग कियां जाता था। मालाकार (माली) विभिन्न पुष्पों की मालाऐं गूंथकर माला बनाता था, जिनमें अनेक रंग बिरंगे फूल गुंथे होते थे। सुगन्धित पुष्पों से विभिन्न प्रकार के इत्र व तेलों का निर्माण भी किया जाता था। बौद्ध युग में वैद्य, ज्योतिषी, लेखक, नर्तक, नाई, सिलाई करने वाले, घास काटने वाले आदि के अनेक वर्ग थे। जैन साहित्य में भी लगभग ऐसे ही उद्योगों का उल्लेख हुआ है। पाणिनी ने अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख किया है। हाथ में काम करने वाले के लिए 'कारि' शब्द का प्रयोग होता था। कात्यायन ने भी शिल्प के लिए 'कारि' शब्द स्वीकार किया है। अपने कार्य में दक्ष और कुशल शिल्पी ' राज शिल्पी' कहलाते थे। पतंजलि ने भी मिट्टी के बर्तन बनाने वाले 'कुलाल', लकड़ी का सामना बनाने वाले 'तक्षा' धनुष बनाने वाले 'धनुषकार' और कपड़ा रंगने वाले 'रजक' का उल्लेख किया है। स्वर्ण के लिए 'हरिण्य' शब्द प्रचलित था। वस्त्र बुनने क लिए प्राचीन नाम 'तन्तुवाय' ही प्रचलित था। शैफलिक (पारिजात से रंगा हुआ), माध्यमिक (चित्तौड़ का बना हुआ), शाटक (मथुरा का बना हुआ) आदि विख्यात वस्त्रों का उल्लेख पतंजलि ने किया है, जो उस समय अधिक प्रचलित थे। कौटिल्य ने अनेक शिल्पों और शिल्पकारों का वर्णन किया है, उस समय धातु – उद्योग अपने चरमोत्कर्ष पर था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में खान की खुदाई और उससे सम्बनधित धातुओं का उल्लेख हुआ है। खान का काम करने वाला प्रधान अधिकारी 'आकराध्यक्ष' कहलाता था। कौटिल्य ने लिखा है कि ''राजकीय आकराध्यक्ष का यह कर्त्तव्य है कि सरकारी कारखानों में तैयार धातुजनित समस्त सामानों का क्रय विक्रय संबंधी व्यापार किसी एक ही स्थान पर स्थापित करें। यदि कोई राजा से छिपाकर स्वर्ण आदि धातुओं को खान से निकाले, खरीदे या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बेचे तो ऐसा करने वाले को राजा दण्ड दे। रत्न के सिवाय खान से यदि कोई स्वण आदि धातु निकाले, बनाये या बेचे तो राजा उस पर दण्ड लगाकर माल का जो मूल्य हो, उससे आठ गुना धन वसूल करे। यदि राजा से आज्ञा लिए बिना चोरी से अन्य खनिज पदार्थ निकाले तो राजा उसे बन्दी बनाकर कड़े से कड़ा काम ले। जो लोग ऐसे अपराधी की सहायता करें, उनको भी उतना ही कठोर दण्ड दिया जाये। निश्चय ही कौटिल्य ने खान संबंधी व्यवस्था में अपनी अपूर्व विचारशीलता का परिचय दिया था। मैगस्थनीज ने अस्त्र शस्त्र बनाने वाले वर्ग का उल्लेख किया है, जो कर से मुक्त था, साथ ही राज्य की ओर से उसका पोषण होता था। कौटिय ने स्वर्ण और उसके आभूषणों से संबंधित विशद् चर्चा की है तथा स्वर्ण पर पूर्णतः राज्य का अधिकार स्वीकार करते हुए अनेक नियम बनाये हैं। मैगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय आभूषणों के प्रति अधिक आकर्षण रखते थे। कौटिल्य के समय भी अनेक प्रकार के वस्त्र बुने जाते थे। उसने स्थूल रेशमी, महीन रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रों का उल्लेख किया है। सूत प्रायः विधवा, अनाथ कन्याऐं, सन्यासिनियां, अपराधिनियां, वेश्याओं की वृद्ध माताऐं, राजदासियां और देवदासियां कातती थीं। धोबी काठ के तख्ते तथा चिकने पत्थर की पाटिया पर वस्त्र धोता था। यदि वह किसी वस्त्र को फाड़ देता था तो उसे क्षतिपूर्ति देनी पड़ती थी। ग्रीक लेखकों से विदित होता है कि उस समय पोत निर्माण की कला यथोचित रूप से विकसित थी। ऐसे पोत राजकीय संरक्षण में बनते थे। मौर्य काल में भवन के आधार पत्थर और ईंट के बनते थे तथा ऊपर के भाग लकड़ी के। किन्तु कौटिल्य लकड़ी के भवन निर्माण का विरोधी था, क्योंकि ऐसे मकानों में आग लग जाने का भय रहता है। प्रस्तर कला में मौर्य काल अद्वितीय था। पत्थर को सुन्दर काटकर भवन, प्रासाद, स्तूप, विहार और स्तम्भ बनाये जाते थे। अशोक कालीन स्तूप और स्तंभ इसके ज्वलंत प्रमाण है। उद्योग और व्यवसाय के समुचित संचालन में बाधक लोगों के लिए कौटिल्य ने कंटक शोधन न्यायालय की व्यवस्था की थी, जहां ऐसे लोगों को दण्ड दिया जाता था।

गुप्तकाल तक आते आते विभिन्न उद्योग और व्यवसाय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुच गये। फलस्वरूप जनता सम्पन्न और समृद्ध हुई। गुप्तकालीन स्वर्णयुग का यह भी प्रधान आधार था कि उस समय अपने विभिन्न शिल्पों, उद्योगों और व्यवसायों के उत्कर्ष से अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर रहा था।

## 14.6 आन्तरिक व्यापार

भारत के आर्थिक विकास में व्यापार एवं वाणिज्य का सर्वाधिक महत्व था। 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि और व्यवसाय के साथ वाण्ज्यि का भी योग था जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन को सबल बनाता था। वैदिक काल के पूर्ववर्ती समाज में व्यापार अथवा वाणिज्य का कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ था। उस समय आर्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में थे। अतः वह युग विभिन्न धन्धा और शिल्प व्यवसायों के प्रारंभिक विकास का युग था कालान्तर में उत्तर वैदिक कल के अन्तर्गत हुआ। जब कृषि व्यवस्था का विकास हुआ तब उन्होंने नगरों की स्थापना की। नगरों में कृषि से उत्पन्न अन्नों और व्यवसायों से निर्मित वस्तुओं का आना प्रारंभ हुआ, जो तत्कालीन समाज की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस प्रकार वस्तुओं को क्रय – विक्रय से व्यापार का उदय तथा व्यापारिक मार्गों का विकास हुआ। वस्तुओ का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए वे रथ, घोड़े, बैलगाड़ी, ऊंट, हाथी आदि का प्रयोग करते थे। नाव की सहायता से भी वे अपने माल को अभीष्ट स्थान तक पहुंचाते थे। वस्तुओं के क्रय – विक्रय में मोल भाव करते हुए मूल्य आंके जाते थे तथा समुचित मूल्य मिलने पर वस्तुओं को बेच दिया जाता था। इस प्रकार के कतिपय संदर्भ वेदों में मिलते है, जो तत्कालीन व्यापारिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

ऋग्वेद में वाणिज्य करने वाले को 'पणि' और 'वणिक' कहा गया है। पदार्थों का आदान–प्रदान होता था। एक मंत्र से विदित होता है कि दस गायों को देकर इन्द्र की प्रतिमा लाई गई थी। उस समय हाट (बाजार) में भाव के आधार पर सौदा पक्का किया जाता था। मूल्य कम हो या अधिक एक बार बिक जाने पर उस मूल्य को विक्रेता और क्रेता दोनों स्वीकार करते थे। सर्वप्रथम नगरों की स्थापना और विकास पश्चिमोत्तर प्रान्त मे हुआ, क्योंकि आर्य पहले – पहले वहीं आये थे और उन्होंने वहीं विभिन्न निर्माण – कार्य किये थे। पाणिनी के काल तक प्रतीच्य अंचलों में भी अनेक नगर बस गये। तक्षशिला और हस्तिनापुर जैसे नगर ऐसे ही थे। बौद्धयुगीन भारत में अनेक नगरों का विकांस हुआ तथा इसके साथ ही व्यापार का भी विस्तार हुआ।

व्यापार करने वाले को 'वणिक' या 'वाणिज' कहा जाता था। विभिन्न स्थानों के अलग – अलग व्यापारी होते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मद्रदेश का व्यापारी 'मद्रवाणिज' गान्धार देश का व्यापारी 'गान्धार वाणिज' कश्मीर का व्यापारी 'काश्मीर वाणिज' के नाम से जाना जाता था। जो व्यापारी प्रधान रूप से थोक व्यापार होता था, वह 'क्रय – विक्रयिक' के नाम से अभिहित था। उस युग में कुछ ऐसे व्यापारी भी थे जो व्यापारी में अपना धन तो लगा देते थे, परन्तु उसकी व्यवस्था और देखभाल में यह कोई आवश्यक नहीं था कि वे स्वयं निर्देशन करते। इस प्रकार के व्यापारियों को 'वस्निक' कहा जाता था। 'वस्निक' उसको भी कहा जाता था जो शकटों पर माल लादकर बेचने के लिए जाता था। जाते समय वह 'द्रव्यक' कहा जाता था और अपना माल बेचकर लौटता था, तब वह 'वस्निक' कहलाता था। तत्कालीन समाज में 'सास्थानिक' नामक व्यापारी भी थे, जिन्हें परवर्ती काल में 'सार्थवाह' नामक व्यापारी से समीकृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त खनिज वस्तुओं का व्यापार करने वाले को 'प्रास्तारिक' व्यापारी तथा बांस, बबई (बल्बज), बाध (वर्ध) आदि का व्यापार करने वाले कोक 'काठिनिक' व्यापारी कहते थे। वस्तुओं के विक्रय के अनुरूप व्यापारियों के भी नामकरण होते थे, जैसे अश्व का व्यापार करने वाले को 'अश्ववणिज' तथा गायों का व्यापार करने वाले को 'गोवाणिज' कहा जाता था। स्थान के नाम पर भी व्यापारियों के नाम होते थे। 'परमवाणिज' अथवा 'उत्तमवाणिज' कहे जाने वाले अन्य व्यापारियों से श्रेष्ठ होते थे। प्रायः दूरस्थ स्थानों से आकर व्यापारी वाणिज्य कार्य किया करते थे विदेह का रहने वाला व्यापारी कश्मीर और गान्धार में जाकर, मगध का व्यापारी सुदूर पश्चिम सौवीर देश में तथा वाराणसी का व्यापारी उज्जैन या श्रावस्ती में जाकर व्यापार करते थे। दुकान अथवा बाजार के लिए 'आपण' शब्द का प्रयोग किय जाता था। बाजार या दुकान के माध्यम से जो वस्तुऐं बेची जा ती थीं, व पण्य या 'पणितव्य' के नाम से अभिहित भीं। जातकों से विदित होता है कि पव्यवसाय के अनुरूप विभिन्न 'विथियां' बनी थीं। बाजारों में कपड़े, रथ, तेल, अन्न, शाक, रत्न, सोना, चांदी, आभूषण आदि का क्रय – विक्रय होता था। मांस, शराब, अस्त्र एवं दासों के क्रय – विक्रय भद्र एवं विशिष्ट जनों के समक्ष नहीं किये जाते थे। शाक–सब्जियां और खाद्य सामग्री नगर के द्वार पर ही विक्रय हेतु आती थीं जहां से लोग अपनी आवश्यकतानुसार खरीद कर ले जाते थे बाजार नगर के भीतर होता था। नगर वीथियों के दोनों किनारों पर दुकानें रहा करती थीं, जिनमें विक्रय के निमित्त वस्तुऐं सजाकर रखी जाती थी। कभी – कभी व्यापारी अपनी वस्तुओं को वीथियों में रखकर नगर में घूम – घूमकर फेरी लगाते हुए अपना माल बेचता था और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता था। ऐसा व्यापारी अपनी वस्तुओं को गधों या गाड़ियों पर रखकर ले जाता था। नगर जैसे स्थान व्यापार के केन्द्र होते थे जहां छोटे बडे सभी व्यापारी खरीद बिक्री के लिए आते थे। भाव ताव के पश्चात् ही वस्तुऐं बेची और खरीदी जाती थीं। हाथी, घोडे, रत्नादि खरीदने वाले व्यक्ति राजाओं के यहां होते थे, जो वस्तु का मूल्य निर्धारित करते थे। उस समय छोटे बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे। छोटे व्यापारी अधिकांशतः घूम – घूमकर फेरी लगाते हुए अपना सामान बेचते थे तथा बड़े व्यापारी एक ही स्थान पर विक्रय किया करते थे। राज्य में बड़े और समृद्ध व्यापारियों का विशिष्ट और श्रेष्ठ स्थान था। व्यापारी समुदाय के सम्मानित सदस्य को गहपति, कुटुम्बिक और सेट्ठि कहते थे। व्यापारियों में जो श्रेष्ठ था, वहीं सेट्ठी था। राज्य में 'सेट्ठी' का बड़ा महत्व था। वह अपने वर्ग के साथ – साथ राज्य की समृद्धि में भी योगदान देता था। राजदरबार में वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए सम्मानित और प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में रहता था। व्यापारियों की समस्या का समाधान और उनके हितों की रक्षा 'सेट्ठी' ही करता था। 'सेट्ठी' का पद उत्तराधिकार के अनुसार वंशानुगत अत्यधिक सम्पन्न हो गया। उस युग में कुछ ऐसे भी व्यापारी थे, जो अधिक (दो सौ से लेकर चार सौ प्रतिशत तक) लाभ कमाना चाहते थे। जातकों से ऐसा विवरण मिलता है कि कुछ व्यापारी अधिक लाभ कमाने के मामले में राजकर्मचारियों को घूस देते थे और अधिकाधिक धन कमाते थे। मूल्य निश्चित करने वाले राज्य अधिकारी भी घूस लिया करते थे। उस समय चोरों और डाकुओं की भी संख्या अधिक थी, जो समय समय पर व्यापारियों को लूटते थे। माल लेकर जाने वाले व्यापारियो को मार्ग में लूट लेते थे और धन के साथ – साथ स्त्रियों को भी उठा ले जाते थे। लूट – पाट करने के लिए प्रायः व रात में घूमा करते थे।

मौर्य युग में व्यापार और वाणिज्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का विस्तृत चित्रण किया है। उसके अनुसार व्यापार के निमित्त बाजार में बेची जाने वाली वस्तु 'पण्य' कहलाती थी तथा व्यापार की देखभाल के लिए राज्य की ओर से जो सबसे बड़ा अधिकारी नियुक्त किया जाता था उसे 'पण्याध्यक्ष' कहते थे। वह वाणिज्य संबंधी नीतियों और व्यवस्थाओं का ज्ञाता होता था। कौटिल्य के अनुसार पण्याध्यक्ष स्थल और जल में उत्पन्न एवं स्थल पथ और जल पथ से आने वाली सभी वस्तुओं के मूल्य में तारतम्य रखता था, साथ ही उन वस्तुओं की लोकपियता और अप्रियता के आधार पर न्यूनाधिक परिमाण में उनका संग्रह करवाता था। अपने यहां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर संगृहीत वस्तु को दाम चढ़ा कर बेच देता था और बिक जाने के बाद वह दाम घटा देता था। अपनी भूमि में उत्पन्न राजकीय पण्य वस्तुओं को एक ही स्थान पर बेचता था तथा अन्य देशों के उत्पादित सामानों को विभिन्न स्थानों में बेचने का प्रबन्ध करता था। वह नित्य प्राप्त होने वाली वस्तुओं के विक्रय पर अंकुश लगाता था। व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। व्यापारियों के अनुचित लाभ पर राज्य का अंकुश था। जब कभी पण्य का बहुत अधिक बाहुल्य हो जाता था तब वह देश में कृत्रिम कमी का वातावरण बना कर आस – पास के सभी पण्य अपने अधिकार में करके मूल्य बढ़ा देता था, उत्पादन का मूल्य आते ही वह पुनः मूल्य गिरा देता था जिससे प्रजा को कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। शीघ्र खराब होने वाले माल को शीघ्र बिकवाने का प्रबन्ध करता था। पण्याध्यक्ष खनिज पदार्थ, राजकीय भूमि पर शिल्प केन्द्रों से उत्पन्न वस्तुऐं तथा नमक आदि पर नियंत्रण रखता था। वह इस बात के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था कि राज्य की जनता को कम से कम मूल्य में वस्तुऐं उपलब्ध हो सके। राजाज्ञा प्राप्त होने पर ही व्यापारी नया व्यापार प्रारंभ कर सकता था। दुकानदार को भी दुकान खोलने के लिए राज्य से आज्ञा पत्र प्राप्त करना पड़ता था। कोई भी व्यापारी कम या अधिक मूल्य नहीं ले सकता था। जो मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित कर दिया जाता था। वही निश्चित माना जाता था। निश्चित किये गए मूल्य से ज्यादा मूल्य लेना अपराध माना जाता था। घटिया सामग्री को बढ़िया में मिलाकर तथा उत्कृष्ट सामान रखने वाली पिटारी में निकृट सामग्री रखकर बेचने वाले व्यापारी को 54 पण का दण्ड देना पड़ता था। उस समय खाद्य पदार्थों में मिलावट करने पर भी प्रतिबन्ध था। किसी व्यापारी द्वारा तौल में गड़बड़ी करने पर भी राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था।

महाकाव्यों से भी वाणिज्य के विकास की सूचना मिलती है। रामायण में कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य को लौकिक जीवन का आधार स्वीकार किया गया है। राज्य के निर्देशन में वाणिज्य का पर्याप्त विकास हुआ था। तत्कालीन जनपद के वणिक व्यापार के लिए दूर – दूर जाते थे। उस समय अनेकानेक वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा उनके व्यापार के लिए व्यापारी दूर – दूर बाजारों में जाते थे। कम्बोज, वाह्लीक और वनायु देश के अश्व तथा विन्ध्य क्षेत्र के हाथी बहुत प्रसिद्ध थे। अनेक प्रकार के रत्न भी समाज में प्रचित थे। पाण्डवों को मिलने वाले उपहारों में पूर्वी देशों के हाथी, काम्बोज, गान्धार, वाह्लीक, प्राग्ज्योतिषपुर के अश्व अपरान्त और पूर्वी क्षेत्र के सूती वस्त्र, प्राग्ज्योति, अपरान्त और पूर्वी क्षेत्र के आयुत्र; पाण्ड्य और म्लेच्छ देशों के मोती तथा सिन्धु देश के शालि सम्मिलित थे। विविध खाद्य सामग्री का भी क्रय-विक्रय होता था।

पतंजलि ने व्यापारिक वस्तुओं के लिए 'पण्य' शब्द का प्रयोग किया है। पण्य वस्तुओं में सभी प्रकार की खाद्य सामग्री, सुगन्ध, अलंकार, मूर्तियां, संगीत, सामग्री, चर्मपात्र, पशु, औजार, धातु निर्मित वस्तुऐं, तुला, वाहन आदि सम्मिलित थे। वस्तु के निर्माण की लागत को 'मूल' कहा जाता था और बेचनले पर मूल के अतिरिक्त जो प्राप्त होता था, वह 'लाभ' कहलाता था। क्रय-विक्रय के लाभ पर जीवन – निर्वाह करने वाला व्यक्ति 'वस्निक' कहलाता था।

गुप्त युग में व्यापार एवं वाणिज्य का अत्यधिक विकास हुआ। प्रयाग-प्रशस्ति में बिकने वाले अस्त्रों का उल्लेख मिलता है। क्रय करने के लिए 'निष्क्रय' शब्द का प्रयोग हुआ है। अमरकोष में सडक के दोनों ओर की दुकानों का उल्लेख हुआ है। रघुवंश के अनुसार अयोध्या के बाजारों में लोग विभिन्न वस्तओं का क्रय-विक्रय करते थे।

## 14.7 विदेशी व्यापार

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत का विदेशियों से व्यापारिक संबंध था। उस समय स्थल और जल दोनों मार्गों का उपयोग करते थे। सुमेरियन और सिन्धु सभ्यताओं की प्रान्त वस्तुओं से ज्ञात होता है कि इन दोनों सभ्यताओं के लोगों का व्यापारिक संबंध था जो बलूचिस्तान के माध्यम से स्थापित हुआ था। सिन्धु सभ्यता की वस्तुऐं सुमेर के बाजारों में पहुंच कर वहां से मिस्र, क्रीट आदि देशों में पहूंची थीं। इन वस्तुओं में मुद्राऐं सोने, चांदी और तांबे की वस्तुऐं हाथी दांत के कंघे, आभूषण मिट्टी के पात्र और लकड़ी का सामान प्रमुख था। इसी प्रकार सुमेरियन सभ्यता की अनेक वस्तुऐं सिन्धुघाटी से प्राप्त हुई हैं। जिनमें श्वेत संगमरमर की मुद्राऐं रेखित कार्नलियन मनका, बासुली जैसा हथौड़ा भेड़ का खिलौना और मिट्टी की मुद्रिकाऐं प्रमुख थीं। उस समय समुद्र के मार्ग से भी पश्चिमी देशों से व्यापार होता था। संभवतः लोथल उस समय समुद्री बन्दरगाह था। वैदिक युग में भीं भारत से व्यापार होता था। समुद्र में सौ पतवारी वाले जहाज का उल्लेख उस समय विदेशी व्यापार को ही व्यक्त करता है। यह सही है कि भारत में आर्यों के आगमन के बाद कुछ समय के लिए देश में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अशान्ति का वातावरण फैल गया था, किन्तु आर्यों के स्थाई रूप से स्थापित हो जाने के बाद उत्तरवैदिक काल में भारत का विदेशी व्यापार पुनः चालू हो गया। पश्चिमी देशों के साहित्य में कुछ ऐसे भारतीय शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भारत में उनका आदान प्रदान होता था। ओफिर (आभीर), कोफ (कपि), कर्पस (कपास) आदि शब्द बाइबिल में मिलते हैं जो निश्चय ही भारत में पश्चिमी देशों को पहुंचे होंगे। असुर बनिपाल (7वीं सदी ई.पू.) के अभिलेख में वस्त्र के लिए 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निश्चय ही भारत के सिन्धु प्रदेश से सम्बद्ध है क्योकि सिन्धु प्रदेश विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाने के लिए विख्यात था। एशिया माइनर में बोगजकुई अभिलेख (दूसरी सदी ई.पू.) में वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि भारत का विदेशों से समुचित सम्पर्क था और उनका आपस में व्यापार होता था। उस समय सिन्धु प्रदेश के पानीदार घोड़े, शक्तिशाली रथ और ऊनी वस्त्र विश्वविख्यात थे।

बौद्ध साहित्य में भारत के विदेशी व्यापार के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उस युग में भारत का पश्चिमी और पूर्वी देशों से व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध था। भारत में कौए और मोर जैसे पक्षी भारतीय व्यापारियों द्वारा विदेशों में बेचे जाते थे। इस प्रकार के पक्षियों का विक्रय भारतीय व्यापारी बेबीलोन में जाकर किया करते थे। बावेरू जातक से विदित होता है कि पांचवी सदी ई.पू. में भारत का विदेशी व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर था। भारत की अनेक वस्तुऐं पश्चिमी देशों में लोकप्रिय थीं। मिस्र की ममी के साथ नीम तथा इमली की लकड़ी और मलमल जैसी भारतीय वस्तुऐं रखी जाती थीं। मिस्र सम्राट 'तनूखामन'की समाधि की खुदाई में विविध प्रकार की भारतीय वस्तुऐं मिली हैं। यूनान के एथेन्स नगर में भी अनेक भारतीय वस्तुऐं बिका करती थीं। पश्चिम में ऐसे देशों में भारतीय पदार्थ सूर्पारक (सोपारा) और भरूकच्छ (भरूच या भडोंच) नामक कोंकण के बन्दरगाहों से जाया करते थे। सुस्सेदि जातक में उल्लिखित हैं कि भारत में पूर्वी प्रदेश के वणिक चम्पा नामक बन्दरगाह से होते हुए, सुवर्ण भूमि की ओर जाते थे। सुवर्णभूमि के अन्तर्गत बर्मा, मलाया, स्याम, कम्बोडिश, अनाम आदि देश सम्मिलित थे। महाजनक जातक में भी ऐसे ही प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकारं जातकों में भारतीय व्यापारियों की अनेक कथाऐं दी गई हैं जो व्यापार के लिए अनेक कष्टों को झेलते हुए भिन्न – भिन्न देशों में जाते थे, व्यापार करते थे और धन कमा कर स्वदेश लौटते थे। छठी व पांचवीं सदी ई.पू. पारसीक साम्राज्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। उसके साम्राज्य की सीमा पूर्व में हिन्दुकुश को स्पर्श करती थी और पश्चिम में मिस्र, सीरिया, अरमीनिया जैसे देशों को आत्मसात् करती थी। दारा (522 ई.पू. – 486 ई.पू.) के नौसेनाध्यक्ष स्काईलेक्स ने फारस और भारत में बीच नये सामुद्रिक मार्ग को खोज निकाला था जो लाल सागर से होकर जाता था। इससे स्पष्ट है कि भारत और फारस के बीच जलमार्ग का उपयोग भी किया जाता था। भारतीय व्यापारी अपनी वस्तुओं के साथ पर्सिया से होकर मिस्र और यूनान तक पहुंचते थे तथा क्रय – विक्रय किया करते थे।

यूनानी लेखको के विवरण में भी भारत के वैदेशिक व्यापार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत और यूनान के बीचं आवागमन अत्यधिक बढ़ गया तथा दोनों देशों से व्यापारिक वस्तुओं का आदान प्रदान निर्बाध गति से प्रारंभ हो गया। यूनानी लेखक प्लिनी का कथन है कि भारतवासी नौकाओं और पोतों के निर्माण में सिद्धहस्त थे। स्ट्रेबो के उल्लेख से मिलता है कि मिस्र के टालमी शासकों के युग में अनेक यूनानी भारत की यात्रा किया करते थे तथा विभिन्न वस्तुओं का आदान – प्रदान करते थे। मिस्र के शासक फिलोडेल्फस (285 ई.पू. – 246 ई.पू.) ने व्यापारियों आदि के लिए स्वेज नहर खोल दी, जिससे पूर्वी और पश्चिमी देशों के बीच व्यापार का पर्याप्त विकास हुआ।

मौर्य काल में भारत के पश्चिमी देशों से व्यापारिक संबंध के साथ – साथ राजनीतिक संबंध भी स्थापित हुए। यूनानी राजदूत मैगस्थनीज सम्राट चन्द्रगुप्त की राज्यसभा में वर्षों तक रहा। मिस्र का राजदूतडाइमेकस बिन्दुसार के राजदरबार में रहा। सीरिया के शासक ऐंटिओकस से बिन्दुसार का घनिष्ठ संबंध था। बिन्दुसार ने सीरिया के शासक से मदिरा, अंजीर और दार्शनिक नहीं, क्योंकि उसके देश में दार्शनिकों के बेचने की कोई परम्परा नहीं हैं। अशोक के काल में तो ये संबंध और भी प्रगाढ हो गये। चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री कौटिल्य ने विदेशी व्यापार के विषय में विस्तृत चर्चा की है। उसने लिखा है कि नावाध्यक्ष नौका पर लदे हुए माल के पानी से भीग जाने पर वह उसका कर छोड़ देता था। अथवा माल की स्थिति के अनुसार कम कर वसूल करता था। बन्दरगाह पर पहुंचते ही व्यापारियों का माल वह बाजार में भेज देता था। वस्तुओं के मूल्य पर जनहित का ध्यान रखा जाता था। विदेश जाने वाले व्यापारी के लिए कौटिल्य ने लिखा है, पण्याध्यक्ष के अधीन अपने देश का कोई व्यापारी विदेश में व्यापार करने जाए और वहां किसी विपत्ति में पड़ जाये तो वह अपने माल और अपने शरीर की रक्षा करे। जब तक वह परदेश से स्वदेश से लौटे तब तक उस देश के राजा को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राप्य सारा कर चुका कर वाणिज्य व्यवहार करता रहे। इसी प्रकार यदि कोई वणिक जल मार्ग से जाकर परदेश में वाणिज्य करे तो उसे यान भाटक (नौका का भाड़ा), पथ्यदन (मार्ग में भोजन का खर्च), अपने और विदेशी माल के मूल्य में तारतम्य, यात्राकाल, भय प्रतिकार (माग में चोरों आदि के भय को दूर करने का उपक्रम) और पण्य प्रतन चारित्रय (जिस देश में जाना हो वहां का आचार व्यवहार) में जानकार होना चाहिए। कौटिल्य के विवरण से ज्ञात होता है कि चौथी सदी ई.पू. ब्रम्हा, सुवर्णद्वीप, चीन आदि विभिन्न देशों से अनेक सुन्दर वस्त्रों का आयात किया जाता था। उस समय भारत में चीनी वस्त्र अधिक लोकप्रिय थे। कालान्तर में पश्चिमोत्तर प्रान्त के कुषाण राजवंश और दक्षिण के सातवाहन राजवंश के समय भारत का विदेशी व्यापार अधिक विकसित हुआ। कुषाण राजाओं के समय भारत के व्यापारी मध्य एशिया तक जाते और भारतीय वस्तुओं का आदान प्रदान करते थे। भारत के वस्त्र, प्रसाधन सामग्री, आभूषण आदि रोम के बाजारों में बिका करते थे और उन वस्तुओं के बदले में अपार स्वर्ण भारत आता था। दक्षिण भारत के सातवाहन राजवंश के काल में भी भारत विदेशी व्यापार का अनुपम विकास हुआ। हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी और अरब सागर तीनों समुद्रों का समुचित उपयोग होता था। मिस्र, रोम, यूनान आदि देशों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र, रत्न, आभूषण, द्रव्य, प्रसाधन सामग्री आदि भारत से भेजी जाती थी। प्लिनी ने लिखा है कि रोम के निवासी भारतीय सामान को बहुत अधिक चाहते थे। वे अपार धन व्यय करके वस्तुऐं खरीदते थे। ऐसा शायद ही कोई वर्ष रहा हो जब भारतीय व्यापारी रोम से कम से कम साढे पांच करोड़ सेस्तर प्राप्त नहीं कर लेते हों। भारतीय प्रसाधन सामग्री का उपयोग करके रोम की स्त्रियाँ राग और विलास को उद्दीप्त करने लगीं तथा रोम के युवा पथ भ्रष्ट होने लगे। फलतः रोम के सीनेट को भारतीय वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। सेवेल के अनुसार रोम और भारत के बीच व्यापारिक संबंध तीसरी सदी ईस्वी तक अपनी चरम पराकाष्ठा पर था।

इस युग में चीन और पूर्वी देशों में भारतीय व्यापार का प्रसार हुआ था। बेक्ट्रिया में रहने वाले चीनी राजदूत ने वहां के बाँस और वस्त्र बिकते देखे, तब पता लगाने पर उसे बताया गया कि ये वस्तुऐं भारतीय व्यापारियों द्वारा अफगानिस्तान के मार्ग से वहां पहुंची थी। चीन से भारत का राजनैतिक और व्यापारिक संबंध बहुत पुराना था। दोनों देशों की वस्तुओं का पारस्परिक आदान प्रदान होता था। मिलिन्दपन्हो के अनुसार भी भारतीय व्यापारी सुवर्ण भूमि में जाते थे और विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं का क्रय विक्रय करते थे। गुप्त युग में विदेशी व्यापार का और अधिक विकास हुआ।

### 14.8 व्यापारिक मार्ग

भारत में प्राचीन काल से ही आन्तरिक और विदेशी व्यापार हेतु स्थल और जल दोनों मार्गों का अनुसरण किया जाता था। आर्यो ने भारत आने से पहले ही सिन्धु सभ्यता के लोग पश्चिम में सुमेर, बेबीलोन आदि स्थानों से होकर मिस्र तक पहुंचते थे। स्थल मार्ग के अतिरिक्त वे समुद्र मार्ग का भी उपयोग करते थे। तत्कालीन युग में लोथल का विकास बन्दरगाह के रूप में हुआ था, जहां पश्चिम के अनेक व्यापरिक पोत आया करते थे। हिन्दुकुश की पहाड़ियों को लांघ कर पर्सिया होते हुए भारतीय व्यापारी मध्य एशिया तक पहुंचते थे। आर्य जब भारत में प्रविष्ट हुए तब उन्होंने स्थल और जल मार्ग दोनों के माध्यम से न केवल अपना व्यापार आरंभ किया वरन् विस्तार भी किया। अनेक वाणिज्य पंथों का निर्माण हुआ जिनके द्वारा भारतीय व्यापारी दूर-दूर के प्रदेशों तक जाते थे।

ऋग्वैदिक युग के आर्य अपना व्यापार मुख्य रूप से स्थल मार्ग से ही करते थे। मार्गों और पंथों से नगर और ग्राम जुड़े हुए थे। उत्तरवैदिक काल तक भारत में अनेक राज्यों और नगरों का विकास हो चुका था और सभी नगर और ग्राम स्थल पथ द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे। अनेक वाणिज्य पंथों के अन्तर्गत कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरूकच्छ को सम्बद्ध करने वाला विन्ध्य के विशाल वन क्षेत्र का मार्ग सम्मिलित था। दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश से पूर्वी घाट और दक्षिण कौशल होकर आने वाला स्थल मार्ग था। पाणिनी ने उत्तर पथ का उल्लेख किया है, जो उत्तर भारत का विख्यात मार्ग था। कान्धार से पाटलिपुत्र तक के विस्तृत भू भाग को यह मार्ग जोडता था। इस मार्ग के पश्चिम का भाग कैस्पियन सागर तथा काला सागर होता हुआ युरोप तक चला जाता था तथा पूर्व का भाग गान्धार की राजधानी पुष्कलावती होता हुआ तक्षशिला, सिन्धु, शुतद्रि और यमुना पार कर हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र संयुक्त करता हुआ ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। पश्चिम और मध्य एशिया के अनेक देश इस मार्ग से सम्बद्ध थे।

बौद्ध युग में भी स्थल मार्गों का विकास हुआ तथा विभिन्न भागों के व्यापारीअनेकानेक मार्ग से व्यापार के लिए यात्रा किया करते थे। सुदूर पश्चिम से लेकर पूर्व तक एक विशाल लम्बा मार्ग था। महाकाव्यों में भी स्थल मार्गों की विस्तृत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चर्चा हुई है। रामायण में उपलब्ध वर्णन से विदित होता है कि उस समय नगरों और राजधानियों को जोड़ने वाले अनेक मार्ग थे जो व्यापारियों के लिए बड़े उपयोगी थे। महाभारत काल में भारत के सम्पूर्ण भाग और विख्यात नगर राज पथों से जुड़े हुए थे। मौर्य युग में राजपथ स्वच्छ और साफ रखे जाते थे। यदि कोई व्यक्ति उसे गंदा करता था तो उसे राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था। अशोक के समय देश के मार्गों का पर्याप्त विकास हुआ। अशोक का कलिंग पर आक्रमण पाटलिपुत्र और कलिंग के बीच के पथ का परिचय देता है। अशोक के विभिन्न अभिलेख, जो भारत के विभिन्न अभिलेख, जो भारत के विभिन्न स्थानों पर हैं, उसके समय के विकसित मार्गों का परिचय कराते हैं। मार्गों में स्थान स्थान पर कुऐं बने हुए थे। जहां थके हारे व्यापारी बैठकर जल पीते थे। मौर्य युग में पंथों और मार्गों की सुनियोजित व्यवस्था थी। मैगस्थनीज ने लिखा है कि हर दस विरामों के बाद दूरी दर्शक और मार्ग निर्देशक लगे होते थे। इसस व्यापारियों को स्थान की दूरी के बारे मे निश्चित जानकारी मिल जाती थी। शुंगों और सातवाहनों के युग में भी वाणिज्य पंथों का विकास हुआ तथा दक्षिण के विभिन्न नगर दक्षिण ही नहीं बल्कि उत्तर के नगरों से भी जोड़ दिये गये। गुप्तकाल में आकर ये मार्ग और भी विकसित हो गये।

व्यापार के लिए जल मार्गो का भी उपयोग किया जाता था। भारत में अनेक छोटी बड़ी नदियां होने के कारण व्यापारियों को अपना माल गन्तव्य स्थान तक ले जाने में बड़ी सुविधा होती थी। सिन्धु, झेलम, चिनाव, रावी, व्यास, सतलज और सरस्वती नदियां, पंजाब में, गंगा, जमुना, गोमती, सरयू आदि नदियां उतर भारत में, ब्रह्मपुत्र आसाम में तथा नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा आदि नदियां दक्षिण भारत में, व्यापारियों द्वारा प्रागैतिहासिक काल से उपयोग में लाई जाती थी। ऋग्वेद में आये अनेक उल्लेखों से विदित होता है कि उतर वैदिककालीन ग्रन्थों से भी सामुद्रिक व्यापार पर प्रकाश पड़ता है। उस समय समुद्री यात्रा में सौ सौ डांडे वाला पोत प्रयोग में लाये जाते थे। बौद्व साहित्य से विदित होता है कि भारतीय व्यापारियों की यात्राऐं ताम्रपर्णी और सुवर्णभूमि के साथ साथ भृगुकच्छ से होती थी ओर सुमेर और बेबीलोन तक होती थी। व्यापारी प्रायः नदियों से, समुद्र तक पहूंचते थे। एक जातक में लिखा हुआ है कि एक वाणिक पोत बेच गया था, जिसे एक नवयुवक ने क्रय कर दो लाख मुद्राओं का लाभ प्राप्त किया था। नदियों और खाड़ियों के ऊपर बहुधा सेतु का निर्माण करवाया जाता था, जिससे सामान को आसानी से पार किया जा सकता था। मौर्य युग में समुद्र और नदी मार्गो की देखरेख के लिए नावाध्यक्ष की नियुक्ति की गई थी। वह जलमार्गो का उपयोग करने वालों से कर ग्रहण करता था और उन्हे यातायात की सुविधा प्रदान करता था। पहली सदी ई.पू. में मिस्र से प्रायः तीन महिने में जहाज भारत पहूंच जाते थे। पश्चिमी देशों और भारत के बीच पोतों का आना जाना बराबर रहता थ। भारतीय व्यापारी रोम और यूनान तक जाते थे तथा वहां के यात्री भारत आते थे। मनु ने ऐसे पोतों और नावों का उल्लेख किया है, जो व्यापारिक वस्तुऐं दूर दूर तक ले जाते थे। कभी कभी नाव चालकों की लापरवाही के कारण माल नाव में ही खराब हो जाता था ऐसी स्थिति में माल की पूर्ति नाव चालक करते थे। स्ट्रेबों ने लिखा है कि उसने 120 भारतीय जलपोतों को ईरान और अरब देशों से होकर मिस्त्र की ओर जाते देखा था। कुषाणों ओर सातवाहनों के काल में सामुद्रिक व्यापार का अधिक विकास हुआ। सातवाहन वंशी शासक यज्ञश्री शातकर्णी ने जहाज के प्रकार की मुद्राओं का चलन किया। ये मुद्राऐं उस काल के सामुद्रिक व्यापार के प्रसार को प्रदर्शित करती है।

दूर दूर तक जाने वाले व्यापारियों के समूह को "सार्थ" कहा जाता था तथा उनके ज्येष्ठ व्यापारी को सार्थवाह कहा जाता था। व्यापारी प्रायः समूहों में यात्रा किया करते थे ताकि वे जंगली जानवरों ओर डाकुओं से अपनी रक्षा कर सकें। ऐसे सार्थवाह जलपोतों से देश के बाहर भी जाया करते थे और अनेक वस्तुओं का व्यापार किया करते थे। सार्थवाह ताम्रलिप्ति से चलकर यवद्वीप, कटाहद्वीप (जावा और केड़ा) से होता हुए सुवर्णभूमि जाता था। कभी कभी सार्थवाह के पोत पूर्वी द्वीपों से सुदुर पश्चिम की ओर चल पड़ते थे तथा विशाल हिन्द महासागर को लांघते हुए यवन देश की ओर बढ़ते थे। सुवर्णदीप और ताम्रलिपि के वाणिज्य का उल्लेख सोमदेव ने किया है। कालान्तर में गुप्त युग में जल मार्ग का और अधिक प्रचलन हुआ।

## 14.9 माप, तौल, मूल्य और शुल्क

प्राचीन काल से क्रय विक्रय की वस्तुऐं निश्चित माप के अनुसार तौली जाती थी। ऋग्वेद से विदित होता है कि वस्तुओं का भाव करने के बाद सौदा पक्का किया जाता था उसका मूल्य चुकाया जाता थ। उत्तर वैदिक काल में भी वस्तुओं की सुनिश्चिम माप और तोल होती थी। सौ रत्ती की तौल को शतमान कहा जाता था। उस युग में तुला शब्द का प्रयोग हो चुका था। पाणिनी ने माप और तौल का विस्तार से वर्णन किया है। वस्तु की सही तौल आवश्यक मानी गई थी, जिसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व्यवस्था राजा करता था। बौद्व युग में तुलाधर भी हुआ करते थे। कौटिल्य ने तौल और माप की विस्तृत चर्चा की है। उसके अनुसार तौल की माप (बटखरे) लोहे की बनती थी या मगध ओर मेकल से प्राप्त पत्थर की शंख जैसी वस्तुऐं के भी बटखरे बनते थे, जिन पर पानी या लेप का कोई असर नही होता था। सभी कांटो में दोनो और तुलने वाला समान ओर बांट एक साथ रखने के लिए दो पलड़े बने रहते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार के तराजुओं का उल्लेख हुआ है जो भिन्न भिन्न वस्तुओं को तौलने में पृथक पृथक रूप से प्रयोग में आते थे। मनु ने लिखा है ''तुलमान, प्रतीमन और तराजू को अच्छी तरह जांच कर परीक्षा करें तथा प्रति छह मास पर उनकी जांच कराता रहे।'' गुप्त युग में अनेक प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन था। वस्तुओं के क्रय विक्रय में उन मुद्राओं का उपयोग होता था। वस्तु का उचित मूल्य लेना श्रेयस्कर माना जाता था अनुचित रूप से बेचा गया माल सौ साल से भी लौटाया जा सकता था। अनाधिकृत रूप से बेची गई वस्तु लौटाई जा सकती थी। विक्रित वस्तु की अवैध प्रमाणित होने पर भी वह वस्तु लौटाई जा सकती थी। कभी कभी वस्तुओं की अदला बदली करके भी दूसरी वस्तुऐं प्राप्त की जा सकती थी।

व्यापारियों की वस्तु पर लगने वाला कर 'शुल्क' कहलाता था। पाणिनी के अनुसार जितना शुल्क माल पर पड़ता था, उसके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़ जाता था, जैसे पंचक तात्पर्य उस माल से था जिस पर पांच कर्षापण चुंगी लगी हो। चुंगी के कार्यालय को शुल्कशाला कहा जाता था। कोटिल्य ने शुल्क वसूल करने वाले अधिकारी को शुल्काध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने लिखा है कि शुल्काध्यक्ष द्वारा नियुक्त शुल्क वसूलने वाले चार या पांच कर्मचारी अपने सामान के साथ आये हुए व्यापारियों के सम्बन्ध में समस्त विवरण लिपिबद्व करें – व्यापारी कौन है, वह कहाँ से आया है, वह बिक्री का कितना सामान लाया है, उसने कहां और किस अन्तपाल से पण्य विशेष की परिचय विषयक मुद्रा अथवा विज्ञप्ति पत्र प्राप्त किया है और कौन कौनसा माल मुद्रांकित होकर आया है ? जो व्यापारी मुद्राविहिन सामान लाया हो उन्हे अन्तपाल को देय वर्तनी नामक कर का दूना दण्ड दिया जाय। कौटिल्य ने कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख किया है जिन पर शुल्क नही लिया जाता था। जो वस्तुऐं विवाह कार्य के उपयोग के लिए होती थी। जो सामान नव विवाहित वधु, पिता के घर से अपने पति के घर ले जा रही होती थी, अन्न क्षेत्र आदि के लिए जो सामान उपहार स्वरूप मिलता रहता था तथा यज्ञ के लिए दही, दूध जैसी वस्तुओं पर शुल्क नही लगता था। मनु के अनुसार क्रय, विक्रय, मार्ग, भोजन, चोरो की रक्षा का व्यय और लाभ को देखकर व्यापारी से कर लिया जाता था। हमें जल कर के भी अभिलेखीय प्रमाण मिले है। यह राज्य की आय का प्रधान साधन था।

## 14.10 श्रेणी संगठन का उद्भव और विकास

प्राचीनकाल में व्यापारिक समूहों को श्रेणी कहा जाता था। भिन्न भिन्न श्रेणियाँ भिन्न भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थी। भारत के आर्थिक विकास में श्रेणी संस्था का अद्वितीय योगदान रहा है। इस प्रकार की व्यापारिक संस्था का उदय वैदिक युग में हो चुका था। ऋगवेद में कहा गया है कि श्रेणी हंसों की तरह समूहों में कार्य करती थी। वस्तुतः श्रेणी संस्था का समस्त आर्थिक कार्य उसके समूह के माध्यम से होता था। श्रेष्ठि और गण जैसे शब्दों का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों से हुआ है जो श्रेणी के मुखिया की ओर संकेत करते है। सहयोग और सहकारिता के आधार पर वैश्य अर्थार्जन करते थे, इसलिए उन्हे गणशः भी कहा गया था। कौटिल्य के शिल्पकारों के समूह को श्रेणी कहा है। मिताक्षरा के अनुसार भिन्न जाति के लोगो का भिन्न संगठन श्रेणी था। जो अपनी किसी एक वस्तु का विक्रय करता था। इस प्रकार श्रेणी संगठन में नाना जाति के लोग भिन्न भिन्न शिल्पों से सम्बन्धित है। महाभारत भी श्रेणी का प्रयोग व्यापारियों के संगठन के अर्थ में किया गया है। कौषीतकी ब्राह्मण में सर्वप्रथम पूग का उल्लेख हुआ है, जहां रूद्र को पुंग का कहा गया है। बौद्व साहित्य में पूग शब्द का व्यवहार सहकारी संघ के अर्थ में हुआ है। पाणिनी ने पूग, गण, और संघ का एक साथ उल्लेख किया है। अतः पुग अथवा श्रेणी संस्थाऐं जाति पांति और ऊंच नीच के बंधन से रहित होकर एक ही ग्राम अथवा नगर में निवास करती थी।

प्रारम्भ में जब व्यवसाय प्रारम्भ हुआ तब उसका कोई संगठित स्वरूप नही था। समाज में धीरे धीरे विभिन्न व्यवसायियों और शिल्पियों का विकास होने लगा और सुविधाओं और हितों को ध्यान में रखकर व्यवस्थागत ओर शिल्पगत स्वतन्त्र संगठनों का निर्माण होने लगा और हितों को ध्यान में रखकर व्यवस्थागत ओर शिल्पगत स्वतन्त्र संगठनों का निर्माण होने लगा। इस प्रकार से बने संगठन, सामूहिक हित के साथ–साथ व्यक्तिगत हितकी भी देखरेख करते थे। समाज में इन संगठनों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा सदस्यों के पारस्परिक वाद विवाद भी आपस में सुलझने लगे। इस प्रकार संगठनात्मक संस्थाऐं पूर्ण रूपेण अधिकार सम्पन्न होने लगी। शिल्पी व्यक्तियों द्वारा दुष्कार्य किये जाने पर उन्हे अपदस्थ करने का अधिकार भी संगठन के पास था। जातकों तथा अन्य साहित्य में अनेकानेक श्रेणियों का उल्लेख है। श्रेणी प्रमुख को 'जेट्ठक' की संज्ञा दी गई थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

श्रेष्ठि का अर्थ भी श्रेष्ठ था। जो व्यापारी वर्ग में श्रेष्ठ था वही सम्भवतः श्रेष्ठि कहलाता था।

श्रेणियों का लोकतान्त्रिक आधार पर अपना पृथक संविधान होता था, जिसके अनुरूप वे कार्य करते थे। श्रेणी संगठन की एक प्रबन्धकारी समिति होती थी, जिसमें पांच, तीन या दो सदस्य होते थे। उस समिति का एक प्रधान या अध्यक्ष होता था। प्रबन्ध समिति के सदस्य कार्य निपूण, सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ, ज्ञाता, योग्य और उच्च कुल के होते थे। ऐसी भी व्यवस्था की गई कि यदि कोई व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अपने कार्य सम्पन्न नही करता था, तो उसे नगर से निष्कासित कर दिया जाता था। यदि वह अपने सहायकों के साथ लापरवाही से कार्य करता था तो उन सब पर 6 निष्क या 4 सुवर्ण दण्ड लगता था। संगठन के सुनिश्चित नियमो का उल्लंघन करने वालों को नगर से निकाल दिया जाता था। प्रबन्धकारी गलत कार्य करने वाले को प्रताड़ित भी करता था। विशेष स्थिति में राजा हस्तक्षेप कर सकता था। संस्था के किसी सदस्य का हानि पहुंचाने के उपक्रम पर राजा उस सदस्य को दण्ड देता था। राजा का इस प्रकार हस्तक्षेप विवाद की स्थिति में ही होता था, अन्यथा संगठन पूर्ण रूप से स्वतंत्र संस्था था। संगठन का एक कार्यालय भी होता था, जहां यदा कदा सदस्य सम्मिलित होकर विचारों का आदान प्रदान किया करते थे। राजा, इन संगठनों के नियमों को मान्यता देता था। सदस्य प्रायः इकट्ठे होकर सर्वसामान्य विषयों पर विचार करते थे। विचार व्यक्त करते समय यदि कोई युक्तिसंगत कथन के लिए हानि पहुंचाता था, वक्ता के बोलने पर रूकावट डालता था अथवा अनुचित बात कहता था तो उसे दण्ड मिलता था। संगठन की समस्त आय सदस्यों में समान रूप से वितरित कर दी जाती थी। श्रेणी की साधारण सभा पुराने सदस्यों को हटाकर नये सदस्य को चुन सकती थी तथा नया सदस्य तत्काल कार्य भार ग्रहण कर लेता था। जिस सदस्य को हटा दिया जाता था, वह श्रेणी के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता था। कोई भी सदस्य स्वेच्छा से त्याग पत्र भी दे सकता था। श्रेणी संगठन के विभिन्न कार्य होते थे। न्यायालयों में श्रेणी एक संगठन के रूप में मान्य था, जहां खेत, उद्यान आदि से सम्बन्धित विवादों में उसके सदस्य प्रतिनिधित्व करते थे। श्रेणी के कर्तव्य अत्यन्त महत्पूर्ण थे, जो समाज और देश के उत्थान में मुख्य भागीदार थे। वह अपने पृथक नियम बनाती थी, जिसका उल्लंघन राजद्रोह माना जाता था। उसके प्रतिनिधि उसके नाम पर न्यायालय सम्बन्धी कार्य करते थे। श्रेणी – समिति का प्रधान अध्यक्ष के रूप में कार्य करता था। श्रेणी संगठन आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न रहते थे, इसलिए उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न किये जाते थे, जो समाज और देश के हित में होते थे। श्रेणी संगठनों द्वारा विश्रामगृह, पंथशाला, सभागृह आदि विभिन्न प्रकार के जन कल्याणकारी कार्य भी सम्पन्न किये जाते थे। श्रेणी संगठनों द्वारा धर्म सम्बन्धी निर्माण कार्य भी किये जाते थे। मंदसौर अभिलेख में उल्लिखित है कि रेशम के व्यापारियों ने सूर्य का एक भव्य मंदिर निर्मित करवाया तथा कालान्तर में उसके एक भाग के टूट जाने पर पुनः उसी श्रेणी ने उसका जीर्णोद्वार करवाया। व्यापारिक श्रेणियां कभी कभी अपनी मुद्राऐं भी चलाती थी। मुद्राओं के अतिरिक्त वे मुहरों का भी प्रचलन करती थी। श्रेणियां बैंक के रूप में भी कार्य करती थी। लोगों को ऋण देती थी और ब्याज के रूप में रूपये वसूल करती थी। श्रेणियां बाजारों में क्रय विक्रय की वस्तुओं के मूल्यों पर दृष्टि रखती थी तथा अधिक लाभ कमाने वालों को नियन्त्रित करती थी। इनके द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार की भी देखभाल की जाती थी। श्रेणियों की समाज पर वैधानिक एवं न्यायिक प्रतिष्ठा निरन्तर बढ़ती गई। श्रेणियों की शक्ति बढ़ने पर उनके द्वारा सैनिक कार्य भी होने लगा। मंदसौर अभिलेख से विदित होता है कि रेशम बुनने वाली श्रेणी के लोग धनुर्विद्या में पारंगत होकर अच्छे यौद्धा बने थे।

## 14.11 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तकाल के पूर्व भारत में आर्थिक विकास काफी हो चुका था तथा व्यापार एवं वाणिज्य के माध्यम से देश निरन्तर सम्मुन्नत होता गया।

## 14.12 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. प्राक् – गुप्तयुगीन भारत के श्रेणियों के कार्य एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2. प्राक् – गुप्तयुगीन भारत में वस्त्र उद्योग की प्रगति का विवरण दीजिए।

प्रश्न 3. प्राक् – गुप्तयुगीन भारत में मुक्ता एवं रत्न उद्योग पर एक टिप्पणी लिखिए।

प्रश्न 4. प्राक् – गुप्तयुगीन भारत में रोमन साम्राज्य के साथ भारत के व्यापार का विवरण दीजिए।

प्रश्न 5. प्राक् – गुप्तयुगीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिए।

प्रश्न 6 प्राक् – गुप्तयुगीन भारत की प्रमुख आर्थिक गतिविधियों का विवरण दीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-4 : गुप्तकाल

# इकाई–15 : गुप्त साम्राज्य का उत्थान एवं पतन : गुप्त प्रशासन

**संरचना**


15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 गुप्तकाल के इतिहास को जानने के साधन

15.3 साहित्यिक सामग्री

15.3.1 धार्मिक साहित्य

15.3.2 ऐतिहासिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक साहित्य

15.3.3 पुरातत्व सामग्री

15.3.3.1 उत्कीर्ण लेख

15.3.3.2 सिक्के

15.3.3.3 भवन तथा कलाकृतियाँ

15.4 विदेशियों के विवरण

15.5 गुप्तों की जाति

15.6 गुप्तों की उत्पत्ति

15.7 प्रारम्भिक गुप्त शासक

15.7.1 श्रीगुप्त

15.7.2 धटोत्कच

15.7.3 चन्द्रगुप्त प्रथम (320ई.–335ई.)

15.7.4 समुद्रगुप्त (335ई.–375ई.)

15.7.5 रामगुप्त

15.7.6 चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा विक्रमादित्य (375ई.–414ई.)

15.7.7 फाह्यान और उसका भारत वृतान्त

15.7.8 कुमारगुप्त प्रथम (414ई.–455ई.)

15.7.9 स्कन्दगुप्त (455ई.–467ई.)

15.7.10 बाद के गुप्त शासक : गुप्तों का अवनतिकाल

15.7.11 पुरूगुप्त (467ई.–468ई.)

15.7.12 नरसिंहगुप्त बालादित्य (468ई.–472ई.)

15.7.13 कुमारगुप्त द्वितीय (472ई.–475ई.)

15.7.14 बुद्धगुप्त (477ई.–495ई.)

15.7.15 भानुगुप्त (508ई.–530ई.)

15.7.16 भानुगुप्त के उत्तराधिकारी

15.7.17 गुप्त साम्राज्य के पतन का कारण

15.7.18 गुप्त सम्राटों का शासन प्रबन्ध

15.8 सारांश


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.9 अभ्यास प्रश्नावली

## 15.0 प्रस्तावना

कुषाण साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत एक बार पुनः छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। उनमें से नागवंश तथा वाकाटक वंश के राज्यों में राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था विद्यमान था। जबकि मालव,, अर्जुनायन, लिच्छवी तथा यौधेय के राज्यों में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। ईसा की चौथी शताब्दी में इन राज्यों को समाप्त कर उनके खण्डहरों पर गुप्तवंश ने अपनी नींव रखी। डॉ. वी.ए. स्मिथ के अनुसार, चौथी शताब्दी में प्रकाश का पुनः उदय होता है। अन्धकार का पर्दा उठा जाता है और भारत के इतिहास को फिर से एकता प्राप्त होती है। गुप्तवंश का पहला सम्राट श्री गुप्त को माना जाता है, परन्तु कोई इतिहासकार उसे स्वतंत्र शासक नहीं मानते हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम को गुप्तवंश का पहला महान् सम्राट माना जाता है। जिसका राज्य प्रयाग से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। चन्द्रगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी, समुद्रगुप्त गुप्तवंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था। वह एक महान् विजेता था, जिसने उत्तरी भारत के प्रदेशों पर विजयें प्राप्त की और दक्षिण भारत के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। उसके समय में कला एवं साहित्य के क्षेत्र में असाधारण विकास हुआ। उसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा विक्रमादित्य ने अपने पिता के कार्य को पूर्ण किया। उसने अपनी विजयों, सृदृढ़ शासन प्रबन्ध तथा कला एवं साहित्य की उन्नति के द्वारा साम्राज्य के गौरव में वृद्धि की। विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त ने साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रखा। कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने भी साम्राज्य के वैभव को स्थिर रखा। स्कन्दगुंप्त के दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण छठी शताब्दी ईस्वी में इस साम्राज्य का पतन हुआ।

## 15.1 उद्देश्य

यहाँ हम गुप्त साम्राज्य के उत्थान-पतन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 15.2 गुप्तकाल के इतिहास को जानने के साधन

गुप्तकाल के इतिहास जानने के प्रमुख साधनों को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (अ) साहित्यिक सामग्री, (ब) पुरातत्व सामग्री एवं (स) विदेशियों के विवरण।

## 15.3 साहित्यिक सामग्री

### 15.3.1 धार्मिक साहित्य

धार्मिक में पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों से गुप्त शासकों के विषय में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। ऐसा माना जाता है कि अठारह पुराणों में से अधिकतर इसी काल में लिखे गए। उनसे हमें गुप्त शासकों के साम्राज्य विस्तार एवं उनकी शासन व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अवस्था के बारे में भी बाहुमूल्य ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि यह सत्य है कि पुराणों में कई काल्पिनिक बातें लिखी हुई हैं, तथापि उनसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

### 15.3.2 ऐतिहासिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक साहित्य

गुप्तकाल अथवा इस काल के कुछ समय पश्चात् के एतिहासिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक साहित्य के गुप्तकाल के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। विज्जक नामक एक नारी ने 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक की रचना की। इनमें चन्द्रगुप्त प्रथम के समय का ऐतिहासिक विवरण हैं। इन नाटक से राजनीतिक अवस्था के अतिरिक्त उस समय की सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक, से पता चलता है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका बडा पुत्र रामगुप्त शासक बना। उसने शकों से हार खाई और विवश होकर एक अपमानजनक सन्धि की जिसको उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय सहन नहीं कर सका। अतः उसने अपने भाई का वध कर दिया और स्वयं शासक बन गया। आधुनिक इतिहासकार इस कहानी को सत्य नहीं मानते हैं।

बाण भट्ट के 'हर्ष चरित' नामक ग्रन्थ से भी बाद के गुप्त शासकों तथा तत्कालीन भारतीय अवस्था के बारे में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में महायान सम्प्रदायके 'मंजूश्रीमूलकल्प' को विशेष स्थान प्राप्त है। इसकी रचना संभवतः आठवीं शताब्दी में हुई। इसमें गुप्त राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। कालिदास गुप्तकाल का एक महान् कवि तथा नाटककार था। उसने 'रघुवंश' नामक महाकाव्य की रचना की, जिसमें पूर्ववर्ती गुप्तों के शौर्य का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य रचनाओं (मेघदूत, कुमारसंभव, ऋतुमंहार) में भी गुप्तकालीन राजनीति, शासन प्रबन्ध, सामाजिक रीति – रिवाजो आदि के बारे में बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त होता है।

### 15.3.3 पुरातत्व सामग्री

गुप्तकालीन अभिलेखों, मुद्राओं और स्मारकों से भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। पुरातन संबंधी सामग्री को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–(i) उत्कीर्ण लेख सिक्के, (ii) सिक्के एवं (iii) भवन तथा कलाकृतियां।

#### 15.3.3.1 उत्कीर्ण लेख

गुप्तकाल के अनेक उत्कीर्ण लेख शिलाओं, स्तम्भों, चट्टानों, लोहस्तंभों, ताम्रपत्रों, गुफाओं आदि पर मिले हैं। इनमें समुद्रगुप्त का प्रयाग अभिलेख एक विख्यात एवं महत्वपूर्ण अभिलेख है। इसकी रचना हरिसेन ने की। इसमें 33 पंक्तियां हैं। इससे समुद्रगुप्त की विजयों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। मध्य भारत में स्थित ऐरन नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख से समुद्रगुप्त की सफलता का पता चलता है। मेहरोली अभिलेख से चन्द्रगुप्त की विजयों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। स्कन्दगुप्त के भिटरी अभिलेख से उसके पुष्यमित्रों के विरूद्ध युद्ध का विवरण प्राप्त होता है। बुद्धगुप्त तथा भानुगुप्त के अभिलेख भी उनके संबंध में महत्वपूर्ण सूचना देता हैं।

#### 15.3.3.2 सिक्के

गुप्तकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए तत्कालीन मुद्राऐं भी प्रमुख साधन है। गुप्त शासकों ने स्वर्ण, चांदी, तांबे, की मुद्राएं प्रचलित की थीं। उनसे उनके नाम, उपाधि, धर्म, चरित्र आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। जैसे समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसे वीणा बजाते हुए तथा शिकार करते हुए दिखाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वह संगीत प्रेमी तथा शिकारी था। कुमारगुप्त की मुद्राओं से उसकी धनधर्रता तथा अश्वमेघ यज्ञों का अनुमान होता है। गुप्तकाल के सिक्कों पर विष्णु की आकृति से सिद्ध हाता है कि गुप्त शासक विष्णु के उपासक थे। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल की मुद्राओं से उस समय की कला, भाषा एंव आर्थिक स्थिति के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

#### 15.3.3.3 भवन तथा कलाकृतियां

गुप्तकालीन शासकों ने भुमरा, देवगढ़, भित्तरी गांव एवं तिगांव आदि स्थानों पर कई मंदिरों का निर्माण करवाया था। उनसे उस समय के धर्म तथा कला के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। सारनाथ, सांची एवं मथुरा आदि स्थानों से गुप्तकालीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनसे उस समय की शिल्पकला के विकास के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार एलोरा तथा अजन्ता की गुफाओं के चित्र उस काल की चित्रकला तथा सामाजिक अवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं।

## 15.4 विदेशियों के विवरण

चीन यात्रियों के यात्रा वृतान्तों से भी गुप्तकाल के इतिहास के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत में आया और कई वर्षो तक यहां रहा। उसने उस समय के भारत के सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन पर प्रकाश डाला है। दो अन्य चीनी यात्री हेनसांग तथा इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत आए और उन्होंने भी अपने यात्रा वृतान्त लिखे। यद्यपि वे यात्री गुप्तकाल के आद में आये थे, फिर भी उनसे गुप्तकाल के बारे में मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है।

## 15.5 गुप्तों की जाति

गुप्त लोग किस जाति से थे? इस प्रश्न पर इतिहासकार एकमत नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गुप्त सम्राटों ने अपने उत्कीर्ण लेखों ने अपनी जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। एलेन, आयंगर व अल्तेकर ने इनके नाम के अन्त में 'गुप्त' शब्द होने से इन्हें 'वैश्य' माना है और अपने मत के समर्थन में विष्णु पुराण का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इतिहास के अनेक ब्राहम्णों के नाम के अन्त नें भी गुप्त पाया जाता है। जैसे विष्णु गुप्त, ब्रह्मण थे, इसीलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वाकाटकवंश (ब्राहम्ण) के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया था, इसीलिए उस समय अनुलोम विवाह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रचलित थे। अतः संभव है कि गुप्तों ने ब्राह्मण वंश के साथ अनुलोम विवाह किये हों। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों से यह भी विदित होता है कि क्षत्रिय एवं वैश्य दोनों ही ब्राह्मण गोत्र धारण कर लिया करते थे।

डॉ. के.पी. जायसवाल के अनुसार गुप्त लोग वास्तव में पंजाब के रहने वाले जाट थे, परन्तु वे शूद्र जाति से थे, इसलिए उन्होंने किसी भी अभिलेख में अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया। कौमुदी महोत्सव से भी यह पता चलता है कि गुप्त हिन्दू समाज की एक निम्न जाति से संबंध रखते थे। अतः उनके साथ ब्राह्मण किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते थे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार गुप्त सम्राट क्षत्रिय जाति के थे और उन्होंने प्रसिद्ध लिच्छवी वंश नामक क्षत्रिय वंश के वैवाहिक संबंध स्थापित किये थे। इसके अतिरिक्त सिरपुर प्रशस्ति में परवती गुप्त नरेश महाशिव गुप्त को चन्द्रवंशी राजपूत कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती गुप्त शासक भी क्षत्रिय होंगे। उपर्युक्त विद्वानों के मतों का अध्यन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गुप्त निश्चय ही क्षत्रिय थे।

## 15.6 गुप्तों की उत्पत्ति

गुप्त शासकों का निवास स्थान के विषय में भी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। डॉ. राय चौधरी ने गुप्तों का आदि स्थान मगध बताया है। बाद में उन्होंने प्रयाग, कौशल तथा अन्य प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित किया। समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के प्राप्ति स्थान के आधार पर अनेक विद्वानों ने गुप्तों का आदिस्थान प्रयाग और साकेत (अयोध्या) के बीच कौशम्बी को माना है। डॉ. डी.सी. गांगुली ने गुप्तों का मूल स्थान बंगाल बताया है, परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर गुप्तों का मूल निवास स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बंगाल माना जा सकता है।

## 15.7 प्रारंभिक गुप्त शासक

### 15.7.1 श्री गुप्त

गुप्तवंश के अभिलेखों से पता चलता है कि गुप्त राज्य का संस्थापक महाराज श्री गुप्त नामक नरेश था। महाराज की उपाधि से प्रतीत होता है कि वह एक साधारण सामन्त राजा या एक सीमित भू – भाग का स्वामी मात्र था। उसके शासनकाल की मुद्राऐं भी प्राप्त नहीं हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि वह एक स्वतंत्र सम्राट नहीं था। डॉ. जायसवाल के अनुसार वह प्रयाग के निकट भारशिवों के अधिनायकत्व में एक छोट से राज्य पर शासन करता था। ऐलेन के अनुसार उसका राज्य पाटलिपुत्र तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों तक ही सीमित था। चीनी यात्री इत्सिंग, जो भारत में सातवीं शताब्दी में आया, लिखता है कि चे – लि – टो (श्री गुप्त) ने मृग शिखावन (मुंगेर के पास) में यात्रियों की सुविधा के लिए एक मंदिर (चैत्य) बनवाया तथा उस मंदिर के लिए 24 गांव दान में दिये।

### 15.7.2 घटोत्कच

श्री गुप्त का उत्तराधिकारी घटोत्कच था। उसके विषय में उस काल के साधनों से कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसके पदवी भी केवल 'महाराज' मिलती है। इससे पता चलता है कि उस समय तक गुप्त वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा में संभवतः कोई वृद्धि नहीं हुई थी। वह अभी तक अधीन राजा था। ऐलन के अनुसार वह पाटलिपुत्र तथा उसके आस पास के प्रदेशों पर राज्य करता था।

### 15.7.3 चन्द्रगुप्त प्रथम (320 ई.–335ई.)

घटोत्कच के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम राजगद्दी पर बैठा। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। इसके अतिरिक्त उसकी रानी कुमारदेवी भी 'महादेवी' की पदवी से अलंकृत थी। उसके नाम के आगे 'महाराजाधिराज' की उपाधि इस बात को सूचित करती हैं कि उसने एक स्वतंत्र शासक की तरह शामन किया तथा अपने राज्य का विस्तार किया। ऐसा माना जाता है कि उसने 320 ई. से 335 ई. तक राज्य किया।

#### 15.7.3.1 लिच्छवी वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध

चन्द्रगुप्त प्रथम महत्वाकांक्षी और कुशल शासक था। उसने अपने पडौसी वैशाली तथा नेपाल के शक्तिशाली लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया। इस घटना का गुप्त साम्राज्य के इतिहास में विशेष महत्व है। प्रो. एन.एन. घोष के अनुसार, यह मिलाप गुप्त वंश को महान् बनाने में एक नये युग का द्योतक था। कुमार देवी के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सम्बन्धियों की सहायता से ही चन्द्रगुप्त सुन्दर वर्मन को परास्ता कर पाटलिपुत्र पर अधिकार कर सका था। इस विवाह के महत्व की पुष्टि समुद्रगुप्त ने अपने आपको बड़े गर्व से 'लिच्छवी दौहित्र' कहकर सम्बोधित किया है। चन्द्रगुप्त प्रथम लिच्छवी वंश के प्रति आभारी था। इसलिए तो उसके सिक्को में उसने अपने नाम तथा चित्र के साथ 'महादेवी कुमारदेवी' का नाम तथा चित्र भी अंकित करवाया था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम इस वैवाहिक सम्बन्ध के परिणामस्वरूप ही पाटलिपुत्र का भी शासक बन गया।

### 15.7.3.2 साम्राज्य विस्तार

वायु पुराण के अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्य में साकेत, प्रयाग, गंगा तथा मगध के प्रदेश सम्मिलित थे। श्रीकृष्ण स्वामी आयंकर के अनुसार लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह के पश्चात् वैशाली भी गुप्त राज्य के अन्तर्गत आ गया था। डॉ. मजूमदार ने बंगाल को भी उसके राज्य का अंग माना है। इससे स्पष्ट होता है कि उसने गंगा से लेकर बंगाल के मध्य के इन प्रदेशों पर विजय प्राप्त की होगी।

### 15.7.3.3 गुप्त संवत् चालाना

चन्द्रगुप्त ने अपने राज्यारोहण की तिथि को चिरस्मरणीय रखने के लिए एक नवीन संवत् की स्थापना की, जो गुप्त संवत् के नाम से विख्यात हुआ। इस संवत् का पहला वर्ष 26 फरवरी 320 ईस्वी से आरंभ होता है। समस्त गुप्त लेखों में यह संवत् लगभग 600 वर्षों तक प्रचलित रहा। इसकी तिथियों के अनुसार ही हम गुप्तकाल की तिथियों को ईसा की तिथियों में समझ पाते हैं।

## 15.7.4 समुद्रगुप्त 335 ई. 375 ई.

### 15.7.4.1 प्रारंभिक जीवन

समुद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन के विषय में हमें अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। सिर्फ यह पता चलता है कि उसके पिता का नाम चन्द्रगुप्त प्रथम था और उसकी माता का नाम कुमारदेवी था, जो लिच्छवी वंश से संबंध रखती थी। समुद्रगुप्त अपने आपको बड़े गर्व से 'लिच्छवी दौहित्र' कहा करता था। वह एक उच्चकोटि का विद्वान था। इस बात की पुष्टि इलाहाबाद की प्रशस्ति से होती है। दुर्भाग्य से इस प्रशस्ति का पहला भाग कुछ नष्ट हो चुका है, परन्तु इस भाग के बचे हुए शब्दों से पता चलता है कि उसने अपने पिता के समय युद्धों में सफलतापूर्वक भाग लिया था।

### 15.7.4.2 उत्तराधिकार के लिए युद्ध

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् 335 ईस्वी में समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। अपने अन्य भाईयों से बहुत अधिक योग्य होने के कारण समुद्रगुप्त को उसके पिता ने भरी राजसभा में अपना उत्तराधिकारी मनोनित कर दिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि समुद्रगुप्त को अपने भाई कच तथ अन्य संबंधियों से उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध लड़ना पड़ा था। इस युद्ध से पूर्व उसके भाईयों ने सबसे बड़े भाई कच को गद्दी पर बिठा दिया। कच नामक राजा ने कुछ समय तक शासन किया था। कच नाम सम्राट के कुछ स्वर्ण सिक्के मिले हैं। डॉ. वी.ए. स्मिथ के अनुसार कच समुद्रगुप्त का एक प्रतिद्वन्द्वि भाई था, परन्तु डॉ. राय चौधरी, फ्लीट तथा डॉ. ऐलन एवं एन.एन. घोष के अनुसार कच समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम था, बाद में अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने समुद्रगुप्त का नाम धारण कर लिया। कच और समुद्रगुप्त के सिक्के आपस में अधिक मिलते जुलते हैं। और फिर कच के सिक्के के दूसरी तरफ उसकी उपाधि 'सर्वराजोच्छेत' अंकित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा शिलालेख से पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने 'सर्वराजोच्छेता' (सब राजाओं को नष्ट करने वाला) की उपाधि धारण की थी। अतः ये सिक्के समुद्रगुप्त के अतिरिक्त और किसी के हो नहीं सकते। अतः यह विश्वास किया जाता है कि जिस प्रकार सनुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के देवगुप्त या देवराज आदि कई नाम थे, उसी प्रकार समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम कच था।

प्रयाग प्रशस्ति से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् समुद्रगुप्त को अपने भाईयों तथा अन्य सम्बन्धियों से उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध लड़ना पड़ा था। इस युद्ध में समुद्रगुप्त विजयी हुआ और 335 ईस्वी से लेकर 375 ईस्वी तक (40 वर्ष तक) राज्य किया।

### 15.7.4.3 समुद्रगुप्त के समय के इतिहास जानने के स्त्रोत :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**15.7.4.3.1 हरिसेन का इलाहाबाद (प्रयाग) स्तम्भ लेख :**

समुद्रगुप्त के शासनकाल की जानकारी का सबसे मुख्य स्त्रोत इलाहाबाद (प्रयाग) का स्तंभ लेख प्रशस्ति है। यह स्तंभ अशोककालीन है। इस पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है। इस प्रशस्ति का लेखक समुद्रगुप्त के दरबार का राजकवि हरिसेन था। इस लेख में 33 पंक्तियों का एक वाक्य है, जो संस्कृत भाषा में अंकित है। इसका कुछ भाग गद्य तथा कुछ भाग पद्य में हैं। यह लेख समुद्रगुप्त के शासनकाल में उसके अश्वमेघ यज्ञ करने से पूर्व खुदवाया गया था। डॉ. एस. त्रिपाठी के अनुसार इसकी तिथि 360 ईस्वी के लगभग मानी जा सकती है।

इस लेख से हमें समुद्रगुप्त के काल के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस अभिलेख से समुद्रगुप्त के बाल्य जीवन, व्यक्तिगत गुणों, उत्तरी व दक्षिण भारत की विजयों, विदेशी शक्तियों के साथ संबंधों, तत्कालीन राजनीतिक दशा, साहित्य, कला आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह ठीक है कि स्तंभ लेख कई स्थानों से टूटा हुआ है और लेखक ने अपने स्वामी के गुणों को बढ़ा चढ़ाकर लिखा है, परन्तु इन दोषों के होते हुए भी इस प्रशस्ति से समुद्रगुप्त के शासनकाल के बारे में बहुमूल्य ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

**15.7.4.3.2 ऐरन अभिलेख**

मध्य भारत में स्थित ऐरन नामक स्थान में भी गुप्तकाल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। यह लाल बलुआ पत्थर पर उत्कीर्ण है। इससे भी हमें समुद्रगुप्त के शासनकाल की कई घटनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

**15.7.4.3.3 सिक्के**

समुद्रगुप्त ने अपने शासनकाल में कई प्रकार की मुद्राऐं प्रचलित की थी, जो उसके चरित्र तथा शासन पर प्रकाश डालती हैं। समुद्रगुप्त को कुछ सिक्कों में हाथों में तीर कमान लिए अथवा शेर का शिकार करते हुए दिखाया गया है, जिससे पता चलता है कि वह एक वीर योद्धा एवं शिकारी था। कुछ मुद्राओं में समुद्रगुप्त को वीणा बजाते हुए दिखाया गया है, जिससे पता चजलता है, कि वह संगीत का प्रेमी था। कुछ सिक्कों में अवश्मेघ घोड़े का चित्र है, जिससे सिद्ध होता है कि उसने 'अश्वमेघ यज्ञ' किया था। कुछ सिक्कों पर विष्णु का चित्र अंकित है, इससे पता चलता है कि वह विष्णु का पुजारी था। इन सिक्कों से तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्था का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

**15.7.4.4 समुद्रगुप्त की विजए**

समुद्रगुप्त निःसंदेह एक महान विजेता था। 335 ईस्वी में जब वह शासक बना, तब भारत में कई छोटे – छोटे राज्य थे। महापद्मनन्द तथा चन्द्रगुप्त मौर्य की भांति इन छोटे – छोटे राज्यों को समाप्त करके वह भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोना चाहता था एवं अपने आपको सम्पूर्ण भारत का एक मात्र सम्राट बनाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने साम्राज्यवादी नीति अपनाई और सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के राज्यों को भी अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया।

समुद्रगुप्त एक महान विजेता था। उसने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। इसलिए डॉ. वी.ए. स्मिथ ने समुद्रगुप्त को भारतीय नेपोलियन की पदवी से सुशोभित किया है। इलाहाबाद की प्रशस्ति में लिखा है – उसने सैकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की थी। उसका शरीर शस्त्रों से लगे सैंकड़ों घावों से सुशोभित था। वह अपने भुजबल पर ही भरोसा करता था। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजय यात्रा का सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है। उसकी विजयों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

**15.7.4.5 आर्यावत (उत्तरी भारत) की विजय**

**15.7.4.5.1 आर्यावर्त पर प्रथम आक्रमण** : समुद्रगुप्त ने शासक बनने के पश्चात् आर्यावर्त के प्रदेशों पर प्रथम बार आक्रमण किया। युद्ध का प्रमुख कारण यह था कि जिस समय समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहा था, उसी समय पीछे से अच्युत (संभवतः अच्छित्र (बरेली) का शासक और नागसेन (पद्मावती का शासक) नामक नाग राजाओं ने उस समय आक्रमण कर दिया। ये दोनों शासक पाटलिपुत्र के शासक कोटकुल के संबंधी थे, परन्तु इस कठिन समय में भी समुद्रगुप्त घबराया नहीं। उसने सर्वप्रथम अच्युत और नागसेन को युद्ध में पराजित कर दिया। इसके बाद उसने कोटकुल को परास्त कर पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। पाटलिपुत्र गुप्त राजाओं की राजधानी बन गई। पाटलिपुत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की विजय गुप्तों के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना थी। इलाहाबाद प्रशस्ति की 13वीं पंक्ति पर इस अभियान का विवरण अंकित है।

**15.7.4.5.2 आर्यावर्त पर द्वितीय आक्रमण :** आर्यावर्त के प्रथम आक्रमण के पश्चात् समुद्रगुप्त दक्षिण भारत की ओर चला गया, तो अच्युत और नागसेन ने अपनी पराजय का बदला लेने का निश्चय किया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सात अन्य नागवंश के राजाओं को अपने साथ मिलाकर समुद्रगुप्त के विरूद्ध एक गुट बना लिया। यही कारण्ण था कि दक्षिणपथ से लौटने पर उसे आर्यावत पर दुबारा आक्रमण करना पड़ा। इलाहाबाद प्रशस्ति की 21 वीं पक्ति से विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने इलाहाबाद के समीप कौशाम्बी नामक सीमा पर नागवंश के नौ राजाओं को पराजित किया और फिर उन्हे मौत के घाट उतारने के बाद उनके प्रदेशो को अपने राज्य में मिला लिया। आर्यावर्त के द्वितीय आक्रमण के दौरान जिन राजाओं के राज्य को गुप्त साम्राज्य में मिलाया गया, उनके नाम तथा प्रदेश ये थे – (1) रूद्रद्रेव (बुन्देलखण्ड) (2) मतिल (बुलन्दशहर (3) नागदत (मध्यप्रदेश) (4) चन्दवर्मन दक्षिणी (राजपूताना) (5) गणपतिनाग (मथुरा (6) अच्युत (बरेली) (7) नागसेन (पदमावती) बालवर्मन (असम) नन्दी नाग मध्य (भारत)

**15.7.4.6 अटविक राज्यों की विजय**

आर्यावर्त की विजय के बाद समुद्रगुप्त ने प्रयाग प्रशक्ति के अनुसार आटविक राजाओं पर विजय प्राप्त कर उन्हे अपना परिचारक बनाया था। आटविक राज्यों में कुछ जंगली जातियां निवास करती थी, जो शांति तथा व्यवस्था भंग करती रहती थी। सम्भवतया विध्य पर्वत, मध्य भरत ओर उड़ीसा से लगे जंगली प्रदेश आटविक राज्यों के क्षेत्र थे। डॉ फ्लीट के अनुसार आटविक नरेश आधुनिक गाजीपुर (उतर प्रदेश) से जबलपुर (मध्य प्रदेश) तक फैले प्रदेशों पर राज्य करते थे। इन राज्यों के नाम इलाहाबाद प्रशस्ति पर अंकित नही है। इन विजयों के परिणामस्वरूप समुद्रगुप्त के लिए दक्षिण पथ का मार्ग खुल गया।

**15.7.4.7 दक्षिण भारत की विजय**

आर्यवर्त के प्रथम अभियान के पश्चात समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत को विजय करने की योजना बनाई। इलाहाबाद प्रशस्ति की 19 वीं तथा 20 वीं पंक्ति से विदित होता है कि उसने दक्षिण भारत के 12 राजाओं को युद्व में पराजित किया था। इन राज्यों और राजाओं के नाम निम्नलिखित है।

**1. कौशल का महेन्द्र** :– समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र से सबसे पहले कौशल राज्य की ओर बढ़ा । उस समय वहां का राजा महेन्द्र थ। जिसके राज्य में आधुनिक मध्यप्रदेश के विलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर के जिले सम्मिलित थे। समुद्रगुप्त ने सबसे पहले यहां के शासक को पराजित किया।

**2. महाकान्तार का व्याघ्रराज** : कौशल के पश्चात समुद्रगुप्त महाकान्तार राज्य की ओर बढ़ा। महाकान्तर सम्भवतः गोंडवाना का जंगल था, जिसकी राजधानी सम्भवतः सम्भलपुर थी। वहां का राजा व्याघ्रराज था।

**3 कोराल का मन्तराज** :– कोराल का सम्भवतः दक्षिण भारत का कारोड़ अथवा सोयापुर का प्रदेश था। वहां का राजा मन्तराज था।

**4. पिष्तपुर का महेन्द्रगिरी** :'– यह पस्तिपुर वर्तमान गोदावरी जिले का पीठापुरम था वहां का राजा महेन्द्रगिरी था।

**5. कोट्टुर का स्वामीदत** :– कोट्टरु गंजम जिले में था। वहां का राजा स्वामीदत्त था।

**6. एरण्डपल्ल का दमन** :– एरण्ड गंजाम जिले के चिककोल के समीप था। वहां का राजा दमन थां।

**7. कांची का विष्णुगोप** :– विष्णुगोप कांची का शासक था। कांची वर्तमान कांजीवरम् का प्राचन नाम था। यह पल्लवों की राजधानी थी तथा विष्णुगोप पल्लववंशी राजा था।

**8. अवमुक्त का नीलराज** :– अवमुक्त संभवतः गोदावरी तट का क्षेत्र था। वहां का शासक नीलराज था।

**9. वैन्गी का हस्तीवर्तन** :– वैन्गी आधुनिक पेडवेंगी है, जो मद्रास प्रान्त के कृष्णा जिले में स्थित था। वहां का राजा हस्तीवर्मन था।

**10. पालक्क का उग्रसेन** :– पालक्क संभवतः नेलोर जिले में था। वहां का राजा उग्रसेन था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**11 देवराष्ट्र का कुबेर** :– देवराष्ट्र संभवतः विजागापट्टम जिले में स्थित था। वहां का शासक कुबेर था।

**12. कुरूस्थलपुर का धनंजय** :– राजा धनंजय कुरूस्थलपुर का शासक था। कुरूस्थलपुर उतरी अरकाट में स्थित कुट्टुलुर का पुराना नाम था।

**15.7.4.8 दक्षिण में राजाओं का संघ** :– दुबरियोयिल के अनुसार दक्षिण भारत के राजाओं ने कांची के विष्णुगोप के नेतृत्व में संघबद्व होकर समुद्रगुप्त का प्रतिरोध किया था, जिसके फलस्वरूप समुद्रगुप्त पराजित हुआ और उसे वापिस लौटने के लिए विवश होना पड़ा। परन्तु अन्य इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं है। उसके अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण के बारह राजाओं को युद्व में पराजित किया था। इस बात की पुष्टि इलाहाबाद प्रशस्ति से होती है। **दक्षिण विजय – एक महान सफलता** – दक्षिण भारत के 12 राजाओं पर विजय प्राप्त करा निःसंदेह समुद्रगुप्त की एक महान सफलता थी। डॉ. बी. ए. स्मिथ ने लिखा है कि वे, अपने साथ लूटमार का सेना लेकर आया तथा इस प्रकार उसने वैसे सैनिक कारनामे किए जैसे कि 1000 वर्ष पश्चात मुसलमान आक्रमणकारी अलाउदीन ने किए। दक्षिण की सफलता से स्पष्ट होता है कि समुद्रगुप्त एक अत्यन्त वीर तथा उत्साही यौद्वा था।

समुद्रगुप्त ने दक्षिण के राजाओं को युद्व में पराजित किया और अधीनता स्वीकार करने पर उसने उनके विजय राज्य को लौटा दिए। वह केवल उन राज्यों से भेंट व राजस्व आदि लेकर ही संतुष्ट हो गया। समुद्रगुप्त ने राज्य लौटाने की नीति इसलिए अपनाई, क्योकि एक चतुर राजनीतिज्ञ की भांति वह जानता था कि यातायात के साधनों के अभाव के कारण पाटलिपुत्र के दक्षिण के राज्यों पर शासन करना तथा वहां शांति व्यवस्था बनाए रखना अत्यन्त कठिन था। इसलिए उसने इन राज्यों के प्रति उदारता की नीति अपनाकर उनको अपना तथा अपने राज्य का स्वामीभक्त मित्र बना लिया। इससे उनकी बुद्विमता तथा राजनीतिज्ञता का प्रमाण मिलता है।

**15.7.4.9 सीमान्त प्रदेशों की विजय**

समुद्रगुप्त की उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत और आटविकों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् इतनी धाक जम गई कि सीमांत राज्यों के नरेश एवं गणों के शासक उसके पराक्रम से भयभीत हो उठे। एक एक करके सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और सम्राट को सभी प्रकार के कर देना स्वीकार कर लिया। समुद्रगुप्त ने सीमान्त प्रदेशों को भी अपने राज्य मे नही मिलाया।

**(अ) पूर्वी सीमान्त प्रदेश** : इलाहाबाद प्रशस्ति की 22वीं पंक्ति के अनुसार समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करने वाले पूर्वी सीमान्त के राज्यों की संख्या 5 थी। ये राज्य निम्नलिखित थे।

1. समतट (दक्षिणी पूर्वी बंगाल), 2. कामरूप (उत्तरी आसाम), 3. देवाक (ढाका के समीप का प्रदेश), 4. नेपाल (आधुनिक नेपाल) एवं 5. कर्तृपुर (संभवतः कुमाऊं गढ़वाल तथा रूहेलखण्ड के प्रदेश) इन प्रदेशों में राजतंत्र प्रणाली थी।

**(ब) पश्चिमी सीमान्त प्रदेश** : प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार उत्तर प्रदेश के नव राज्यों ने भी समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन राज्यों में गणतंत्र व्यवस्था विद्यमान थी। वे गणराज्य निम्नलिखित जातियों के थे।

**(1) मालव** : मालव लोगों का मूलस्थान पंजाब था। कालान्तर में यह जाति राजपूताना में आकर बस गई थी। (2) **आर्जुनायन** : शायद यह जाति वर्तमान जयपुर, अलवर एवं भरतपुर में निवास करती थीं। (3) **यौधेय** : यह जाति पूर्वी पंजाब में निवास करती थीं। (4) **मुद्रक** : मुद्रक नामक जाति का झेलम और रावी के बीच के प्रदेशों पर अधिकार था। इनके राज्य की राजधानी पंजाब में साकल (स्यालकोट) थी। (5) **आमीर** : इस जाति के लोग पंजाब व पश्चिमी राजस्थान में निवास करते थे। (6) **प्रार्जुन** : प्रार्जुन जाति मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर में निवास करती थीं। (7) **सनकानीक** : यह जाति पूर्वी मालवा में निवास करती थी। (8) **काक** : संभवतः यह जाति सांची के समीप निवास करती थी एवं (9) **खण्डपरिक** : संभवतः मध्यप्रदेश के दमोह जिले में यह जाति निवास करती थी।

**15.7.4.10 विदेशी राज्यों से सम्बन्ध**

समुद्रगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति से प्रभावित होकर कई विदेशी शक्तियों ने उससे मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर लिये। इन मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को दृढ़ करने की दृष्टि से उन विदेशी राजाओं से कुछ ने समुद्रगुप्त को उपहारस्वरूप अपनी राजकुमारियां अर्पित की। कुछ ने स्थानीय वस्तुएं भेंट की और कुछ ने बहुत सा धन देकर समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कर ली। इन विदेशी शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं :–

(i) **देवपुत्र – शाही शाहानुशाही** :– देवपुत्र शाही शाहानुशाही नामक राजा संभवतः उत्तर पश्चिमी तथा उत्तर भारत के प्रदेशों पर शासन करता था। वह कुषाणों का वंशज था, जिन्हें हम किदार (छोटे) कुषाणों के नाम से जानते हैं। इस राजा ने समुद्रगुप्त के दरबार में अपने दूत को उपहारों सहित भेजा था।

(ii) **शक नृपति** : अवन्ति और सौराष्ट्र का पश्चिमी शक क्षत्रय संभवतः रूद्रसेन तृतीय था, जिसने समुद्रगुप्त के दरबार में अपने दूत को उपहारों सहित भेजा था।

(iii) **शक मुरूण्ड** : यहां दो तीन जातियों का बोध होता है, परन्तु डॉ. राय चौधरी के अनुसार शक मुरूण्ड एक ही जाति थी। सम्भवतः इस जाति का शकों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

**(iv) सिंहल (लंका)** : डॉ. राजबलि पाण्डेय के अनुसार समुद्रगुप्त के शासनकाल में लंका राज्य दुर्बल हो गया था। अतः वहां के शासक मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के पराक्रम से आतंकित होकर उसके समक्ष आत्समर्पण कर दिया। इलाहाबाद प्रशस्ति से पता चलता है कि लंका के राजा मेघवर्ण ने भी अपने दूत द्वारा समुद्रगुप्त को भेंट भेजी और बोध गया में लंका के भिक्षुओं के ठहरने के लिए एक विहार बनवाने की अनुमति मांगी, जिसे समुद्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया था। अतः लंका के राजा ने बोध गया में तीन मंजिलों का महाबोधि संघाराम नामक विहार का निर्माण करवाया, जिसमें छः कमरे थे। हेनसांग ने इस विहार का विशद् वर्णन किया है।

**(v) अन्य द्वीप** : सिंहल के अतिरिक्त अन्य कौन से द्वीपों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी, प्रयाग प्रशस्ति में उनका कहीं उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि शायद जावा, सुमात्रा और मलाया आदि द्वीपों ने भी समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी। इन द्वीपों के शासकों ने भी अपने दूतों को समुद्रगुप्त के दरबार में उपहारों सहित भेजा था। समुद्रगुप्त ने इन राज्यों के दूतों का स्वागत किया तथा उनसे उपहार स्वीकार किये।

इलाहाबाद प्रशस्ति के अनुसार विदेशी शासकों ने आतंकित होकर आत्म – समर्पण कर दिया था और अपनी कन्याओं को समुद्रगुप्त को अर्पित कर दिया था, परन्तु यह वर्णन अतिश्योक्तिपूर्ण है। संभवतः समुद्रगुप्त के समय इन राज्यों के साथ भारत के राजनैतिक और सांस्कृतिक संबन्ध बराबर के मैत्री सम्बन्ध थे, ने कि अधीन मैत्री के। हरिसन ने इलाहाबाद प्रशस्ति में अपने स्वामी समुद्रगुप्त की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा की है। अतः प्रशस्ति के विवरण के अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

### 15.7.4.11 अश्वमेघ यज्ञ

समुद्रगुप्त ने अपनी गौरवशाली विजयों की स्मृति में प्राचीन हिन्दू सम्राटों की भांति अश्वमेघ यज्ञ किया और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। इस अवसर पर उसने सोने के सिक्के जारी किये और ये सिक्के बहुत अधिक संख्या में ब्राह्मणों को दान में दिये गए थे। इन सिक्कों में एक और यज्ञ के अश्व की मूर्ति तथा दूसरी और 'अश्वमेघ पराक्रम' की गाथा अंकित थी। संभवतः समुद्रगुप्त ने यह यज्ञ अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में किया था, इसीलिए इलाहाबाद प्रशस्ति में इसका उल्लेख नहीं है।

### 15.7.4.12 साम्राज्य विस्तार

समुद्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने उत्तरी भारत वर्ष के नौ राजाओं पर विजय प्राप्त कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। आटविक राज्यों को जीतकर दक्षिण पथ के 12 राज्यों पर अपना प्रभाव स्थापित किया। पूर्व तथा पश्चिमी सीमान्त के प्रदेशों को उसने अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। शक, कुषाण तथा लंका के विदेशी राज्य भी उसको महान् सम्राट मानते थे। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थ। इस प्रकार उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर पश्चिम में चम्बल नदी तक विस्तृत था।

### 15.7.4.13 समुद्रगुप्त भारत का नेपोलियन

समुद्रगुप्त की गौरवशाली विजयों के कारण डॉ. वी.ए. स्मिथ ने उसे भारत का नेपालियन कहा है। नेपालियन फ्रान्स

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का एक महान योद्धा था, जिसने अपनी विजयों से सम्पूर्ण यूरेप को आतंकित कर दिया था। निःसंदेह समुद्रगुप्त नेपालियन की भांति एक महान विजेता था। उसने उत्तरी भारत के नौ राजाओं को पराजित किया एवं उनके राज्यों को अपने साम्राज्यों से मिला लिया। नेपालियन की भांति गुप्त सम्राट ने भी महान् विजएं प्राप्त की। उसने दक्षिणा पथ के 12 राजाओं को पराजित किया। तत्पश्चात् आटविक राज्यों पर विजय प्राप्त की तथा सीमान्त प्रदेशों को अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। इसके अतिरिक्त अनेक विदेशी शासक भी उसकी मैत्री और संरक्षतकता हेतु लालायित रहते थे। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने नेपालियनन की भांति जीवन भर युद्ध किये और विशाल साम्राज्य की स्थापना की। स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त किसी प्रकार भी नेपालियन से कम नहीं था।

कुछ अर्थों में समुद्रगुप्त नेपोलियन से भी महान् व्जिेता था। नेपालियन वाटरलू को युद्ध में निर्णायक रूप से पराजित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसका पतन हो गया और उसे एक निर्वासित जीवन बिताने को बाध्य होना पड़ा था। नेपोलियन ने अपने साम्राज्य को अपनी आंखों से छिन्न – भिन्न होते हुए देखा था। वहां पर समुद्रगुप्त किसी भी युद्ध में पराजित नहीं हुआ। वह अन्त तक केवल विजय ही विजय प्राप्त करता रहा। इस प्रकार उसने एक विशाल तथा शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया, जो कई पीढ़ियों तक विद्यमान रहा। इस प्रकार नेपोलियन अन्त में पूर्णतः असफल रहा, जबकि समुद्रगुप्त अन्त में पूर्णतया सफल और अन्त से ही किसी मनुष्य की सफलता और असफलता को आंका जाता है।

हम यह नहीं भूल सकते कि नेपोलियन अपनी योग्यता तथा वीरता द्वारा एक सिपाही से सम्राट बना था, जबकि समुद्रगुप्त राजा का एक पुत्र था, जिसे अपने पिता का राज्य विरासत में मिला था। उस राज्य को उसने अपने बाहुबल से विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। इसके अतिरिक्त नेपोलियन ने यूरोप के शक्तिशाली सम्राटों से युद्ध लड़े थे, जबकि समुद्रगुप्त ने छोटे – छोटे राज्यों के शासकों से युद्ध लड़े थे, जिनका सामरिक महत्व भारतीय इतिहास में नाम मात्र का है। अतः इस दृष्टि से समुद्रगुप्त नेपोलियन से बहुत पीछे था। यद्यपि यह सत्य है कि समुद्रगुप्त भारत का एक महान सम्राट था, जिसने भारत के छोटे – छोटे राज्यों को परास्त कर उन्हें उनके राजाओं को वापिस लौटाकर राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। समुद्रगुप्त ने विजित राष्ट्रों के साथ उदारता का परिचय दिया। उसने नेपोलियन की भांति विजित देशों को कष्ट नहीं पहुंचाये। उसने धार्मिक सहनशीलता की नीति को व्यवहारिक रूप में अपनाया और साहित्यिक क्षेत्र में भी अपने को सरस्वती का पुत्र सिद्ध किया। इस प्रकार दोनों की ध्यानपूर्वक तथा निष्पक्ष तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त नेपोलियन से बहुत आगे था।

### 15.7.4.14 समुद्रगुप्त की अन्य सफलताएं

समुद्रगुप्त अपनी अन्य सफलताओं के लिए भी इतिहास में प्रसिद्ध था। एन.एन. घोष के अनुसार 'समुद्रगुप्त केवल युद्धों में ही महान् नहीं था, जिसने अपने सारे युद्ध स्वयं जीते थे, बल्कि वह शांति की कलाओं में भी महान् था।'

### 15.7.4.15 साहित्यिक क्षेत्र में विकास

**15.7.4.15.1 समुद्रगुप्त कवि के रूप में** : इलाहाबाद प्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त एक प्रभावशाली कवि था। उसने 'कविराज' की पदवी ग्रहण की थीा। इससे स्पष्ट होता है कि उसने बहुत सी कविताओं की रचना की होगी। दुर्भाग्य से हमें उसकी कोई भी कविता प्राप्त नहीं होती। फिर भी, इलाहाबाद प्रशस्ति के अनुसार हम यह मान सकते हैं कि वह एक उच्च कोटि का कवि था।

**15.7.4.15.2 विद्वानों का संरक्षक** : इलाहाबाद प्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त एक उच्च कोटि का विद्वान था। अतः उसने अपने दरबार में कई विद्वानों को आश्रय दे रखा था। उसके दरबार में हरिसेन, असंग, वसुबन्धु आदि विद्वानों को उच्च स्थान प्राप्त था। हरिसेन ने 'इलाहाबाद' प्रशस्ति की , असंग ने महायान सूत्रालंकार की एवं वसुबन्ध ने 'अभिधर्मकोष' नामक ग्रन्थ की रचना की। समुद्रगुप्त की साहित्य में रूची थी, इसलिए साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत उन्नति हुई।

### 15.7.4.16 कला के क्षेत्र में विकास

**संगीत कला** : समुद्रगुप्त के शासनकाल में कला क्षेत्र में भी विकास हुआ। उसकी संगीत में असाधारण रूचि थी। इलाहाबाद प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने अपनी संगीत कला की निपुणता से नारद तथा तुम्बरू को चकाचौंध कर दिया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**सिक्के** : समुद्रगुप्त के काल में मुद्रा कला के क्षेत्र में भी विशेष उन्नति हुई। उसने बहुत अधिक संख्या में सिक्के जारी किये, उनमें उसके चरित्र तथा शासन प्रबन्ध के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ध्वज की मुद्राओं से उसकी प्रभुसत्ता प्रकट होती है। हाथों में तीर कमान लिए मुद्राओं से स्पष्ट होता है कि वह तीर चलाने में निपुण था। कुछ सिक्कों में वह शेर का शिकार करते हुए दिखाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उसकी शिकार में बहुत रूचि थी। कुछ सिक्कों में वह गद्दी पर बैठकर वीणा बजा रहा है, इससे सिद्ध होता है कि वह संगीत प्रेमी था। कुछ सिक्कों में अश्वमेघ घोड़े का चित्र है, इससे उसकी गौरवशाली विजयों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। उसके सिक्के कला की दृष्टि से पूर्णतः भारतीय थे। उन पर दुर्गा, लक्ष्मी, गंगा आदि भारतीय देवियों के चित्र अंकित हैं। कई सिक्कों पर विष्णु तथा गरूड़ के चित्रों का अंकित होना इस बात की पुष्टि करता है कि वह विष्णु का उपासक था। सिक्कों पर अंकित युद्ध के शस्त्र भी भारतीय हैं।

### 15.7.4.17 धार्मिक विषय के क्षेत्र में

**हिन्दू धर्म का अनुयायी** : समुद्रगुप्त हिन्दू धर्म का अनुयायी था। उसके कई सिक्कों पर विष्णु देवता या गरूड़ के चित्र अंकित हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह विष्णु का उपासक था। प्रचीन हिन्दू सम्राटों की भांति उसने 'अश्वमेघ यज्ञ' किया और इस अवसर पर ब्राह्मणों में बहुत अधिक संख्या में स्वर्ण मुद्राऐं बांटी गई। उसने हिन्दू धर्म की पवित्र भाषा संस्कृत को अपनाया तथा इसके साहित्य को प्रोत्साहन दिया।

**अन्य धर्मों के प्रति नीति** : समुद्रगुप्त ने अन्य धर्मों के प्रति धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन किया। उसने किसी भी धर्म पर अत्याचार नहीं किया। समुद्रगुप्त के दरबार में दो प्रसिद्ध विद्वान असंग तथा वसुबन्धु बौद्ध थे। डॉ. मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त ने प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान 'वसुबन्धु' को अपना मंत्री बनाया था। उसके गुणों के बारे में हरिसेन ने तो यहां तक लिखा है कि ऐसा कौनसा गुण है, जो समुद्रगुप्त में न हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त ने धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन किया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त एक महान विजेता, प्रभावशाली कवि, कुशल संगीतज्ञ, कला तथा साहित्य का महान संरक्षक था, जिसने धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन किया थां वह साम्राज्यवादी नीति का समर्थक था। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार वह कौटिल्य के सिखाए गए इन राजनीतिक सिद्वान्तो का प्रतिरूप था, जो अधिक शक्ति रखता है, वह युद्ध लड़ेगा, जिसके पास भी आवश्यक साधन है, वह शत्रु के विरूद्व कूच करेगा। यही कारण है कि वह एक विशाल तथा शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ। यदि गुप्तकाल को प्राचीन भारत के इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है, तो इसका श्रेय काफी सीमा तक समुद्रगुप्त को प्राप्त है। उसके अभाव में शायद गुप्त साम्राज्य को यह गौरव प्राप्त न हो पाता।

**15.7.4.18 समुद्रगुप्त का मूल्यांकन** : समुद्रगुप्त एक महान् सेनानायक, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रतिभाशाली कवि, कुशल संगीतज्ञ तथा कला एवं साहित्य का महान् संरक्षक था। डॉ. वी.ए. स्मिथ के अनुसार, समुद्रगुप्त एक अनुपम कार्यशक्ति वाला शासक था और उसमें नाना प्रकार की असाधारण योग्यता पाई जाती थी। '' बी.जी. गोखले ने समुद्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि, एक प्रकार से समुद्रगुप्त में वे सब तत्व मौजूद थे, जो कि भारतीय विचारधारा के अनुसार एक आदर्श नायक में होने चाहिए। '' यद्यपि समुद्रगुप्त विष्णु का उपासक था, तथापि उसने अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता की नीति को अपनाया। उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इन गौरवशाली विजयों के उपलक्ष्य में उसने 'अश्वमेघ यज्ञ' भी किया था। इसकी पुष्टि उसकी मुद्राओं से होती है।

समुद्रगुप्त शस्त्रों का धनी ही नहीं, बल्कि शास्त्रों में भी प्रवीण था। उसके दरबार में हरिसेन, असंग, वसुबन्धु आदि महान् विद्वानों को उच्च स्थान प्राप्त था। वह उच्च कोटि का कवि था। उसने 'कविराज' की उपाधि ग्रहण की थी। समुद्रगुप्त की संगीत कला में असाधारण रूचि थी। उसने अपनी संगीत कला से संगीताचार्य तुम्बरू व नारद को भी लज्जित कर दिया था। उसका संगीत प्रेम उसकी वीणा शैली के सिक्कों से भी प्रकट होता है। विद्वान होने के साथ – साथ वह दानी भी था। उसने हजारों गायों का दान किया था। समुद्रगुप्त का मूल्यांकन करते हुए डॉ. आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि इसमें कोई सन्देह नही है कि समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली एवं अनोखा था और उसने भारत के इतिहास में एक नए युग की नींव रखी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 15.7.5 रामगुप्त

समुद्रगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य का उतराधिकारी कौन हुआ, यह विवादास्पद है। गुप्त अभिलेखों के अनुसार समुद्रगुप्त का उतराधिकारी उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय था, जिसे उसके पिता ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, किन्तु कुछ विद्वानों ने साहित्य प्रमाणों के आधार पर यह माना है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त राजगद्दी पर बैठा। वह बहुत कमजोर तथा कायर शासक था। उसके गद्दी पर बैठते ही शकों ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया, जिसमें वह बुरी तरह पराजित हुआ। विवश होकर रामगुप्त को शकों से अत्यन्त ही अपमानजनक संधि करनी पड़ी। इसके अनुसार उसने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शक राजा के रनिवास में भेजना स्वीकार लिया, किन्तु रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त इस अपमान को सहन न कर सका। वह स्वयं घ्रुव देवी का वेश धारण कर शकों की छावनी में चला गया तथा ध्रुवदेवी से आलिंगन करने के लिए व्याकुल शक राजा को मारकर शकों को गुप्त राज्य से भगा दिया। इस घटना के पश्चात ध्रुवदेवी को चन्द्रगुप्त से प्रेम हो गया। अतः चन्द्रगुप्त ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त का भी वध कर दिया और ध्रुवदेवी से विवाह कर गुप्त साम्राज्य का शासक बन बैठा।

कई इतिहासकार इस कहानी के आधार पर रामगुप्त के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, परन्तु अन्य प्रमाणों से इस गाथा की पुष्टि होती है। ये प्रमाण इस प्रकार है – (1) रामगुप्त के ऐरण लेख से पता चलता है कि रामगुप्त समुद्रगुप्त का पुत्र था (2) बाणभट्ट के हर्षचरित से इस बात की पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक स्त्री के वेश में शक राजा का वध किया (3) राजेशखर ने काव्य की मीमांसा, में इस घटना का उल्लेख किया है, एवं (4) मालवा में रामगुप्त के दस ताम्र सिक्के भी प्राप्त हुए है। एन एन घोष ने इस कहानी को सत्य मानते हुए लिखा है कि , "इस नाटक (देवीचन्द्रगुप्तम) में निःसन्देह रामगुप्त के प्रति, मनुष्य तथा शासक के रूप में, लेख के काल के तथा प्रजा के घृणा के भाव प्रकट किये गए।

डॉ. राय चौधरी एवं डॉ. बनर्जी आदि रामगुप्त की ऐतिहासकिता पर संदेह करते है। उनका कहना है कि गुप्त अभिलेखों के अनुसार सम्रुदगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसके द्वारा चुना गया उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही सिंहासन पर बैठा। इसके अतिरिक्त छोटा भाई अपने ज्येष्ठ भ्राता की भर्या से विवाह नही कर सकता। गुप्त अभिलेखों में रामगुप्त का कहीं भी उल्लेख नही है और न ही रामगुप्त के सिक्के ही प्राप्त हुए है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही गद्दी पर बैठा था।

हाल ही में रामगुप्त के कुछ तांबे के सिक्के मिले है। सिक्कों पर रामगुप्त का नाम अंकित है। प्राकृत भाषा में लिपिबद्व एक अभिलेख भी प्राप्त हुआ है, जिसमे रामगुप्त के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख है। इन सिक्कों के बारे में लोगों की यह शंका है कि ये स्थानीय शासक के सिक्के है।

### 15.7.6 चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा विक्रमादित्य (375 ई.–414 ई.)

गुप्त अभिलेखों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त का योग्य पुत्र था। इसलिए समुद्रगुप्त ने उसे अपना उतराधिकारी नियुक्त किया था। चन्द्रगुप्त की माता का नाम दतादेवी थ। उसके शिलालेखों में चन्द्रगुप्त, देवराज, देवश्री आदि भी उसके नाम दिये गये है। वह इतिहास में अपनी प्रसिद्व उपाधि विक्रमादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसने कई उपाधियां ग्रहण की थी। उनमें से कतिपय ये है – विक्रमादित्य, विक्रमांक, देवश्री, नरेन्द्रचन्द्र, सिंहविक्रम तथा परम भागवत आदि। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह विक्रमादित्य उज्जैन का प्रसिद्व राजा था, जिसके दरबार में कालिदास जैसे नवरन्त थे। मथुरा के स्तम्भ लेख के आधार पर चन्ग्रगुप्त 375 ई. में गद्दी पर बैठा एवं उसने 414 ई. तक राज्य किया।

#### 15.7.6.1 वैवाहिक सम्बन्ध

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चतुर राजनीतिज्ञ की भांति नागवंश तथा वाकाटक वंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति में वृद्वि की। उसने नागकुल की राजकुमार कुबेरनामा से विवाह किया, जिससे प्रभावती नामक पुत्री उत्पन्न हुई। उस समय नागवंश शक्तिशाली वंश था, इसलिए चन्द्रगुप्त की स्थिति काफी सुदृढ बन गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नागवंश की भांति ही दूसरा शक्तिशाली राजवंश वाकाटक था। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी रानी कुबेरनाग से उत्पन्न प्रभावती का विवाह वाकाटक नरेश रूद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से भी उसकी शक्ति बढ़ी और वह शकों के विरूद्व सफलतापूर्वक युद्व कर सका।

### 15.7.6.2 चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजए

चन्दगुप्त द्वितीय योग्य पिता का योग्य पुत्र था। शासक बनने के पश्चात उसने अपने पिता की दिग्विजय की नीति को जारी रखां उसने अपने पिता के साम्राज्य में रहे, सहे व्यावधानों को नष्ट कर गुप्त साम्राज्य की ओर से अधिक विस्तृत कर दिया।

**15.7.6.2.1 गणराज्यों का विनाश** :– पश्चिमोतर भारत के कुषाण और अवन्ति के महाक्षत्रपों तथा गुप्त साम्राज्य के बीच में भद्रगण से लेकर खरपरिक गण तथा छोटे छोटे गणों की एक पतली सी दीवार थी। ये गण यद्यपि स्वतन्त्रता प्रेमी थे, तथापि इनमें एकता का अभाव थ, इसलिए वे विदेशी आक्रमण का सामना करने में असमर्थ था। अतः चन्दगुप्त द्वितीय ने इन गणराज्यों पर विजय प्राप्त की। उदयगिरी गुहा अभिलेखों से पता चला है कि चन्दगुप्त राज्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध ा स्थापित कर चुका थ। इसके पश्चात चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक विशाल सेना के साथ शक राज्य पर आक्रमण कर दिया। उस समय शक राज्य का शासक रूद्रसिंह तृतीय था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे युद्व में बुरी तरह से पराजित किया और मौत के घाट उतार दिया। इस विजय के परिणामस्वरूप सौराष्ट्र, मालवा तथा गुजरात के प्रदेश पर उसका अधिकार हो गया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सम्भवतः 395 ई और 400 ई. के बीच शकों पर विजय प्राप्त की थी।

**15.7.6.2.2 विजय का महत्व** – इस विजय से चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा में वृद्वि हुई। इसके बाद उसने शाकारि अर्थात शकों का वध करने वाला की उपाधी धारण की। इससे गुप्त साम्राज्य का विस्तार हुआ ओर उसके आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार में वृद्वि हुई।

**15.7.6.2.3 पूर्वी प्रत्यन्त राज्यों का अंत** – मेहरौली के लौह स्तम्भ लेख में चन्द्र नामक एक राजा की विजयों का वर्णन है। आज बहुत से इतिहासकार यह मानते है कि चन्द्र राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता।

मेहरौली स्तम्भ लेख से पता चला है कि समतट, दबाक और कामरूप के शासक गुप्त साम्रज्य पर आक्रमण करने हेतु बंगाल से एकत्रित हो गये थे, परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उन्हे पराजित कर दियां उसने गुप्त साम्राज्य की सीमा अब सीधी असम तक पहूंच गई। डॉ. स्मिथ के अनुसार उसने यह युद्व केवल विद्रोह का दमन करने के लिए लड़ा था, साम्राज्य विस्तार करने के लिए नही। द्वितीय ने इन गणराज्यों पर विजय प्राप्त की थी।

**15.7.6.2.4 पश्चिम भारत की विजय** :– चन्द्रगुप्त द्वितीय की सबसे महान विजय पश्चिमी भारत की विजय थी, उसके समय में मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र के प्रदेश में शकों का प्रभुत्व था। शकों से लड़ने से पूर्व ही चन्द्रगुप्त द्वितीय वाकाटक **वाहलिक के विरूद्व युद्व** :– मेहरौली के लोह स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिन्धु और उसकी सात शाखाओं को पार करके वाहलिकों को पराजित किया। उस अभियान के दौरान उसने शत्रुओं को जीतकर बल्ख तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी।

**15.7.6.3 चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार** :– चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी विजयों के द्वारा गुप्त साम्राज्यों की सीमाओं का विस्तार किया। उसके समय में गुप्त साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्बदा नदी तक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर पश्चिम में अरबसागर तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। वसुबन्धु के जीवन कथा के लेख परमारथ के अनुसार विक्रमादित्य नाम के राज की राजधानी अयोध्या थी। कुछ लेखकों के मत में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त करने के पश्चात उज्जैन की राजधानी बना लिया था। संस्कत साहित्य में भी विक्रमादित्य नाम के राजा को पाटलिपुत्र व उज्जैन दोनो का अधीश्वर कहा गया है, परन्तु वास्तव में उसकी राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। बाद में उसने उज्जैन को अपनी दूसरी राजधानी घोषित कर दिया।

**15.7.6.4 अश्वमेध यज्ञ** – एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बनने के उपलक्ष्य में सम्भवतया चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी अपने पिता की भांति अश्वमेघ यज्ञ किया था, इस अवसर पर अनेक गौ और कोटिसहस्र स्वर्ण ब्राह्मणों को दान में दिया गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 15.7.6.5 चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान विजेता होने के साथ साथ एक योग्य शासन प्रबन्धक भी था। उसने अपने विशाल साम्राज्य में सुदढ शासक प्रबन्ध की स्थापना की। जो कि मूलरूप से गुप्तकाल के अंत तक चलता रहा। चीनी यात्री फाह्यान ने भी उसके शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है।

राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी सम्राट था, जिसकी शक्तियां तथा अधिकार असीमित थे। फिर भी प्रजा की भलाई के कार्य करना वह अपना कर्तव्य समझता था। शासन प्रबन्ध में उसकी सहायता करने वाले कई योग्य मंत्री थे, जो अपने अपने विभाग का प्रबन्ध करते थे

समस्त साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था, प्रान्तों को देश अथवा युक्ति के नाम से पुकारा जाता था। प्रान्तों का शासन प्रान्तपति चलाते थे। प्रान्त के गर्वनर को उपरिक महाराज कहा जाता थां प्रातों को जिलों तथा विषयें में बांटा गया था। विषयों का प्रबन्ध विषयपति नामक अधिकारी के हाथों में होता था। प्रत्येक विषयों कई ग्रामों में बंटा होता थ। वह शासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का शासक ग्रामिल कहलाता था। इसकी सहायता के लिए गांव पंचायत की व्यवस्था थी।

राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि कर था, जो उपज का 1/3 भग लिया जाता था। इसके अतिरिक्त जुर्माना, कर, लौह कर, चमड़ा कर आदि से भी पर्याप्त आय होती थी। सरकारी कर्मचारी को निश्चित वेतन दिए जाते थे। अतः वे रिश्वतखोर नही थे। न्याय का उचित प्रबन्ध किया गया था। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार अपराधियों को दण्ड बहुत हल्के दिये जाते थे। साधारण अपराधों पर केवल जुर्माना लिया जाता था, परन्तु विद्रोह करने वाले अपराधियों तथा बार बार अपराध करने वाले अपराधियों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। मार्ग तथा सड़के पूर्णतः सुरक्षित थी। संक्षेप में, चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन प्रबन्ध उदार और प्रजा हितैषी था।

### 15.7.6.6 चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्य सफलताऐं

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कला तथा साहित्य के विकास के लिए कार्य किए। इसके अतिरिक्त धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया। इन कार्यो के कारण भी उसका शासनकाल प्राचीन भारत के इतिहास में विशेष स्थान रखता है।

**15.7.6.7 साहित्य के क्षेत्र में विकास** :– चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। वह स्वयं विद्या प्रेमी था। उच्च कोटि का साहित्यकार उसके दरबार की शोभा बढाते थे। यह विश्वास किया जाता है कि नौ बड़े विद्वान उसके दरबार के नौ रत्न थे। अनेक विद्वानों के अनुसार संस्कृत का सबसे महान कवि कालीदास उसी के समय में हुआ था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का युद्ध सचिव वीरसेन व्याकरण, न्याय मीमांसा और योग में निपुण था। उसके सिक्कों तथा शिलालेखों पर उत्कीर्ण छन्दों से पता चलता है कि उसके शासनकाल में संस्कृत साहित्य का बड़ा विकास हुआ।

**15.7.6.8 कला के क्षेत्र में विकास** :– चन्द्रगुप्त द्वितीय कला का संरक्षक था।, इसलिए उसके शासनकाल में स्थापत्य कला, शिल्पकला, चित्रकला, धातुकला, मुद्राकला आदि सभी कलाओं के क्षेत्र में बहुत अधिक विकास हुआ, उसके शासनकाल में कई मंदिर निर्मित किए गए जो आज भी उसके युग की भव्यता के साक्षी दे रहें है। महात्मा बुद्व तथा हिन्दु देवताओं की सुन्दर मूर्तियां बनाई गई। जो आज भी देखी जा सकती है अजन्ता व ग्वालियर में स्थित बाद्य की गुफाओं में बहुत सा काम इसी समय का था। उसने सोने, चांदी और तांबे के नानाविद, सिक्के जारी किए। ये बड़े सुन्दर ओर मौलिक थे। इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप से भारतीय थे। गुप्तकाल की कला के कुछ नमूने प्राप्त हुए है, जिनसे सिद्व होता हे कि उसक काल में कला की अद्भुत उन्नति हुई।

### 15.7.6.9 धार्मिक नीति

**15.7.6.9.1 हिन्दू धर्म में विश्वास** :– चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेखों से परम भागवत की उपाधि मिलती है। इसके अतिरिक्त उसके कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए है। जिन पर विष्णु के वाहन गरूड़ का चित्र अंकित है। इसे स्पष्ट होता है कि वह हिन्दु धर्म की वैष्णव शाखा का अनुयायी था। उसने हिन्दु धर्म पुनुरूत्थान में महत्वपूर्ण भाग लिया। उस समय सरकार ब्राह्मणों को दान देती थी। इसके अतिरिक्त उसने हिन्दु धर्म की पवित्र भाषा संस्कृत के विकास के लिए भी प्रयास किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**15.7.6.9.2 धार्मिक सहनशीलता** :– यद्यपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य हिन्दु धर्म का अनुयायी था, तथापि अन्य धर्मो के प्रति वह घृणा का भाव नही रखता था । इसके विपरित उसने धार्मिक सहशीनलता की नीति के व्यावहारिक रूप में अपनाया। शासन प्रबन्ध के मामलें में वह धर्म के भेदभाव का कोई ख्याल नही करता था। फाह्यान के अनुसार उसके शासनकाल में बौद्व विहारों को सरकार की ओर से सहायता दी जाती थी। कर्मचारियों की नियुक्ति में कभी वह धर्म को आधार नहीं बनाता थ। सभी धर्मावलम्बी उसके पदाधिकारी थे। हमें यह भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति अमर कर्ड देव एक बौद्व था। चीनी यात्री फाह्यान ने भी उसकी दानशीलता तथा धार्मिक सहनशीलता की प्रशंसा की है।

**15.7.6.10 चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकन** – चन्द्रगुप्त एक महान् शासक एवं विजेता था। उसने गुप्त साम्राज्य का विस्तार किया । कूटनीति एवं व्यवहार कुशलता मे वह शिवाजी जैसा था। वह पात्रानुकुल व्यवहार करता था। शक राजा जैसे नीच प्रस्ताव करने वाले का उसने ध्रुवदेवी के वेश में जो वध किया, यह सर्वथा नीति संगत था। गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्वि करने के लिए अपने भाई रामगुप्त का वध किया, उसे भी न्याय संगत कहा जा सकता है। युद्व के साथ साथ अन्य राजनीतिक साधनों का भी सहरा लेता थां नागों तथा वाकाटकों से वैवाहिक सम्भ्ध स्थापित कर उसने अपने सहयोगी एवं समर्थको की संख्या में वृद्वि कर ली । इसमें उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता की पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने विशाल साम्राज्य में सुदृढ़ शासन व्यवस्था स्थापित की थी, जो गुप्तकाल के अन्त तक चलती रही। वह कला तथा साहित्य का भी महान् संरक्षक था। यद्यपि वह हिन्दू धर्म का अनुयायी था, तथापि उसने अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता की नीति को व्यवहारिक रूप में अपनाया। उसने अपने लगभग 35 वर्षो के शासनकाल में बहुत सी सफलताएं प्राप्त की। वास्तव में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भारतवर्ष का महानतम् सम्राट था, जिसे अपने पिता समुद्रगुप्त के साम्राज्य में चार चांद लगा दिये। उसके समय में भारत ने चहुंमुखी उन्नति की। उसके महान् कार्यों के कारण ही गुप्तकाल प्राचीन भारत के इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहलाता है। अतः कुछ इतिहासकार उसकी तुलना प्रसिद्ध मुगल सम्राट शाहजहां के साथ करते हैं। श्री मजूमदार ने लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राजनैतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जीवन के नवीन युग को उन्नत स्थिति तक पहुंचाया तथा लोक ह्रदय में अपना स्थान बना लिया।

### 15.7.7 फाह्यान और उसका भारत का वृतान्त

**15.7.7.1 फाह्यान का आगमन** : प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में भारत आया था। फाह्यान का मूल नाम कुग था। जब वह तीन वर्ष का हुआ, तब उसे बौद्ध धर्म ग्रहण करवा दिया। फाह्यान उसका धार्मिक नाम था। जिसका अर्थ होता है। 'धर्म प्रकाश' वह बौद्ध धर्म के धार्मिक स्थानों की यात्रा करने तथा बौद्धों के पवित्र ग्रंथों का अध्ययन करने के उद्देश्य से भारत आया। वह 65 वर्ष की आयु में 399 ईस्वी में अपने चार अन्य साथियों के साथ चांगन से भारत की यात्रा के लिए निकल पड़ा। गोबी के रेगिस्थन को पार कर वह खोतान, पामीर, स्वात और गान्धार होता हुआ पेशावर पहुंचा। मार्ग में उसे अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। पेशावर में उसने सभी बौद्ध स्थानों के दर्शन किये। इसके पश्चात् पंजाब का भ्रमण किया, फिर मथुरा, कन्नौज तथा काशी आदि नगरों में गया। उसने कपिलवस्तु, गया, सारनाथ, कुशीनगर आदि बौद्धों के तीर्थ स्थानों की यात्रा की। इसके बाद वह तीन वर्ष तक चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा। अन्त में ताम्रलिप्ति/बंगाल बन्दरगाह से जहाज में सवार होकर लंगा, जावा तथा सुमात्रा होता हुआ अपने देश चीन लौट गया। फाह्यान की इस यात्रा में कुल 15 वर्ष लगे, जिनमें से सात वर्ष (405–411 ईस्वी) उसने भारत में व्यतीत किये।

**15.7.7.2 फाह्यान का भारत वृतान्त** :

भारत में फाह्यान ने अपना सम्पूर्ण समय बौद्ध पुस्तकों के संकलन में बिताया, परन्तु फिर भी उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। यह आश्चर्य की बात है कि उसने सात वर्ष तक भारत में रहने के बावजूद भी अपने यात्रा विवरण में तत्कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम तक का उल्लेख नहीं किया है।

**15.7.7.2.1 पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में** – फाह्यान पाटलिपुत्र में तीन वर्ष तक रहकर संस्कृत सीखता रहा। इस नगर के विषय में उसने लिखा है कि यहां दो शानदार तथा सुन्दर मठ थे। एक हीनयान शाखा का एवं दूसरा महायान शाखा का। दोनों विहारों में छः सात सौ विद्वान भिक्षु निवास करते थे जो कि उच्च कोटि के विद्वान थे तथा पवित्र जीवन व्यतीत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करते थे। अशोक के राजप्रसाद का वैभव देखकर फाह्यान चकित हो उठा था। उसने लिखा है कि इस नगर के महल देवी देवताओं ने बनाये हैं। प्राचीर और मेहराब पत्थर से बने हुए हैं जिनके ऊपर संगत राशि और शिल्पकारी किसी भी मनुष्य के हाथों से नहीं हुई है।

फाह्यान के अनुसार पाटलिपुत्र एक समृद्धिशाली नगर था। वह लिखता है कि, इस प्रदेश के निवासी धर्म तथा दान के आचरण में परस्पर स्पर्द्धा करते थे। प्रतिवर्ष दूसरे माह के आठवें दिन महात्मा बुद्व तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों का नगर में जुलुस निकला जाता था। इन मूर्तियों को बीस गाड़ियों मे खूब सजाया जाता था। ब्राहमण भी बुद्ध मूर्तियों का स्वागत करते थे। आर.सी. दत के शब्दों में ईसा की पांचवी शताब्दी में बौद्व धर्म ने बिगड़कर जो मूर्ति पूजा का रूप धारण किया था, उसका यहां आंखो देखा अमूल्य वृतान्त है'' पाटलिपुत्र के लोग धनी तथा दानी थे। वैश्य कुलों में नगर ने एक विशाल चिकित्सालय खोल रखा था, जहां रोगियों का निःशुल्क उपचार किया जाता था तथा उनके भोजन की व्यवस्था भी निःशुल्क होती थी। यहां के लोग पड़ौसियों के प्रति बड़े उदार थे। लोग दान मे एक दूसरे से आगे बढ़ जाने का यत्न करते थे।

**15.7.7.2.2 राजनीतिक अवस्था के सम्बन्ध में :–** फाह्यान के चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की राजनीतिक अवस्था का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी एवं उस समय की सरकार नरम व प्रजा हितैशी थी। लोागों को न तो अपने मकानों का पंजीकरण कराना पड़ता था ओर न न्यायाधीशों के यहां हाजिरी देनी पड़ती थी। सरकार लोगों के जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करनी थी लोग स्वतन्त्रतापूर्वक कही भी आ जा सकते थे। अन्यथा बस सकते थे। फाह्यान लिखता है कि ''लोग जहां भी जाना चाहते थे, चले जाते है, जहां कही ठहरना चाहते है, ठहर जाते है। उन्हे न तो सरकारी रजिस्टरों में अपने नाम दर्ज करवाने पड़ते है और न ही न्यायाधिशों के पास जाने का कष्ट उठाना पड़ता है।''

फाह्यान के अनुसार उस समय दण्ड विधान नरम था। शासन प्रबन्ध उदार नियमों पर आधारित था। मृत्यु दण्ड का विधान न था। साधारण अपराधो के लिए जुर्माना किया जाता था। बार बार अपराध करने वाले तथा विद्रोह करने वाले अपराधियों का दाहिना हाथ काट दिया जाता था। मार्ग तथा सड़के सुरक्षित थी और चोरी डाके का नामोनिशान नही था। फाह्यान लिखता हे कि उसने हजारो मील की यात्रा भारत में की थी परन्तु उसे किसी ने लूटने का यत्न नही किया।

सरकार की आय का प्रमुख साधन भूमि कर था। किसान इस कर को इच्छानुसार नकद या धन के रूप में अदा कर सकते थे। सरकारी कर्मचारियों को निश्चित वेतन दिये जाते थे और वे रिश्वतखोर नही होते थे। यात्रियों की सुविधा की सुविधा के लिए स्थान स्थान पर विश्रामगृह बने हुए थे। फाह्यान के वर्णन से स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन प्रबन्ध सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित था। परन्तु डॉ. आर.सी. त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि,''यह वास्तविक होने की अपेक्षा काल्पनिक अधिक प्रतीत होता है–''

**15.7.7.2.3 सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में :–** फाह्यान के वृतान्त से हमें मध्यप्रदेश की सामाजिक अवस्था के बारे में मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है। वह लिखता है, ''समस्त देश में न तो कोई जीव की हत्या करता है ओर न ही प्याज, लहसुन खाता है, इस देश में लोग सुअर और मुर्गियाँ नही पालते, पशुओं का व्यापार भीं नही होता है और बाजारों में कसाई की कोई दुकान अथवा मदिरालय भी नही है।'' इससे स्पष्ट होता है कि उस समय की साधारण जनता शाकाहारी थी और अहिंसा के सिद्धान्त पर आचरण करती थी। लोग स्वभाव से दयालु तथा दानी थे और शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे।

समाज में कुछ ऐसे नीच जाति के लोग भी थे जिन्हे चाण्डाल कहा जाता था। वे शुद्ध जीवन व्यतीत नहीं करते थे। वे पशु-पक्षियों का शिकार करते थे और मांस, प्याज और लहसुन भी खाते थे। इसलिए आम जनता उनसे छुआ छूत करती थी। वे नगर औरन गांव के छोर पर रहते थे। जब कभी वे नगर अथवा बाजार में आते, तो लकड़ी बजाते हुए चलते थे ताकि लोग सावधान हो जाएं एवं उनसे दूर रहने का प्रबन्ध कर लें। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में समाज में अस्पृश्यता की बुराई आम प्रचलित थी।

**15.7.7.2.4 आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में –** फाह्यान के वृतान्त से पता चलता है कि उस समय प्रजा सुखी और समृद्ध थी। कृषकों तथा मजदूरों की स्थिति अच्छी थी। उस समय मूर्ति उद्योग उन्नत अवस्था में था। फाह्यान के अनुसार क्रय – विक्रय के लिए कौड़ियों का प्रयोग होता था परन्तु उसका यह कथन सही प्रतीत नहीं होता। शायद साध



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ारण और थोड़े मूल्य की वस्तु के क्रय विक्रस के लिए कौड़ि का प्रयोग होता था, परन्तु बड़े पैमाने को व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। जहाजों द्वारा भारत का सामान विदेशों में जाता था। भडौंच, कैम्बे तथा ताम्रलिप्ति भारत के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। फाह्यान ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से एक जहाज द्वारा अपने देश चीन को लौटा था।

**15.7.7.2.5 धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध में :** फाह्यान के वृतान्त में हमें उस समय की धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध मे मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है। उसके अनुसार पूर्व तुर्किस्तान, खोतान और काबुल में बौद्ध धर्म पूर्णतया प्रचलित था। पूर्वी तुकिस्तान के लोग हीनयान सम्प्रदाय के तथा काबुल के लाभ महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। फाह्यान के अनुसार पंजाब, मथुरा तथा बंगाल में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार था। मथुरा में ही उसने बीस मठ देखे, जिनमें 3000 भिक्षु रहते थे। जनता बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धांत का व्यवहारिक रूप से पालन करतीथी और बौद्ध भिक्षुओं की राजय की ओर से सहायता दी जाती थी किन्तु मध्य प्रदेश में यह धर्म लोकप्रिय नहीं था। क्योंकि चीनी यात्री ने मध्य प्रदेश के बडे बडे नगरों में केवल एक अथव दो मठ देखे और कहीं कही ं तो उनका सर्वथा अभाव था। मध्यप्रदेश में हिन्दू धर्म का बोलबाला था। फाह्यान ने लिखा है कि कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि बौद्ध तीर्थस्थल उजाड़ हो चुके थे और बौद्ध गया के चारों तरफ अब जंगल ही जंगल दिखाई देता था। उसके यात्रा वृतान्त से पता चलता है किराजा स्वयं वैष्णव धर्म का अनुयायी था परन्तु वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था। हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के लोग मिल जुलकर रहते थे। गुप्त सम्राट ब्राहम्णों और बौद्ध भिक्षुओं दोनों को सहायता देता था। बौद्धों के प्रत्येक वर्ष बडे बडे नगरों में निकाले गये जलूसों में ब्राह्मण शामिल होते थे। इस प्रकार फाह्यान के यात्रा विवरण से गुप्तकाल में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्था पर प्रकाश डालता है। यद्यपि उसने अपने विवरण में धर्म सम्बन्धी बातों पर अधिक जोर दिया है और उसका राजनीतिक विवरण भी अधूरा है। फिर भी उसके वर्णन से चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। उस काल के अन्य स्त्रोतों से कम होने के कारण उसका वृतान्त और भी मूल्यवान बन जाता है।

## 15.7.8 कुमारगुप्त प्रथम (414 ई.–455 ई.)

**15.7.8.1 कुमारगुप्त का साम्राज्य –** चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त महेन्द्रदित्य राजगद्दी पर बैठा। उसके इसी नाम के वंशज से भेद दिखाने के लिए उसे कुमारगुप्त प्रथम भी कहा जाता है। उसने 414 ई. से 455 ई. तक राज्य किया। उसने अपने पिता के विशाल साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रखा। उसके काल में साम्राज्य की एकता तथा शक्ति पहले की तरह बनी रही। उसके लेखों तथा सिक्कों से ज्ञात होता है कि दूर दूर के प्रान्त उसके अधिकार में थे। उसके समय से गुप्तों का साम्राज्य सारे भारत पर बना रहा। मन्दसौर शिलालेख से पता चलता है कि वह चारों तरफ की चंचल लहरों से घिरी पृथ्वी पर शासन करता था। उसके शासनकाल में गुप्त साम्राज्य में शांति, स्थिरता, सुव्यवस्था एवं समृद्धि बनी रही।

**15.7.8.2 अश्वमेद्य यज्ञ –** कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पितामह समुद्रगुप्त की भांति अश्वमेघ यज्ञ किया और तत्पश्चात श्री अश्वमेघ महेन्द्र की उपाधि ग्रहण की। इस अश्वमैध शैली के सोने के सिक्के भी मिले है, जिसमें एक और यज्ञ के स्तम्भ में बंधा अश्व तथा दूसरी और हाथ में चंवर लिए राजमहिषी की मूर्ति है। उन सिक्कों पर महेन्द्र की उपाधि ा अंकित है। पर यह यज्ञ उसने किन विजयों के उपलक्ष्य में किया था, इसका पता नही चलता, क्योंकि प्राप्त अभिलेखों से उसकी विजयों पर कोई प्रकाश नही पड़ता। महेन्द्र के अलावा, नरेन्द्र, अजित, महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्र कर्माजित, महेन्द्रादित्य आदि उपाधियो भी उसके सिक्कों पर मिली है।

**15.7.8.3 पुष्यमित्रों सें युद्व :–** भितरी स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के जीवन के अंतिम वर्षो में पुष्यमित्र नामक जाति आक्रान्ता हो गई। इसके प्रमुख दो कारण थे – प्रथम, इस जाति की शक्ति बहुत बढ़ गई थी एवं द्वितीय, कुमारगुप्त वृद्व एवं रूग्ण हो गया था। इन कारणों से पुष्यमित्र नामक जाति ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। कुमारगुप्त प्रथम ने अपने योग्य पुत्र स्कन्दगुप्त को सेना सहित इस विद्राह को दबाने के लिए भेजा। एक भयानक युद्व हुआ, जिसे स्कन्दगुप्त अंत में विजयी होकर लौटा।

**15.7.8.4 हुणों का आक्रमण :–** डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार कुमारगुप्त के समय में पुष्यमित्रों से कही बड़ा संकट हूणों के आक्रमण से उपस्थित हुआ। हुण भारत की पश्चिमोतर सीमा से पहले ही टकरा रहे थे। उन्हे कुमारगुप्त की शिथिलता का ज्यों ही पता लगा, त्यों ही उन्होने भारत पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से गुप्तों की 'कुल लक्ष्मी'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विचलित हो गई। इस आक्रमण का सामना करने के लिए राजकुमार स्कन्दगुप्त को भेजा गया। युद्ध में स्कन्दगुप्त ने शत्रु के दांत खट्टे कर दिये। इस युद्ध में हूण पराजित हुए और युवराज ने विचलित कुल लक्ष्मी स्तम्भित कर ली। इस विजय से गुप्त वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा फिर से स्थापित हुई, परन्तु विद्वानों के अनुसार स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठने के बाद हूणों से युद्ध करना पड़ा।

**15.7.8.5 कला के क्षेत्र में विकास** : कुमारगुप्त कला का संरक्षक था। अतः उसके काल में भवन निर्माण कला, शिल्पकला तथा मुद्राकला अपने विकास चरम शिखर पर जा पहुंची। उसने कई मंदिरों का निर्माण करवाया। बुद्ध, जैन तीर्थकरों तथा हिन्दू देवताओं की सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ। उनसे अनेक शैलियों के सिक्के चलाये, जिन पर हाथ तथा मोर के चित्र अंकित थे।

**15.7.8.6 धर्म :** कुमारगुप्त वैष्णव धर्म का अनुयायी था, किन्तु दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसने हिन्दू धर्मों का विकास करने के साथ–साथ जैनियों तथा बौद्धों की भी सहायता की और उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की। उसके शासनकाल में बुद्ध, सूर्य एवं शिव की पूजा होती थी। उसने नालन्दा में बौद्ध विहार की स्थापना की थी। कुमारगुप्त के कुछ सोने और चांदी के सिक्कों से पता चलता है कि उसने संभवतः विष्णु के स्थान पर कार्तिकेय को अपना इष्ट देवता मान लिया था।

**15.7.8.7 कुमारगुप्त का मूल्यांकन** : कुमारगुप्त 40 वर्ष तक शासन करने के बाद 455 ईस्वी में परलोक सिध ाार गया। उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त विशाल साम्राज्य की रक्षा की और उस समृद्ध तथा विस्तृत बना दिया। वस्तुतः उसके समय तक गुप्तों का प्रताप सूर्य मध्यान्ह स्थान पर पहुंच गया। कुमारगुप्त की प्रभुपता का परिचय उसकी उपाधियों से भी मिलता है। इन सबसे स्पष्ट है कि वह एक महान् गुप्त सम्राट था। अतः उसका शासनकाल भी स्वर्णयुग का एक भाग माना जाता है।

### 15.7.9 स्कन्दगुप्त (455 ईस्वी – 467 ईस्वी)

**15.7.9.1 राजगद्दी के लिए युद्ध** : कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसका योग्य पुत्र स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। आर्य मूंजू श्री मूलकल्प से इस बात की पुष्टि होती है, परन्तु कुछ इतिहासकारों के अनुसार राज्य प्राप्ति के लिए स्कन्दगुप्त को संभवतः अपने भाईयों घाटोत्कच तथा पुरूगुप्त के साथ उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध लडना पडा। कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के अंतिमववर्षें में स्कन्दगुप्त पुश्यमित्र नामक जाति के विद्रोह का दमन करने के लिए गया था, तो उसे अपने भाईयों से युद्ध करना पड़ा। इस उत्तराधिकारी युद्ध में स्कन्द विजयी हुआ और कुमारगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी बना। श्री पी.एल. गुप्ता भीं इसी मत का समर्थन करते हैं। उसने 455 ईस्वी से 467 ईस्वी तक राज्य किया। उसने अपने दादा श्री 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की।

**15.7.9.2 हूणों के साथ संघर्ष** : भीतरी स्तम्भ लेख से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त ने एक भीषण युद्ध में हूणों को पराजित किया था। हूण मध्य एशिया की एक क्रूर तथा असभ्य जाति थी। उसने संसार के विभिन्न भागों में आक्रमण किये थे। ईरान व रोम (यूरोप) ने हूणों के सामने घुटने टेक दिये थे। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में इस जाति की एक शाखा ने पूरी शक्ति केसाथ भारत पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने भीषण प्रचण्डता से उनका सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया और उन्हे युद्ध में बुरी तरह से पराजित किया। शायद वह यूरोप तथा एशिया का पहला महान यौद्धा था।, जिसने न केवल हूणों को परास्त किया, बल्कि उन प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त की, जो हूणों के अधिकार में थे। स्कन्दगुप्त की हूणों पर विजय निश्चय ही उसकी एक महान उपलब्धि थी। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने भितरी में भगवान विष्णु की प्रतिमा स्थापित करवाई और उस मंदिर के विजय ध्वज स्तम्भ पर एक लेख अंकित करवाया। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य के आन्तरिक विद्राहों का भी दमन किया। इस प्रकार उसने अपनी वीरता के आधार पर गुप्त साम्राज्य का ज्यों का त्यों बनाये रखा।

**15.7.9.3 सुदर्शन झील का पुनर्निमाण** – स्कन्दगुप्त के शासनकाल की एक अन्य प्रसिद्ध घटना सुदर्शन झील की मरम्मत थी। इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के एक प्रान्तीय शासक पुष्यमित्र वैश्य ने सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत के पास कराया था, जिसमें से बाद में अशोक ने सिंचाई के लिए नहरें निकलवाई थी। और रूद्रदामन ने इसकी मरम्मत करवाई थी। स्कन्दगुप्त के समय अतिवृद्वि से इस झील का बांध पुनः टूट गया था। जिससे सौराष्ट्र के लोगों को कष्ट होने लगा। इस अवसर पर सौराष्ट्र के गवर्नर पर्णपद तथा उसके पुत्र चक्रपालित ने मिलकर झील के किनारों को पुनर्निमाण करवाया तथा गिरनार के लोगों को विपत्ती से बचा लिया। चक्रपालित ने इस झील के बांध पर विष्णु का एक मंदिर बनाया।

**15.7.9.4 धर्म :–** स्कन्दगुप्त अपने पूर्वजों की भांति विष्णु का उपासक था। फिर भी उसने धार्मिक सहनशीलता की नीति को जारी रखी उसके शासनकाल में प्रजा धर्म के मामलों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र थी। विष्णु के साथ साथ अन्य देवी देवताओं की पूजा भी प्रचलित थी। कहौम अभिलेख से पता चलता है कि मद्र नामक एक व्यक्ति ने जैन तीर्थंकरों की पत्थर की पांच मूर्तियां स्थापित कराई। इसी प्रकार महात्मा बुद्व की मूर्तियां बनाई गई। उसके काल में ब्राहमण धर्म के साथ साथ बौद्वों तथा जैनियों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

**15.7.9.5 मूल्यांकन :–** स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अंतिम महान सम्राट था। उसने हूणों का सामना करने में पानी तकी तरह धन बहाया इसी काल में उसे अपने अंतिम दिनों में मिश्रित धातु के सिक्के चलाने पड़े। आन्तरिक ओर बाह्य कठिनाईयों के बावजूद भी वह अपने साम्राज्य की रक्षा करने में सफल रहा। 467 ई. में वह इस लोक से विदा हो गया। श्री.आर.एन. डुण्डेकर ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है –"स्कन्दगुप्त सबसे उंची प्रशसा का अधिकारी है, जो निःसंदेह हूणों को पराजित करते वाला युरोप और एशिया का प्रथम वीर था। उसकी बुद्विमतापूर्ण शासन, उसकी स्वदेश भक्ति सम्बन्धी इच्छाऐं, इन सबने स्कन्दगुप्त को सबसे महान गुप्त सम्राटों में से एक बना दिया है। स्कन्दगुप्त ने हुणों द्वारा देश की बर्बादी को अगले पचास वर्षो तक के लिए रोककर भारत की महान सेवा की।"

### 15.7.10 बाद के गुप्त शासक : गुप्तों का अवनतिकाल

स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अंतिम महान् सम्राट था। उसकी मृत्यु 467 ईस्वी में हो गई। इसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में एक दो को छोडकर अन्य सब अयोग्य तथा असफल शासक सिद्ध हुए। परिणामस्वरूप गुप्तवंश का गौरव निरन्तर क्षीण होता गया। बाद के गुप्त शासकों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

### 15.7.11 पुरूगुप्त (467–468 ईस्वी)

स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका सौतेला भाई पुरूगुप्त सिंहासन पर बैठा। पुरूगुप्त वृद्धावस्था में शासक बना था, इसलिए उसका शासनकाल अल्पकालीन रहा। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'श्री विक्रम' एवं 'प्रकाशदित्य' की उपाधि धारण की थी। डॉ. राजबली पाण्डेय का मानना है कि श्री विक्रम से इस बात का संकगेत मिलता है कि शायद उसकी हूणों से मुठभेड़ हुई थी। उसके साम्राज्य विस्तार और कार्यकारिणी के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मन्दसौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके शासनकाल में उसका चाचा गोविन्दगुप्त मालवा में स्वतंत्र हो गया था। इससे स्पष्ट है कि दूर प्रान्तों में असंतोष और स्वतमंत्र होने की भावना बलवती होती जा रही थी।

### 15.7.12 नरसिंहगुप्त बालादित्य (468–472 ईस्वी)

पुरूगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंह गुप्त गद्दी पर बैठा। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने बालिदित्य की उपाधि धारण की थी। उसके साम्राज्य विस्तार और कार्यकलापों के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वह गुप्तवंश का पहला राजा था, जिसने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया।

### 15.7.13 कुमारगुप्त द्वितीय (472 ईस्वी–475 ईस्वी)

नरसिंहगुप्त की मृत्यु के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'कर्मादित्य' की उपाधि धारण की थी। मन्दसौर लेख से पता चलता है कि मालवा का उसका अधिकार था। कुमारगुप्त द्वितीय वैष्णव धर्म का अनुयायी था। इसलिए भितरी मुद्रा लेख में उसके नाम के साथ परम भागवत् की उपाधि प्रयुक्त हुई है। उसके शासनकाल में रेशम, जुलाहों की एक श्रेणी ने दशपुर के उस सूर्य मंदिर का जीर्णोद्वार कराया, जिसका निर्माण कुमारगुप्त प्रथम ने करवाया था।

### 15.7.14 बुद्धगुप्त (477 ईस्वी से 495 ईस्वी)

कुमारगुप्त द्वितीय के पश्चात् बुद्धगुप्त 477 ईस्वी में गद्दी पर बैठा। सारनाथ के लेख से इस बात की पुष्टि होती है। नालन्दा से प्राप्त राजमुद्रा से पता चलता है कि बुद्धगुप्त भी पुरूगुप्त का पुत्र था। अभिलेखों से पता चलता है कि उसका साम्राज्य बंगाल से मध्य भारत तक विस्तृत था। वह लड़खड़ाते हुए गुप्त साम्राज्य का पुनः एकता के सूत्र में आबद्ध व संगठित करने में यथेष्ट सफल रहा। संभवतया उसने 'प्रकाशदित्य' की उपाधि भी धारण की थी। बुद्धगुप्त ने 477 ई से 495 ईस्वी तक शासन किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 15.7.15 भानुगुप्त (508–530 ई.)

बुद्वगुप्त के पश्चात् भानुगुप्त साम्राज्य की स्वामी बना। सम्भवतः वह बुद्वगुप्त कापुत्र था। एरण अभिलेख (मध्य प्रदेश के सागर जिले में) से विदित होता है। 500 ई व 510 ई. के बीच हूण नेता तोरमाण ने भारत पर आक्रमण किया और उसके पूर्वी मालवा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। इस युद्व में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज ने लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की थी। ह्वेनसांग ने लिखा है कि भानुगुप्त हूण नेता मिहिरकुल (तोरमाण का पुत्र एवं उतराधिकारी) को वार्षिक कर देता था। मंजू श्री मूलकल्प के अनुसार हूणों ने मालवा पर विजय प्राप्त करने के के पश्चात मगर तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। 512–13 ई. में तोरमण परलोक सिधार गया। इसके पश्चात उसका पुत्र मिहिरकुल शासक बना। मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि 513 ई. से 528 ई के बीच उसने मध्य भारत पर अधिकार कर लिया था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि मिहिरकुल के अत्याचारों से तंग होकर भानुगुप्त ने विद्रोह कर दिया। इस पर मिहिरकुल ने भानुगुप्त पर आक्रमण कर दिया। भानुगुप्त के सैनिकों ने मिहिरकुल को बंदी बना लिया तथा उसे भानुगुप्त के समक्ष उपस्थित किया गया। भानुगुप्त मिहिरकुल को मरवाना चाहता था, किन्तु अपनी माता के कहने पर उसने उसको मुक्त कर दिया। उसके पश्चात मिहिरकुल ने काश्मीर में शरण ली। वहां के हूण राजा का स्वागत किया। कुछ वर्षो पश्चात मिहिरकुल ने कश्मीर के शासक का वध कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। राजतरंगिणी के लेख कल्हण ने भी मिहिरकुल को काश्मीर का राजा बताया है।

भानुगुप्त ने मिहिरकुल को पराजित कर दिया। परिणामस्वरूप मध्य भारत, मालवा तथा मगध से हूणों की सत्ता समाप्त हो गई, किन्तु वह गुप्त राजशक्ति को पुनः संगठित करने तथा गुप्त साम्राज्य को विघटित होने से नही बचा सका।

### 15.7.16 भानुगुप्त के उतराधिकारी

भानुगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र वज्र अथवा गोपचन्द्र शासक बना। व्रज का समीकरण कुमारगुप्त तृतीय से भी किया जाता है। कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त गद्दी पर बैठा। उसने 550 ई. तक शासन किया। इसके समय में गुप्त साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। तथा गुप्तों की सत्ता पूर्णतयाः समाप्त हो गई और यहां नवीन शक्तियों का उदय हो गया।

### 15.7.17 गुप्त साम्राज्य के पतन का कारण

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात गुप्त साम्राज्य का पतन शुरू हो गया और छठी शताब्दी के अत तक यह पूर्णतः छिन्न भिन्न हो गया। इस विशाल तथा गौरवशाली साम्राज्य के पतन के लिए निम्नलिखित कारण उतरदायी है।

**1. स्कन्दगुप्त के अयोग्य उतराधिकारी** :– स्कन्दगुप्त के बाद जितने भी गुप्त शासक हुए, उनमे पुरूगुप्त, कुमारगुप्त ओर बुद्वगुप्त को छोड़कर शेष सभी अयोग्य एंव दुर्बल सिद्व हुए। उसमें अपने पूर्वजों के सम्राज्य को बनाये रखने की सामर्थ्य नही थी। वे न तो वीर योद्धा थे और न ही कुशल शासक प्रबन्धक। इसलिए उनमे इतनी योग्यता नहीं थी कि वे इन विद्रोहियों को कुचल सकें। परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य की जड़ें हिलती गई और अंत में इसका पतन हो गया।

**2. केन्द्री शासन की निर्बलता** : स्कन्दगुप्त के बाद केन्द्र सरकार निर्बल हो गई। इसीलिए प्रान्तों के शासक एक एक करके स्वतंत्र होने का प्रयास करने लगे। अतः यह स्वाभाविक था कि इन परिस्थितियों में गुप्त साम्राज्य का पतनोन्मुख हो।

**3. आन्तरिक विद्रोह** : स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी दुर्बल सिद्ध हुए, इसलिए साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह होने लगे। सेनापति भट्टारक ने वल्लभी में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर मैत्रिक वंश की नीव डाल दी। मालवा के यशोधर्मन ने अंतिम गुप्त सम्राट व्रज को पराजित कर अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। तत्पश्चात् गुप्त साम्राज्य के अधिकांश भागों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने नये साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। कन्नौज के मौखरियों ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। बंगाल में गौड वंश के शासक भी स्वतंत्र हो गये और दक्षिण में वाकाटक राजा नरेन्द्रसेन ने भी स्थिति का लाभ उठाते हुए मध्य भारत के कई प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार महान् तथा गौरवशाली गुप्त साम्राज्य छिन्न – भिन्न हो गया।

**4. उत्तराधिकारी के निश्चित नियम का अभाव** : गुप्तकाल में उत्तराधिकारी का कोई निश्चित नियम नहीं था। अतः शासक की मृत्यु के बाद सिंहासन प्राप्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाता था। उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने बडे भाई रामगुप्त का वध करके सिंहासन प्राप्त किया था। कुछ विद्वानों के अनुसार स्कन्दगुप्त और पुरूगुप्त में भी उत्तराधिकारी सम्बन्धी युद्ध हुआ, जिसके परिणाम साम्राज्य के लिए बड़े घातक सिद्ध हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**5. यातायात के साधनों का अविकसित होना :** समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी विजयों के परिणामस्वरूप एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, परन्तु उसकी सुरक्षा के लिए यातायात के साधनों को विकसित नहीं किया। अतः जब केन्द्र में दुर्बल शासकों की श्रृंखला प्रारंभ हुई, तो दूरस्थ प्रान्तों के शासकों ने विद्रोह कर दिया और वे यातायात के साधनों के अविकसित होने के कारण समय पर अपनी सेनाऐं भेजकर विद्रोहियों के विरूद्ध सैनिक कार्यवाही नहीं कर सके। परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य छिन्न – भिन्न हो गया।

**6. सीमा रक्षा कार्यों का अभाव :** स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने कभी भी उत्तर पश्चिमी प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया और न ही सीमान्त प्रदेश की सुरक्षा के लिए कोई ठोस कार्यवाही की। यह उनकी भारी भूल थी। सीमा रक्षा की अवहेलना के कारण देश हूणों की बर्बरता का शिकार हुआ और सीमान्त प्रान्तों के शासक भी स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगे। इससे गुप्त साम्राज्य विनाश के गर्भ में चला गया।

**7. कुशल विदेश नीति का अभाव :** चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त व चन्द्रगुप्त द्वितीय की विदेश नीति उनके कूटनीतिज्ञ होने का परिचय देती है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वैवाहिक सम्बन्धों से अपने समकालीन शक्तिशाली राज्यों को मित्र बना लिया था, जिसके कारण गुप्त साम्प्रज्य का विस्तार हुआ और उसकी सीमाऐं सुरक्षित हो गई। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राज्यों को विजय करके अपने साम्राज्य में न मिलाकर बुद्विमता का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त उसने अपनी सीमावर्ती राजाओं से मैत्री स्थापित कर गुप्त साम्राज्य की सीमाओं को सुरक्षित बना दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम एवं स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वजों की नीति का अवलम्बन कर अपने पैतृक साम्राज्य की रक्षा की, परन्तु स्कन्दगुप्त के उतराधिकारियों ने इस प्रार की नीति का अवलम्बन करना छोड़ दिया। जिसके कारण सीमावर्ती राज्य गुप्त शासकों के शत्रु बन गये। उन्होने विदेशियों को गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य लड़खड़ाने लगा।

**8. बौद्व धर्म का प्रभाव –** समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त नामक सभी महान गुप्त शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। वे सब महान योद्वा थे। उन्होने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की ओर उसकी रक्षा करने में सफल रहें, परन्तु बाद में गुप्त शासक जैसे, बुद्वगुप्त, तथागत पुत्र (वैयगुप्त) एवं बालादित्य आदि ने बोद्व धर्म स्वीकार कर लिया था। इस धर्म के अहिंसा के सिद्वान्त से प्रभावित होकर वे शांतिप्रिय बन गये और उन्होंने युद्व की नीति का परित्याग कर दिया। नागरिक प्रवृति का द्वारा होने से सैनिकों में दुर्बलता आने लगी। परिणामस्वरूप विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। और गुप्त शासकों ने ऐसे अवसर पर कायरता का परिचय दिया। गुप्त राजा बालादित्य की कायरता का उल्लेख हेनसांग ने किया है। उसके वर्णन से पता चलता है कि जब हूणों ने मिहिरकुल के नेतृत्व में बालादित्य के राज्य पर आक्रमण किया, तो उसने कहा मैने सुना है कि चोर आ रहे है और वे उनसे नही लड़ सकता। अपने मंत्रियों की अज्ञा से मैं अपने आपको झाड़ियों मे छिपा लूंगा। यह कहकर वह अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया। यह नीति गुप्त साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण बनी।

**9. हूणों के आक्रमण –** हुणों के आक्रमण भी गुप्त साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण था। इन लोगों ने स्कन्दगुप्त के समय भारत पर आक्रमण किया था परन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हे बुरी तरह से पराजित किया। स्कन्दगुप्त के दुर्बल उतराधिकारियों के समय में हूण आक्रमणः पुन प्रारम्भ हो गये जिसमे भानुगुप्त का सामन्त गोपराज लड़ता हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। इस युद्व मे भानुगुप्त की पराजय हुई, जिसके कारण हूणों का पूर्वी मालवा पर अधिकार हो गया। मंजूश्रीमूलकल्प के विवरण से प्रकट होता है कि हूण मालवा विजय के पश्चात मगध तक बढ़ गये। तोरमण के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल राजा हुआ। मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से विदित होता है कि 513 ई. से 528 ई तक मिहिरकुल का मध्य भारत पर पूर्ण आधिपत्य रहा। उस समय गुप्तों के स्थान पर वही एक मात्र उत्तरी भारतवर्ष का शक्तिशाली शासक था। यद्यपि भानुगुप्त ने 40 ईस्वी में हूणों को पुनः पराजित किया, परन्तु वह गुप्त साम्राज्यों को छिन्न भिन्न होने से नहीं बचा सका। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार हूण आक्रमणों को गुप्त साम्राज्य के पतन का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्होंने काश्मीर तथा अफगानिस्तान पर विजय प्राप्त की थी, जो गुप्त साम्राज्य के भाग नहीं थे। परन्तु डॉ. मजूमदार का कथन पूर्णरूप से सत्य प्रतीत नहीं होता। यह स्वीकार करना पडेगा कि हूण आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य की दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया था, जिसके कारण आन्तरिक शत्रुओं को विद्रोह करने की प्रेरणा मिली। अतः हूण आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य के पतन में महत्वपूर्ण भाग लिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 15.7.18 गुप्त सम्राटों का शासन प्रबन्ध

गुप्त सम्राटों ने अपने विशाल साम्राज्य में सुदृढ़ शासन प्रबन्ध की स्थापना की, जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रजा की भलाई करना था। चीनी यात्री फाह्यान ने अपने विवरण में गुप्त सम्राटों के शासन प्रबन्ध की काफी प्रशंसा की है। वैसे गुप्त शासकों ने मूलरूप में मौर्यो की शासन व्यवस्था को ही अपनाया। केवल उन्होंने कहीं कहीं कर्मचारियों के पदों के नामों से परिवर्तन कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्त शासकों ने कोई नई शासन प्रणाली प्रचलित नहीं की। शासन प्रबन्ध की कुशलता तथा उत्तमता के कारण भी गुप्तकाल को प्राचीन भारतीय इतिहास में विशेष स्थान प्राप्त है। गुप्त सम्राटों की शासन की प्रमुख विशेषताऐं हैं।

#### 15.7.18.1 केन्द्रीय शासन :

**राजा** : साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं सम्राट था। राजा का पद प्रायः पैतृक होता था, परन्तु वह अपनी मृत्यु पूर्व अपना उत्तराधिकारी मनोनित कर देता था। इलाहाबाद स्तम्भ लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने प्रथम पुत्र समुद्रगुप्त को अपना अधिकारी मनोनित कर दिया। गुप्तकाल में राजा देवी सिद्धांत के अनुसार शासन करते थे और प्रजा राजा को देवता की तरह आदर करती थी। गुप्त सम्राटों ने महाराजाधिराज'पृथ्वीपाल' 'परमेश्वर' 'सम्राट' 'चक्रवर्ती' 'एकाधिराज' आदि उपाधियां धारण की थीं।

गुप्त सम्राटों की शक्तियां तथा अधिकार असीम थे। वे अपने नाम पर सिक्के चलाते थे। मंत्रियों, पुराहितों, राजदूतों, गुप्तचरों, सूबेदारों, सैनिक, कर्मचारियों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति भी वे स्वयं करते थे और जिसे वे नहीं चाहते थे उसे पद से हटा सकते थे। वे स्वयं कानून बनाते थे तथा उन्हें समस्त साम्राज्य समान रूप से लागू करवाते थे। वे राज्य के सर्वोच्च न्यायाधीश थे। उनका निर्णय अंतिम समझा जाता था। सेना के प्रधान सेनापति भी वे स्वयं होते थे और सैनिक अधिकारी उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करते थे।

कुछ इतिहासकारों का मानना है कि गुप्त सम्राटों को असीम अधिकार प्राप्त होते हुए भी निरंकुश शासक नहीं थे। उनकी निरंकुशता पर निम्न प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

(1) कुछ अधिकारों का प्रयोग मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियोंके द्वारा किया जाता था।

(2) उनको सामाजिक रीति रिवाजों को ध्यान में रखकर शासन का संचालन करना होता था।

(3) उन्होंने अपनी शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कर दिया था और अपनी कुछ शक्तियं प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को सौंप दी थी।

कुछ इतिहासकार उपरोक्त मतों से सहमत नही है। उनका मानना है कि गुप्त सम्राट निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक अवश्य थे, परन्तु वे प्रजा की भलाई करना अपना कर्तव्य मानते थे। इसके अतिरिक्त वे प्रजा के जीवन को सुखी बनाने के लिए हरसंभव प्रयास करते थे। वे अपने मंत्री परिषद के सदस्यों तथा स्थानीय अधिकारियों की सहायता से शासन का संचालन करते थे। इसलिए यदि हम उन्हे ''कल्याणकारी निरंकुश शासक'' की संज्ञा दे, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

**15.7.18.2 मंत्री परिषद तथा मंत्री** – गुप्त सम्राट संधि विग्राहक (युद्व और संधि का मंत्री तथा विदेश मंत्री), महाबलाधिकृत (सेनापति या सेना का मंत्री), महादण्डनायक (न्यास मंत्री), महाअक्षपटलिक (राजकीय कागजों का मंत्री), आयुक्त (राजकोष का मंत्री) आदि को नियुक्त करते थे जिनकी सहायता से वे शासन व्यवस्था का संचालन करते थे ये मंत्री युद्व तथा शांति के मामलों में सम्राट को सलाह देते थे। साधारणतया एक मंत्री के अधीन एक ही विभाग होता था, परन्तु कई बार एक मंत्री को एक से अधिक विभागों का कार्य करने को कहा जाता था, परन्तु कई बार एक मंत्री को एक से अधिक विभागों का कार्य करने को कहा जाता था। जैसे कि समुद्रगुप्त के प्रसिद्व मंत्री को एक से अधिक विभागों का कार्य करने का कहा जाता था। जैसे कि समुद्रगुप्त के प्रसिद्व मंत्री, तथा दरबारी इतिहासकार हरिसेन विदेशी मंत्री, राजमहल का मंत्री, पुलिस मंत्री, न्यास का मंत्री एवं सेना का मंत्री आदि सभी विभागों का कार्य करता था। प्रत्येक मंत्री का पृथक विभाग एवं उनकी पृथक मोहर होती थी। मंत्री का पद प्रायः पैतृक होता था। मंत्रियों को सामूहिक सभा को मंत्री परिषद कहा जाता था। मंत्री परिषद के प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे।

(1) राजा को प्रशानिक कार्यो मं परामर्श देना, एवं

(2) एक राजा की मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों को राजसिंहासन पर बिठाना तथा इस बीच के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समय में शासन व्यवस्था का संचालन करना।

मंत्री परिषद के निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते थे, परन्तु राजा उन निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नही था।

**15.7.18.3 कुमारमात्य** :– गुप्त सम्राटों ने उच्च पदाधिकारियों की एक नवीन श्रेणी बनाई थी, जिन्हे ''कुमारमात्य'' के नाम से पुकारा जाता था। इसका प्रमुख कार्य शासन प्रबन्ध के संचालन में राजा को सहयोग देना था। इस पद पर उच्च घराने के व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था। इनको राजकुमार की तरह सम्मान मिलता था। उनके नीचे बहुत से निम्न कोटि के कुमारमात्य होते थे। गुप्त सम्राटों ने विशाल साम्राज्य पर भलीभांति शासन करने के लिए उसे कई प्रान्तों में विभक्त कर दिया था प्रान्तों की निश्चित संख्या के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक देश को प्रान्त अथवा भुक्ति या भोग कहते थे और उसका शासन प्रबन्ध एक गवर्नर के अधीन होता था, जिसे उपरिक महाराज कहा जाता था। प्रायः राजकुमारों को ही इस उच्च पद पर नियुक्त किया जाता था। उदाहरणतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पुत्र गोविन्दगुप्त को तीर भुक्ति (तिरहुत बिहार) का उपरिक महाराज नियुक्त किया था। कुमारगुप्त प्रथम ने राजकुमारों के अतिरिक्त योग्य सैनिक अधिकारियों को भी इस पद पर नियुक्त करना प्रारंभ कर दिया था। उपरिक महाराज के प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे।

(i) देश (प्रांत) में शांति तथा व्यवस्था बनाये रखना।

(ii) सम्राट के आदेशों को कार्यरूप देना।

(iii) कृषकों के हितों की रक्षा करना।

(iv) अपने देश के अधीन प्रदेश तथा ग्राम का निरीक्षण करना।

(v) देश के लोगों के साथ न्याय करना तथा उनकी भलाई की देखभाल करना आदि। उपरिक महाराज की सहायता करने के लिए देश में कई मंत्री तथा अधिकारी होते थे।

प्रदेश प्रबन्ध : प्रत्येक प्रान्त में जिले थे जिनको विषय अथवा प्रदेश कहा जाता था। विषय के मुखिया को विषय में 'विषयपतियों' की नियुक्ति करता था और वे उसी के अधीन कार्य करते थे, परन्तु कभी कभी राजा भी विषयपतियों को नियुक्त करता था और वे सीधे राजा के अधीन होते थे। विषयपति को प्रशासन में सहायता एवं परामर्श देने हेतु एक महासमिति होती थी, इसमें निम्नलिखित सदस्य होते थे। 1. नगर श्रेष्ठी, (नगरप्रधान) 2. सार्थवाह – नगर की प्रमुख व्यवसायी, 3. प्रथम कुलिक (शिल्प संघ का मुखिया), 4. प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक), 5. पुस्तपाल (संग्रहाधिकारी)। ग्राम प्रबन्ध : ग्राम शासन प्रबन्ध में सबसे छोटी इकाई थी। इसके मुखिया को ग्रामिक अथवा ग्रामाध्यक्ष कहा जाता था। जिसका प्रमुख कार्य ग्राम में शांति एवं व्यवस्था को बनाये रखना था। उसकी सहायता करने के लिए पांच सदस्यों की एक पंचायत होती थी, जिसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे। (1) ग्राम की लुटेरों तथा डाकुओं से रक्षा, (2) मुकदमों पर निर्णय देना, 3. भूमिकर एकत्रित कर राजकोष में जमा करना, 4. ग्राम के लोगों की भलाई के लिए कार्य करना आदि।

**15.7.18.4 आर्थिक व्यवस्था** : गुप्त सम्राटों ने आर्थिक व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। उस समय अधिकांश लोग कृषि का कार्य करते थे। भूमिकर राज्य की आय का मुख्य साधन था। गुप्त सम्राटों ने समस्त भूमि पेमाईश करवाई तथा उनका वर्गीकरण करवाया। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि गुप्तकाल में समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार था, परन्तु कुछ इतिहासकार इस मत से सहमत नही है उनका मानना है कि कुछ भूमि पर राज्य का अधिकार था तथा शेष भूमि पर किसानों का अधिकार था। सरकार लोागें से भारी मात्रा में कर वसूल नहीं करती थी। भूमि की उपज का 2/6 भाग लिया जाता था, परन्तु कम उपजाऊ भूमि पर यह कर 1/8 से 1/12 भाग तक लिया जाता था। सरकारी कर्मचारियों को नकद वेतन दिया जाता था, सलिए वे घूस नही लेते थे तथा ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करते थे। कृषक भूमि कर अनाज तथा नकद धन में किसी भी तरह से चुका सकते थे। गुप्त सम्राट कृषकों की भलाई करना अपना कर्तव्य समझते थे। वे शासक बनते समय कृषकों के हितों की रक्षा करने की शपथ लेते है। उन्होने कृषकों को सिंचाई की सुविधा देने के लिए कई नहरें खुदवाई थी तथा झीलों का प्रबन्ध किया। गुप्तकाल में कृषकों की दशा काफी अच्छी थी। वे सभी प्रकार से सुखी थे।

भूमिकर के अतिरिक्त सीमा शुल्क, चुंगीकर, नमक बनाने वाले कर, वनो से प्राप्त की गई आय, अदालतों में अपराधियों पर लगाये गये जुर्माने, पराजित शासकों से प्रतिवर्ष प्राप्त की जाने वाली धनराशि, उपहार कुछ अवस्थाओं में

Jain (Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिवार की जब्त की गई सम्पति आदि भी राज्य की आय के प्रमुख साधन थे।

गुप्त सम्राट राज्य की आय का अधिकांश भाग अपने ऐश्वर्य पर खर्च न कर प्रजा की भलाई के कार्यो पर खर्च करते थे। सेना पर आय का आधा भाग खर्च किया जाता था। मंत्रियों तथा कर्मचारियों के वेतन एवं राजमहल का खर्चा भी आय में से किया जाता था।

### 15.7.18.5 न्याय व्यवस्था

गुप्तकालीन नारद स्मृति के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के होते थे (1) कुल (2) श्रेणी (3) गण एवं (4) राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन न्यायालय जनता के होते थे। चौथी श्रेणी का न्यायालय सरकारी होता था।

गुप्तकाल में न्याय अवस्था बहुत अच्छी थी। राजा न्याय का स्त्रोत था। वह बड़े बड़े मुकदमें पर फैसला करता था तथा छोटे छोटे न्यायालयों की अपीलें सुनता था उस समय सभी लोगों के साथ निष्पक्ष न्याय किया जाता था। राजा के अतिरिक्त निम्न तीन प्रकार के न्यायालय थे (1) केन्द्रीय न्यायालय (2) नगर न्यायालय एवं (3) ग्राम न्यायालय। न्यायाधीश मनुस्मृति तथा रीति रिवाजों को ध्यान में रखकर मुकदमों पर अपना निर्णय देते थे। फाह्यान ने लिखा है कि अपराधियों को कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे, परन्तु कुछ इतिहासकार इस बात से सहमत नही हैं। उन्होंने गुप्तकाल के स्त्रातो के आधार पर कहा है कि इस काल में अपराधियों को बहुत अधिक कठोर दण्ड दिये जाते थे, परन्तु कुछ इतिहासकार इस बात से सहमत नही हैं। उन्होने गुप्तकाल के स्त्रोतों के आधार पर कहा है कि इस काल में अपराधियों को बहुत अधिक कठोर दण्ड दिये जाते थे। चोरी डाके, विद्रोहियों तथा हत्यारों आदि के लिए मृत्यु दण्ड दिया जाता था। उस समय अपराधियों की आंखे निकलवा देना तथा उन्हे हाथी के पांव के तले कुचलवा देना जैसे भयंकर दण्ड भी दिये जाते थे। इसकी पुष्टि विशाखदत के "मुद्राराक्षक" नामक नाटक से होती है। जिन अपराधों के लिए कोई भी गवाह तथा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता था, उनका निर्णय आर्डियल प्रथा के आधार पर किया जाता था। इस प्रथा के अनुसार अपराधी को अग्नि, जल एवं विष के द्वारा परीक्षा ली जाती थी। गुप्तकाल में अपराध बहुत कम होते थे। चीनी चात्री फाह्यान ने लिखा है कि उस समय मार्ग तथा सड़कें पूर्णतः सुरक्षित थी।

### 15.7.18.6 सैनिक प्रबन्ध :

गुप्त सम्राटो का सैनिक बहुत प्रबन्ध बहुत कुशल था उन्होने तो मुख्यरूप से मौर्यों के सैनिक प्रबन्ध को अपनाया। मौर्य सम्राटों की तरह उन्होंने एक विशाल तथा शक्तिशाली सेना कायम की थी और उसका अनुकरण करते हुए सैनिक प्रबन्ध के छः भाग स्थापित किये थे।

**पहला भाग** : पैदल सैनिकों का प्रबन्ध करता था।

**दूसरा भाग** : घुड़सवार सेना का प्रबन्ध करता था।

**तीसरा भाग** : हाथियों का प्रबन्ध करता था।

**चौथा भाग** : रथों का प्रबन्ध करता था।

**पांचवां भाग** : नौ सेना का प्रबन्ध करता था इसका महत्व गुप्तकाल में बहुत बढ़ गया था।

**छठा भाग** : आवागमन के साधनों का प्रबन्ध कराता था।

गुप्तकाल के अभिलेखों में सेनापति, महासेनापति, बलाधिकृत, संधि विग्रहीक, महासंधि विग्रहीक आदि सैनिक अधिकारियों के नाम मिलते हैं। हरिसेन ने इलाहाबाद के स्तंभ लेख में गुप्त युग के शस्त्रों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उस समय के प्रमुख शस्त्र तीर कमान, कुल्हाड़े, नेजे, भाले, तलवारें एवं ढालें आदि थे। गुप्त सम्राट आय का लगभग 1/2 भाग सैनिक प्रबन्ध पर खर्च करते थे।

### 15.7.18.7 पुलिस विभाग

देश में आन्तरिक कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस विभाग (आरक्षी विभाग) का गठन किया गया था। इस विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी दण्ड पाशाधिकारी कहलाता था। उसकी सहायता के लिए 'चोरोद्धरणिक' होता था, जिसका प्रमुख कार्य चोरो को पकड़ना होता था। अपराधें का पता लगाने के लिए गुप्तचर भी होते थे। इसीलिए चीनी यात्री फाह्यान लिखता है कि उसने भारत में हजारों मील की यात्रा की थी। परन्तु उसको चोरों और डाकू नहीं मिले।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस कथन से स्पष्ट होता है कि उस काल में चोरी नहीं होती थी और अपराध भी बहुत कम होते थे।

**15.7.18.8 लोकापकारी कार्य विभाग** : गुप्तवंश के सम्राट आदर्श एवं प्रजापालक शासक थे। वे प्रजा भलाई को सदा ध्यान में रखते थे। उन्होंने आवागमन की सुविधा के लिए सड़कें बनवाई। कृषकों के लिए झीलों तथा नहरों का प्रबन्ध किया। रोगियों की सुविधा के लिए औषधालय स्थापित किये गये। फाह्यान लिखता है कि, ''समस्त उतरी भारतवर्ष में स्थान – स्थान पर औषधालय तथ चित्सिालय निर्मित थे। वहां रोगियों की मुफ्त चिकित्सा होती थी और दवाईयाँ आदि बिना मूल्य के मिलते थे।'' शिक्षा के प्रसार के लिए राज्य की ओर से अध्यापकों को भूमिदान और वृतियां मिलती थी। ध र्मशालाऐं बनाने तथा दान देने की व्यवस्था भी थी।

## 15.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यो के पश्चात गुप्तों ने एक निश्चित योजना के अनुसार अपने विशाल साम्राज्य में शानदार व्यवस्था की स्थापना की थी, जिसके कारण देश में शांति एवं व्यवस्था स्थापित रही। चीनी यात्री फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण में गुप्त सम्राटों के शासन प्रबन्ध की काफी प्रशंसा की है। इतिहासकार वी.ए. स्मिथ ने गुप्तों के शासन प्रबन्ध के बारे में यहां तक लिखा है कि इससे अच्छा शासन भारत मे कभी स्थापित हुआ ही नही।

## 15.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. समुद्रगुप्त के कार्यों तथा उसकी सफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 2. ''चन्द्रगुप्त द्वितीय भारत के महान सम्राटों में गिना जाता है।'' क्यों ?

प्रश्न 3. चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5. गुप्त साम्राज्य के विस्तार में समुद्रगुप्त के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 6. समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ के युद्धों का परिचय दीजिए।

प्रश्न 7. कुमारगुप्त प्रथम की उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 8. गुप्तकाल में कला, साहित्य और विज्ञान के विकास का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 9. गुप्तकाल को हिन्दूकाल का 'स्वर्णयुग' क्यों कहा जाता है ?

प्रश्न 10. गुप्तकाल में हुए सांस्कृतिक विकास का नूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 11. गुप्तकालीन स्थापत्य कला की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# संवर्ग-5 : वर्धन साम्राज्य एवं राजपूत युग

# इकाई-16 : वर्धन साम्राज्य : हर्षवर्धन

**संरचना**


16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 हर्ष का इतिहास जानने के साधन

16.2.1 पुरातात्विक सामग्री

16.2.2 साहित्यिक सामग्री

16.2.3 विदेशी तथा ह्वेनसांग का भारत वृतांत

16.3 हर्ष के संबंध में

16.4 राजनीतिक अवस्था के विषय में

16.5 सामाजिक अवस्था के विषय में

16.6 धार्मिक अवस्था के विषय में

16.6.1 बौद्ध धर्म

16.6.2 हिन्दू धर्म

16.6.3 जैन धर्म

16.7 आर्थिक अवस्था के विषय में

16.8 शिक्षा प्रणाली के विषय में

16.8.1 नालन्दा विश्वविद्यालय

16.8.2 भवन निर्माण कला तथा नगर निर्माण कला के विषय में

16.9 हर्ष के पूर्वज

16.10 पांच प्रदेशों की विजय

16.10.1 वल्लभी विजय

16.10.2 पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध

16.10.3 सिन्ध विजय

16.10.4 कामरूप की विजय

16.10.5 नेपाल पर अधिकार

16.10.6 कश्मीर पर अधिकार

16.10.7 गंजम विजय

16.10.8 विदेशी शक्तियों से संबंध

16.11 हर्ष के साम्राज्य का विस्तार

16.12 हर्ष का शासन प्रबंध

16.12.1 राजा का स्थान

16.12.2 मंत्री परिषद्

16.12.3 सैनिक व्यवस्था


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

16.12.4 न्याय व्यवस्था
16.12.5 पुलिस विभाग
16.12.6 राजस्व विभाग
16.12.7 सार्वजनिक कार्य विभाग
16.12.8 प्रांतीय शासन
16.12.9 ग्राम शासन
16.13 हर्ष का धर्म
16.13.1 बौद्ध धर्म को संरक्षण
16.13.2 धार्मिक सहनशीलता की नीति
16.14 सभाओं का आयोजन
16.14.1 कन्नौज की सभा
16.14.2 प्रयोग की सभा
16.15 हर्ष के समय साहित्य का विकास
16.15.1 हर्ष की अपनी रचनाएँ
16.15.2 विद्वानों का संरक्षक
16.16 सारांश
16.17 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 16.0 प्रस्तावना

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद में अव्यवस्था फैल गई और देश फिर से छोटे छोटे राज्यों में बंट गया। ये राज्य एक-दूसरे पर आधिपत्य जमाने के लिए आपस में संघर्ष करने लगे। ऐसे में हूणों के विनाशकारी आक्रमणों ने स्थिति को अधिक गंभीर बना दिया। इन विकट परिस्थितियों में भारतीय रंग-मंच पर एक महान् विभूति का आविर्भाव हुआ, जिसने अपने युद्ध कौशल एवं नीति पटुता से देश में पुनः राजनैतिक एकता स्थापित की। पराक्रमी व्यक्ति पुष्यभूति वंश अथवा वर्धन राजवंश का सुप्रसिद्ध शासक हर्ष था, जो थानेश्वर का शासक था। उसने 606 ईस्वी से लेकर 648 ईस्वी तक राज्य किया। हर्ष का शासन भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रथम, उसने उत्तरी भारतवर्ष मे एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें जनता सुखी तथा समृद्ध थी एवं द्वितीय, उसके शासनकाल में शिक्षा एवं साहित्य का असाधारण विकास हुआ और प्रयाग में दो महत्वपूर्ण सम्मेलनों का आयोजन हुआ।

## 16.1 उद्देश्य

यहाँ हर्षवर्धन साम्राज्य के बारे में जानेंगे।

## 16.2 हर्ष का इतिहास जानने के साधन

हर्ष के शासनकाल की घटनाओं को जानने के लिए निम्नलिखित साधन उपलब्ध हैं।

### 16.2.1 पुरातात्विक सामग्री

हर्ष के समय में बंसखेरा ताम्रलेख एवं मुधुवन ताम्रपत्र में उसके वंश के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। सोनपत में एक तांबे की मोहर भी प्राप्त हुई है। जो हर्ष के काल की घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

### 16.2.2 साहित्यिक सामग्री

(i) बाण भट्ट की रचनाएं (हर्षरचित तथा कादम्बरी) : हर्ष के शासनकाल के बारे में उसके दरबारी कवि बाण भट्ट

की रचनाओं से महत्वपूर्ण जानकार प्राप्त होती है। बाण भट्ट ने हर्षरचित तथा कादम्बरी नामक दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। हर्ष रचित ग्रन्थ से हर्ष के युद्ध कौशल, सैनिक संगठन, व्यक्तित्व, चरित्र आदि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं पर भी प्रकाश डालता है। सारांश यह कि हर्षचरित एक उच्च कोटि की साहित्यिक रचना है, जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बड़ी महत्वपूर्ण है। बाणभट्ट की दूसरी प्रसिद्ध कृति कादम्बरी है। इससे भी हर्षकालीन परिस्थितियों के बारे में मूल्यवान जानकार प्राप्त होती है। यद्यपि बाण भट्ट ने अपने ग्रन्थों में आंखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है, तथापि हम उस पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं कर सकते। विशषतः इसलिए कि बाण भट्ट एक कवि था। अतः उसकी रचनाऐं अतिश्योक्ति रहित नहीं हो सकती।

**(ii) हर्ष की अपना रचनाऐं (नागानन्द, प्रियदर्शिका एवं रत्नावली)** : हर्ष स्वयं उच्च कोटि का विद्वान था। उसने नागानन्द, प्रियदर्शिका तथा रत्नावली नामक तीन प्रसिद्ध नाटकों की रचना की। नागानन्द से हर्ष की दानशीलता तथा उदारता पर प्रकाश पड़ता है। जबकि प्रियदर्शिका एवं रत्नावली नामक ग्रन्थों से उसके राजदरबार के षड्यंत्रों के बारे में मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है। ये ग्रन्थ तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं।

### 16.2.3 विदेशी तथा हेनसांग का भारत वृतांत

प्रसिद्ध चीनी यात्री हेनसांग या युआन च्वांग हर्ष के शासनकाल में भारत आया था। उसका जन्म 600 ईस्वी में चीन में होनान – कू के समीप हुआ था। उसके जन्म का नाम चिन–शी था। उसके पिता का नाम हुई था। वह अपने पिता का सबसे छोटा पुत्र था। उसने 13 वर्ष की आयु में बौद्ध धर्म का अध्ययन आरंभ कर दिया। बीस वर्ष की आयु में वह बौद्ध भिक्षु बन गया एवं कुछ समय पश्चात् उसने भारत की यात्रा करने का निश्चय किया। उसकी इस यात्रा का उद्देश्य बौद्ध धर्म के पवित्र तीर्थ स्थानों के दर्शन करना तथा बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करना था। चीनी सम्राटों की अनुमति के बिना ही उसने 629 ईस्वी मे भारत यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। वह तारावंश, समरकन्द व बल्ख होता हुआ गान्धार प्रदेश में पहुंचा। यहां से वह कश्मीर पहुंचा, जहां उसने दो वर्ष रहकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। काश्मीर के बाद पंजाब होते हुए उसने उत्तरी भारत के कपिलवस्तु, कुशीनगर गया, बनारस आदि बौद्ध तीर्थ स्थानों के दर्शन किये। वह पांच वर्ष तक नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्ती के लिए ठहरा। महाराजा हर्ष के निमंत्रण पर वह कन्नौज पहुंचा और आगामी आठ वर्ष राजधानी में रहा। इस प्रकार लगभग 15 वर्ष तक भारत में रहकर 645 ईस्वी में उसने वापिस चीन की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में विभिन्न कठिनाईयों का सामना करता हुआ अन्त में वह चीन पहुंच गया। ऐसा कहा जाता है कि भारत से लौटते समय वह अपने साथ बौद्ध धर्म के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ तथा बुद्ध की सोने व चांदी की मूर्तियां भी ले गया। 669 ईस्वी में हेनसांग की मृत्यु हो गई लेकिन भारत चीन के इतिहास मे उसका नाम अमर हो गया। पश्चिमी चीन में सियान नामक स्थान पर उसकी समाधि बनी हुई है, जो आज भी विद्यमान है। उसकी समाधि पर ये शब्द अंकित हैं, यह महापुरूष उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सब दिशाओं में गया, वहां के दुर्गम मार्गों को उसने सुगम कर दिया, ताकि बाद के यात्रियों को उन पर आने जाने में कठिनाई न हों।

हेनसांग में अपने जीवन का शेष समय बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यतीत किया। उसने अपनी भारत यात्रा का वृत्तान्त एक पुस्तक में लिखा, जो 'सी–यू की' या 'पश्चिमी जगत' के नाम से विख्यात हैं। हेनसांग का यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उसने अपनी यात्रा वर्णन में भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार वी.ए. स्मिथ ने लिखा है, कि यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में जानकारी का एक ऐसा भण्डार है कि इस विषय का अध्ययन करने वाला कोई भी विद्यार्थी इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। भारतीय इतिहास का निर्माण करने में इस ग्रन्थ में उपलब्ध साम्रगी काफी लाभदायक सिद्ध हुई है। हेनसांग ने अपने ग्रन्थ में जिन-जिन विषयों पर प्रकाश डाला है, उनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है :

## 16.3 हर्ष के संबंध में

हेनसांग के अनुसार हर्ष बहुत उदार तथा कर्त्तव्यपरायण शासक था। वह सारा दिन जनहितकारी कार्यों में व्यस्त रहता था। कई बार वह जन सेवा में खाना – पीना और सोना भी भूल जाता था। हर्ष बड़ा दानी और उदार हृदय का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शासक था। वह सभी धर्मावलम्बियों को दान देता था। हर्ष ने प्रयाग सम्मेलन (643 ई.) में पिछले पांच वर्षों में राजकोष में एकत्रित सारा धन दान में दिया। यहां तक कि उसने अपने वस्त्र तथा आभूषण भी दान में दे दिये और फिर अपनी बहिन राज्यश्री से साधारण व पुराने वस्त्र लेकर धारण किये। डॉ. राधामुकुद मुखर्जी के अनुसार दानशीलता का यह अद्वितीय उदाहरण माना जा सकता है। जनता के हित के लिए हर्ष ने अनेक मठ, विहार व धर्मशालाऐं आदि बनवाईं। अस्पतालों में जनता को निःशुल्क औषधियां दी जाती थीं। हेनसांग के अनुसार हर्ष आरंभिक वर्षों में शिव तथा विष्णु का उपासक था, परन्तु बाद में वह हेनसांग से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अनुयायी बन गया था। इसक पश्चात् भी वह अन्य धर्मों के प्रति सहनशीनता की नीति का पालन करता रहा। उसने प्रयाग सम्मेलन में बुद्ध की पूजा करते समय शिव और विष्णु का सम्मान किया एवं 500 ब्राह्मणों को महाभोज दिया।

## 16.4 राजनीतिक अवस्था के विषय में

हेनसांग के अनुसार हर्ष सारा दिन जनहितकारी कार्यों में व्यस्त रहता था। वह समय समय पर साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता था। और जन जीवन को सुखी बनाने का प्रयास करता था। हेनसांग हर्ष के सुव्यवस्थित प्रशासन से बड़ा प्रभावित हुआ था। उसने अपने यात्रा वृतांत में लिखा है कि, हर्ष के लिए दिन बहुत छोटा था। उसने इसे तीन भागों में बांटा हुआ था। इनमें से एक भाग तो वह शासन प्रबन्ध में व्यतीत करता था और शेष दो भाग धार्मिक कार्यों में। वह काम करता हुआ थकता नहीं था और अच्छे कार्य करते समय सोना खाना पीना भी भूल जाता था। हर्ष का शासन बहुत उदार सिद्धांतों पर आधारित था। उसके शासनकाल में लोगों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। और उन्होंने सरकारी रजिस्टरों में अपने नाम दर्ज नहीं कराने पड़ते थे। जनता पर बड़े हल्के कर लगाये जाते थे और लोगों से बलात् बेगार नहीं ली जाती थी।

सरकार की आय का मुख्य साधन भूमि कर था, जो साधारणतः उपज का छठा भाग लिया जाता था। राजकीय आय मुख्य रूप से चार मदों पर खर्च की जाती थी। 1. सार्वजनिक कार्य, 2. मंत्रियों तथा कर्मचारियों का वेतन 3. विद्वानों को अनुदान एवं 4. दान पुण्यादि धार्मिक कार्य। हर्ष के समय दण्ड बहुत कठोर थे।साधारण अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था। सामाजिक नियम भंग करने वाले अपराधी के नाक, कान आदि काट दिये जाते थे, परन्तु बड़े अपराधों के लिए देश निष्कासन अथवा मृत्युदण्ड दिया जाता था। यदि कोई अपराधी अपना अपराध मानने से इन्कार कर देता तो सत्यता को जानने के लिए आर्डियल प्रथा का सहारा लिया जाता था। इस प्रथा के अनुसार अपराधी की अग्नि, जल तथा विष द्वारा परीक्षा ली जाती थी।

हेनसांग के अनुसार हर्ष के शासनकाल में सड़कें तथा मार्ग सुरक्षित नहीं थे और यात्रियों को चोर, डाकू लूट लिया करते थे। स्वयं हेनसांग को दो बार डाकुओं ने लूट लिया था। हर्ष ने एक पृथक अभिलेख विभाग की स्थापना की थी। यह विभाग प्रत्येक छोटी बडी घटना का ब्यौरा रखता था। हेनसांग ने हर्ष की सैनिक शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है, अपने राज्य की सीमाऐं बढ़ाकर उसने (हर्ष ने) अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की, गज सेना की संख्या बढ़ाकर 6000, अश्व सेना की 100000 तथा पैदल सैनिक 50000 कर दी। हर्ष ने अपनी राजधानी कन्नौज में एक सभा का आयोजन किया। इसमें बौद्ध विद्वानों, ब्राह्मणों तथा नालन्दा मठ के विद्वानों ने भाग लिया। इस सभा के वाद विवाद में हेनसांग ने भी भाग लिया था, जिसमें वह विजयी हुआ।

प्रयाग भी उन दिनों एक प्रसिद्ध नगर था। हर्ष हर पांचवें वर्ष इस नगर में एक सभा का आयोजन करता था। 643 ईस्वी में बुलाई गई सभा में हेनसांग ने भी भाग लिया था। उसने लिखा है कि इस सभा में हर्ष ने राजकोष का सारा धन दान में दे दिया था, यहां तक कि उसके पास पहनने के लिए साधारण वस्त्र भी न रहे।

## 16.5 सामाजिक अवस्था के विषय में

हेनसांग के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के अतिरिक्त पांचवीं मिश्रित जाति भी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हेनसांग यहां की उप जातियों को ठीक तरह से नहीं समझ सका। इसीलिए उसने उप जातियों को मिश्रित जाति की संज्ञा दे दी है। हेनसांग ने लिखा है कि समाज में ब्राह्मणों का सम्मान था तथा विदेशों में भारत को 'ब्राह्मण देश' भी कहा जाता है। ब्राह्मण धार्मिक कार्यों को सम्पादित करने के अतिरिक्त राज्य कार्य में भी भाग लेते थे। क्षत्रिय सरल,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्दोष एवं मितव्ययी जीवन बिताते थे। वैश्य व्यापार में संलग्न थे। शूद्र अब कृषि को अपना रहे थे। हेनसांग ने चाण्डाल एवं नट आदि अछूत लोगों का भी वर्णन किया है। ये लोग नगर से बाहर निवास करते थे। मिश्रित जातियों को उत्पत्ति अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से हुई थी।

हेनसांग के अनुसार एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं करते थे। निकट संबंधियों में भी विवाह नहीं होते थे। समाज में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी। उदाहरणस्वरूप, राज्यश्री का विवाह प्रभाकर वर्द्धन ने अल्पायु में ही कर दिया था। हर्ष की बहन राज्यश्री ने बिना पर्दा किये चीनी यात्री के उपदेशों को सुना था। हर्ष की माता पति की मृत्यु से पहले ही जलकर सती हो गई। राज्यश्री भी अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने को थी, जबकि उसे हर्ष ने बचा लिया।

हेनसांग के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा पर अब भी ध्यान दिया जाता था। वे साहित्य, संगीत एवं कला आदि में भी प्रवीण होती थी। हर्ष की बहिन राज्यश्री सुशिक्षित थी। स्त्रियों की समाज में अच्छी अवस्था थी। उस समय लोगों का भोजन गेहूं की रोटी, चावल, दूध, दही, मक्खन, घी, सब्जी, फल आदि था। लोग प्रायः मांस, प्याज, लहसुन का प्रयोग नहीं करते थ। कुछ लोग मांस अवश्य खाते थे, परन्तु बैल, गधे, कुत्ते तथा बन्दर के मांस खाने पर प्रतिबन्ध था। इन पशुओं का मांस खाने वाले व्यक्ति को जाति से बाहर निकाल दिया जाता था। भिक्षु, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शराब पीते थे। सबसे नीची जाति के लोग शराब का बहुत कम प्रयोग करते थे।

हर्ष के शासनकाल में लोग स्वच्छता प्रेमी थे। वे स्नान करने के पश्चात् ही भोजन करते थे। झूठे बर्तन बिना धोये प्रयोग में नहीं लाये जाते थे। मिट्टी तथा काष्ठ के बर्तनों का प्रयोग केवल एक बार किया जाता था। हेनसांग के अनुसार उस समय देश में ऊनी, रेशमी तथा सूती कपड़ा बनाने की कला उन्नत अवस्था में थी, परन्तु लोगों में सादा कपड़े पहनने का रिवाज था। जूतों का प्रयोग बहुत कम होता था और अधिकतर लोग नंगे पांव ही घूमते – फिरते थे। हेनसांग के अनुसार उस काल में लोगों के मनोरंजन के प्रमुख साधन शतरंज, आखेट एवं पशुओं के युद्ध

## 16.6 धार्मिक अवस्था के विषय में

### 16.6.1 बौद्ध धर्म

हेनसांग के अनुसार बौद्ध धर्म के मुख्य दो सम्प्रदाय – महायान और हीनयान थे। इसमें भी महायान का विशेष प्रचार था। इन दोनों सम्प्रदायों के अलावा हेनसांग ने उसकी 18 शाखाओं का भी उल्लेख किया है। इन शाखाओं में स्थविर, महासांधिक, माध्यमिक तथा योगाचार के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक शाखा ने अपने नियम थे। इन विभिन्न शाखाओं के कारण बौद्ध धर्म की एकता समाप्त हो गई थी। बौद्ध धर्म के प्राचीन केन्द्र गया तथा कपिलवस्तु भी अब वीरान हो वुके थे। बौद्ध धर्म अवनति की ओर जा रहा था। फिर भी, देश के विभिन्न भागों में बहुत से मठ थे, जहां हजारों भिक्षु रहते थे। चीनी यात्री ने 500 बौद्ध विहार भारत में देखे थे। उसके वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि मध्य प्रदेश के अनेक नगरों में बौद्ध धर्म प्रतिष्ठित था। महाराजा हर्ष ने बौद्ध धर्म की महायान शाखा के प्रचार में महत्वपूर्ण भाग लिया। उस समय मगध, उड़ीसा तथा दक्षिण कौशल महायान के प्रमख केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त नालन्दा विश्वविद्यालय भी बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था, परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बौद्ध धर्म अवनति की ओर जा रहा था।

### 16.6.2 हिन्दू धर्म

हेनसांग ने लिखा है कि चीन में भारत को ब्राह्मणों का देश समझा जाता था। इस समय हिन्दू धर्म दिनों दिन उन्नति कर रहा था। इस धर्म की पवित्र भाषा संस्कृत लोकप्रिय थी और लिखने तथा बोलने में इसका खूब प्रयोग होता था। हर्ष के समय में प्रयाग तथा वाराणसी हिन्दू धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। इस धर्म के अनुयायी शिव, विष्णु तथा सूर्य की पूजा करते थे। हिन्दू गाय को अपनी माता के समान समझते थे तथा अपनी समृद्धि के लिए अनेक यज्ञ तथा अनुष्ठान करते थे। इनके अलावा संगीत व नृत्य कलाएं भी मनोरंजन के साधन के रूप में प्रचलित थीं। हर्षकालीन भारत के लोग उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करते थे। किसी को धोखा देना वे बहुत बड़ा पाप समझते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 16.6.3 जैन धर्म

हेनसांग के अनुसार बंगाल, पंजाब व दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। जैन धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे – श्वेताम्बर एवं दिगम्बर। इन सम्प्रदाय के अतिरिक्त यह धर्म कई उपविभागों में विभक्त था। समतट में दिगम्बर सम्प्रदायों के अनुयायी अधिक थे। उत्तरी भारतवर्ष में जैन धर्म के अनुयायी कम होते जा रहे थे, जबकि दक्षिणी भारतवर्ष में इसके अनुयायियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रह थी।

## 16.7 आर्थिक अवस्था के विषय में

हर्ष के शासन काल में सिंचाई की समुचित व्यवस्था होने के कारण कृषि व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। इस समय अनेक लघु उद्योग प्रचलित थे। हेनसांग ने उद्योगों की श्रेणियों का उल्लेख किया है। उस समय भारत में लोहे की खानें खोदी जाने लग गईं थीं तथा लोहे से विभिन्न वस्तुएं बनाई जाती थीं। आन्तरिक व्यापार और विदेशी व्यापार की स्थिति भी काफी अच्छी थी। जहाजों द्वारा भारत का सामान विदेशों को जाता था और विदेशों का सामान भारत में आता था। ताम्रलिप्ति भारत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था, जो दक्षिणी पूर्वी द्वीप समूहों से सम्बद्ध था। संभवतः मलाया और सुमात्रा आदि से व्यापार का यही प्रमुख जल मार्ग था। भारत विदेशों को सूती वस्त्र, चन्दन, हाथी दांत का सामान, शाल व दुशाले निर्यात करता था तथा वहां से सोना, चांदी, हीरे, कीमती पत्थर, सिल्क, औषधियां तथा घोड़े आयात करता था। संक्षेप में, हर्ष के शासनकाल में भारत सुखी तथा समृद्ध था।

## 16.8 शिक्षा प्रणाली के विषय में

हेनसांग के अनुसार विद्यार्थियों को प्रारंभिक शिक्षा मंदिरों में दी जाती थी, जबकि उच्च शिक्षा का प्रबन्ध मठों में होता था। नालन्दा, तक्षशिला तथा गया आदि उस समय के विश्वविख्यात विश्वविद्यालय थे। गया का विश्वविद्यालय धार्मिक शिक्षा के लिए तथा तक्षशिला का विश्वविद्यालय चिकित्साशास्त्र की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था।

### 16.8.1 नालन्दा विश्वविद्यालय

हर्ष में शासनकाल में उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिए नालन्दा का विश्वविद्यालय जगत वि,ख्यात था। संभवतः इनका प्राचीन नाम नाल था। इस विश्वविद्यालय का संस्थापक कुमारगुप्त प्रथम था। यह विश्वविद्यालय ने केवल भारत का, अपितु विश्व का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। यह घटना जिले में राजगृह के निकट स्थित था। हेनसांग ने पांच वर्ष तक इस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था। इसमें 10000 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। छ मंजिल के इस महान् विश्वविद्यालय में 8 हजार पढ़ने के कमरे थे। इसके अतिरिक्त छात्रावास, वेधशालाएं, उद्यान, गुरूगृह और आम्र वृक्षों के सघन कुंज थे। इसमें 1510 अध्यापक थे। विद्यार्थियों से कोई फीस नहीं ली जाती थी और उनके आवास तथा भोजन का प्रबन्ध भी मुफ्त था। इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने हेतु विद्यार्थी को परीक्षा देनी पड़ती थी। हेनसांग के अनुसार उस परीक्षा में केवल 20 प्रतिशत विद्यार्थी ही उत्तीर्ण होते थे। इस विश्वविद्यालय का कुलपति शीलभद्र था। इसमें न केवल भारत के, अपितु दूर दूर के देशों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। पढ़ाई के मुख्य विषय ज्योतिष, चिकित्सा, विज्ञान, तर्कशास्त्र, व्याकरणए, दर्शन, बौद्ध ग्रन्थ एवं ब्राह्मण ग्रन्थ आदि थे।

### 16.8.2 भवन निर्माण कला तथा नगर निर्माण कला के विषय में

हर्ष के शासनकाल में भवन निर्माण कला तथा नगर निर्माण कला का भी पर्याप्त विकास हुआ। हर्ष की राजधानी कन्नौज उन दिनों का एक समृद्धिशाली नगर था। इस नगर में 100 से अधिक मठ थे और यह नगर सुन्दर राज प्रसादों से अलंकृत था। नगर में उद्यान, सरोवर व संग्रहालय भी थे। इसके अतिरिक्त प्रमाण, नालन्दा, अयोध्या एवं मथुरा उस समय के अच्छे नगर थे। हेनसांग ने हर्षकालीन कला की बडी प्रशंसा की है। बौद्ध मठों तथा विहारों को चीनी यात्री ने कलापूर्ण बताया है तथा भगवान बुद्ध की आठ फीट ऊंची ताम्र मूर्ति की भी सराहना की है। मध्य प्रदेश के रायपुर में सरपुर का लक्ष्मण मंदिर तथा शाहबाद के पास शुण्डेश्वरी के मंदिर हर्षकालीन निर्माण कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

इस प्रकार हेनसांग के वृतांत से हमें हर्ष के शासनकाल के बारे में मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है। उसके वर्णन में त्रुटियां हैं और वह कई महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख करना भूल गया है। उसके वर्णन से पता चलता है कि भारतवासी उस समय जूती का प्रयोग करने लग गये थे। इन दोषों के होते हुए भी उसका ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लिए एक बहुमूल्य कोष है।

## 16.9 हर्ष के पूर्वज

हर्ष के पूर्वज थानेश्वर राज्य पर शासन करते थे। बाण के हर्षचरित के अनुसार इस राज्य का संस्थापक पुष्यभूति था। पुष्यभूति के बाद नरवधर्न, राज्यवर्धन तथा आदित्यवर्धन शासक हुए, जो साधारण शासक सिद्ध हुए।इस वंश का प्रथम प्रतापी शासक हर्षवर्धन का पिता प्रभाकरवर्धन था। उसने 'परम भट्टारक' और 'महाराजाधिराज' की उपाधियां धारण की थी। वह एक वीर योद्धा था, जिसने समस्त उत्तरी भारत में अपनी वीरता की धाक जमा दी। बाण ने उसकी विजयों का वर्णन बड़े ही अलंकारिक रूप में किया। उसने अपने ग्रन्थ हर्षचरित में लिखा है कि, 'प्रभाकरवर्धन' हूण रूपी हिरण के लिए शेर, सिन्धु प्रदेश के राजा के लिए जलता हुआ बुखार, गुजरात की नींद हराम करने वाला, गन्धार के शासक के लिए भयानक प्लेग और मालवा देश रूपी लता की शोभा को नष्ट करने वाला पशु था।

इस कथन से पता चलता है कि प्रभाकरवर्धन ने उपरोक्त समस्त देशों पर विजय प्राप्त कर ली थी। सिंध पंजाब व उसके आस पास के प्रदेशों पर उसका आतंक था। अपनी विजयों के कारण ही वह सार्वभौम शासक बना था।

प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र थे – राज्यवर्धन एवं हर्षवर्धन। उसके एक कन्या भी थी, जिसका नाम राज्यश्री था। प्रभाकरवर्धन ने वैवाहिक सम्बन्धों से अपनी शक्ति में वृद्धि की। उसने मालवा के राजा यशोवर्मन की पुत्री से स्वयं विवाह किया और अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह कान्य कुब्ज (कन्नौज) के मौखरी राजा गृहवर्मन के साथ कर दिया। हर्ष की माता का नाम यशोमति था। इतिहासकारों के अनुमान के अधार पर माना जाता है कि हर्ष का जन्म 589–590 ईस्वी के लगभग हुआ।

प्रभाकरवर्धन के अंतिम दिनों में हूणों ने सीमान्त पर आक्रमण किया, तब उसने 604 ईस्वी में अपने बडे पुत्र राज्यवर्धन को हूणों का दमन करने करने के लिए भेजा। उस समय हर्ष ने भी घुड़सवारों की एक टुकड़ी के साथ अपने भाई की सहायता करने के लिए कूच किया। मार्ग में उसने कई शेरों तथा हिरणों का शिकार किया, परन्तु अभी वह रणक्षेत्र में पहुंच भी नहीं पाया कि उसे अपने पिता की बिमारी का समाचार मिला। उसने तुरन्त थानेश्वर की ओर प्रस्थान किया। उसके पहुंचने के पश्चात् उसके पिता 605 ईस्वी में इस दुनियां से चल बसे। उसकी माता यशोमति सती हो गई। हूणों को पराजित करने के बाद राज्यवर्धन थानेश्वर लौट आया। उसे अपने पिता की मृत्यु का बहुत दुःख हुआ। इसलिए उसने राजसिंहासन अपने छोटे भाई हर्ष को सौंप दिया और स्वयं ने सन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया, परन्तु हर्ष के आग्रह के कारण उसे थानेश्वर का सिंहासन ग्रहण करना पड़ा।

राज्यवर्धन 605 ईस्वी में थानेश्वर का शासक बना। तभी उसे यह समाचार मिला कि मालवा के शासक देवगुप्त ने गौड़राज शशांक की सहायता से कन्नौज पर आक्रमण कर दिया है और उसके बहनोई गृहवर्मन की हत्या कर दी गई है तथा उसकी बहिन राज्यश्री को कान्यगुब्ज (कन्नौज) के कारागार में डाल दिया है। इस समाचार को सुनते ही राज्यवर्धन ने राज्य का कार्य तुरन्त हर्ष को सौंप दिया और 10000 घुड़सवारों की सेना के साथ देवगुप्त के विरूद्ध बढ़ा। उसने युद्ध में मालवा में राजा देवगुप्त को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। परन्तु गौड़ अथवा बंगाल के शासक शशांक ने राज्यवर्धन को झूठा विश्वास देकर अपने शिविर में आमंत्रित किया और धोखे से राज्यवर्धन का वध करवा दिया। इस प्रकार शशांक ने देवगुप्त की पराजय का प्रतिशोध लेकर कन्नौज पर अधिकार कर लिया तथा राज्यश्री को कारागार से मुक्त कर दिया, ताकि हर्ष उसको ढूंढने में व्यस्त हो जाए और वह (शशांक) अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ले। राज्यश्री कारागार से निकलकर विन्ध्यान्चल की ओर भाग गई।

## 16.10 पांच प्रदेशों की विजय

हर्ष ने अपने शासनकाल के प्रारंभिक छः वर्ष (606 ईस्वी से लेकर 612 ईस्वी तक) निरन्तर युद्ध करके पांच प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। ये प्रदेश संख्या में पांच थे, इसलिए उन्हें पंच प्रदेश भी कहा जाता है। ये पंच प्रदेश पंजाब, कन्नौज, बंगाल, बिहार और उड़ीसा थे। इन विजयों से हर्ष का साम्राज्य समस्त भारत वर्ष में विस्तृत हो गया।

### 16.10.1 वल्लभी विजय

भारत के पश्चिम में गुजरात बड़ा समृद्धिशाली था। उसकी राजधानी वल्लभी थी। यह राज्य कन्नौज तथा चालुक्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के बीच में स्थित था। अतः इसका सैनिक दृष्टिकोण से काफी महत्व था। उस समय वल्लभी का शासक ध्रुवसेन द्वितीय था। हर्ष ने वल्लभी नरेश पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर दिया। कुछ विद्वानों के अनुसार इस समय वल्लभी नरेश को सहायता देने के लिए प्रभाकरवर्धन के शत्रु जाट, मालव एवं गुर्जर आदि संयुक्त हो गये थे। इस कारण वल्लभी नरेश की शक्ति मे भी वृद्धि हुई। अतः थानेश्वर के विरूद्ध इस संयुक्त मोर्चे को भंग करने के लिए हर्ष ने ध्रुवसेन से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस मैत्री को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से उसने वल्लभी नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। यहां हर्ष ने अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया।

### 16.10.2 पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध

हर्ष ने उत्तरी भारत के बहुत प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् दक्षिणी भारतवर्ष के प्रदेशों पर अधिकार करने का निश्चय किया। उस समय चालुक्य वंश का शासक पुलकेशिन द्वितीय दक्षिण का एक शक्तिशाली नरेश था। उसके अधीन कई राज्य थे।

चीनी यात्री हेनसांग के अनुसार हर्ष ने एक विशाल सेना सहित महाराष्ट्र, कर्नाटक के शासक पुलकेशिन पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में पुलकेशिन ने हर्ष को बुरी तरह पराजित किया। पुलकेशिन के लेख में तो यहां तक लिखा है कि युद्ध में हर्ष हाथी से गिर पड़ा और वह भय से भाग गया। वह युद्ध रेवा (नर्मदा) के तट पर हुआ था। यह हर्ष के जीवन की पहली तथा अंतिम पराजय थी। इसके पश्चात् उसने कभी भी दक्षिण पर आक्रमण करने का साहस न किया। इस युद्ध के बाद नर्मदा नदी हर्ष और पुलकेशिन के राज्य के बीच की सीमा बन गई। इस शानदार विजय से पुलकेशिन की प्रतिष्ठा में वृद्धि और उसने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की।

### 16.10.3 सिन्ध विजय

बाण भट्ट रचित हर्षरचित से ज्ञात होता है कि हर्ष ने सिन्ध के राजा को पराजित करके उसके प्रदेश को जीत लिया तथा उसकी सम्पत्ति हस्तगत कर ली, किन्तु बाण का यह वर्णन अतिरंजित प्रतीत होता है। सिन्धु नरेश प्रभाकरवर्धन का शत्रु था। अतः हो सकता है कि हर्ष ने सिन्ध पर आक्रमण किया हो। परन्तु हर्षचरित के अतिरिक्त अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि हर्ष ने सिन्ध नरेश पर विजय प्राप्त की थी। इसके विपरीत हेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि जिस समय वह सिन्ध पहुंचा, उस समय वह एक स्वतंत्र राज्य था और हर्ष ने इस पर विजय प्राप्त की थी। संभवतः हर्ष ने हेनसांग के जाने के पश्चात् अर्थात् 645 ईस्वी के बाद सिन्ध प्रदेश पर विजय प्राप्त की हो।

### 16.10.4 कामरूप की विजय

हर्ष ने गौड़ शासक शशांक की शक्ति को कुचलने के लिए कामरूक के राजा भास्करवर्मन के साथ संधि कर ली और दोनों ने मिलकर शशांक पर आक्रमण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संधि में भास्करवर्मन को समानता का पद नहीं दिया गया था। कन्नौज के सम्मेलन में भास्करवर्मन हर्ष के लिए बहुत से हथियारों और उपहारों को लेकर आया था। वह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भास्करवर्मन ने हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली थी। कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि हर्ष ने कामरूप के शासक को युद्ध में पराजित किया था, परन्तु बंगाल अभियान में उसने हर्ष की सहायता की थी, इसलिए हर्ष ने उसका प्रदेश उसे लौटा दिया था।

### 16.10.5 नेपाल पर अधिकार

फ्लीट तथा डॉ. स्मिथ आदि विद्वानों के अनुसार हर्ष ने नेपाल को जीता था। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित में निम्नलिखित तर्क दिये–

1. बाण के अनुसार हर्ष ने एक बर्फीले प्रदेश को जीता था। यह बर्फीला प्रदेश वास्तव में नेपाल ही था।
2. नेपाल नरेश अंशु वर्मा ने हर्ष संवत् का प्रयोग किया था।

परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार हर्षचरित में प्रयुक्त वाक्य से दुर्गम पर्वतीय प्रदेश ज्ञान होता है। पर्वतीय प्रदेश का यह अर्थ नहीं है कि वह नेपाल ही था। अन्य कोई देश भी हो सकता है। अंशुवर्मा ने अपना अंतिम अभिलेख हर्ष संवत् की तिथि के अनुसार 651 ईस्वी में खुदवाया था। इसका अर्थ हुआ कि अंशुवर्मा 651



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ईस्वी तक शासन कर रहा था, परन्तु चीनी यात्री हेनसांग के यात्रा वृतान्त से पता चलता है कि अंशवर्मा की मृत्यु 637 ईस्वी में हो चुकी थी। अतः स्पष्ट है कि वहां हर्ष सम्वत् प्रचलित नहीं था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि नेपाल हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था।

### 16.10.6 कश्मीर पर अधिकार

कुछ विद्वानों के अनुसार हर्ष ने काश्मीर पर भी विजय प्राप्त की थी। उन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये हैं।

1. बाण के हर्ष चरित में उल्लेख है कि हर्ष ने एक दुर्गम पर्वतीय प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। वह प्रदेश काश्मीर था।
2. हेनसांग ने लिखा है कि हर्ष ने काश्मीर के शासक से बुद्ध का एक स्मारक प्राप्त किया था।
3. कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि हर्ष ने काश्मीर पर शासन किया।

परन्तु उपर्युक्त तर्क अकाट्य नहीं कहे जा सकते। प्रथम पर्वतीय प्रदेश कोई भी हो सकता है। उसे सिर्फ काश्मीर मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है। द्वितीय, काश्मीर का शासक युद्ध से बचने के लिए बुद्ध का एक स्मारक हर्ष को दे सकता है। तृतीय, कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि काश्मीर का शासक हर्ष का पुत्र था, जबकि कन्नौज के शासक हर्ष के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि काशमीर हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था।

### 16.10.7 गंजम विजय

हर्ष की अंतिम विजय गंजम प्रदेश की विजय थी। गंजम उस समय कोनगोडा के नाम से प्रसिद्ध था। हर्ष ने गंजम पर कई बार आक्रमण किये। उसके प्रारंभिक आक्रमण तो असफल रहे। अंतिम में 643 ईस्वी में उसका गंजम पर अधिकार हो गया।

### 16.10.8 विदेशी शक्तियों से सम्बन्ध

हर्ष ने चीन तथा फारस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। हर्ष ने 641 ईस्वी में चीनी सम्राट ताइत्सुंग के पास एक ब्राह्मण राजदूत भेजा था, जिसके उत्तर में चीन के सम्राट ने कई दूत हर्ष के दरबार में भेजे। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष तथा फारस का शासक एक-दूसरे को भेंट भेजते रहते थे।

## 16.11 हर्ष के साम्राज्य का विस्तार

हर्ष ने अपनी विजयों से छोटे से थानेश्वर राज्य को एक महान् साम्राज्य में परिणत कर दिया। उसके राज्य की सीमाएं उत्तर में हिमालय, से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पूर्व में कामरूप से लेकर उत्तर पश्चिम में पूर्वी पंजाब तथा पश्चिम में अरब सागर तक थी। उसके साम्राज्य में मालवा, गजरात, सौराष्ट्र, थानेश्वर, पूर्वी पंजाब, बंगाल बिहार एवं उड़ीसा आदि प्रदेश सम्मिलित थे। हर्ष अंतिम हिन्दू शासक था, जिसने उत्तरी भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित कर भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरो दिया।

## 16.12 हर्ष का शासन प्रबन्ध

हर्ष एक महान् विजेता होने के साथ साथ एक कुशल शासन प्रबन्धक भी था। चीनी यात्री हेनसांग ने उसके शासन प्रबन्ध की काफी प्रशंसा की है। उसकी शासन व्यवस्था गुप्तकालीन शासन व्यवस्था से प्रभावित थी।

### 16.12.1 राजा का स्थान (केन्द्रीय शासन)

हर्ष की शासन व्यवस्था, राजतन्त्रात्मक थी और राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वह स्वयं था। उसने 'परम भट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'एकाधिराज', 'परम देवता', 'चक्रवर्ती' आदि उपाधियां धारण की थीं। राजा ही राज्य के समस्त बड़े – बड़े अधिकारियों की नियुक्ति करता था। वहीं आज्ञा पत्र व घोषणा पत्र निकालता था। साम्राज्य की आय व्यय की देख रेख और विदेश नीति का संचालन वही करता था। युद्ध के समय वह सेनापति का स्थान ग्रहण करता था एवं नीति का संचालन वही करता था एवं शांति के समय सैन्य संगठन तथा सैन्य निरीक्षण करता था। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। अतः साम्राज्य में उसका निर्णय अंतिम समझा जाता था। हर्ष एक परिश्रमी शासक था। प्रजा की भलाई के लिए दिन रात कठोर परिश्रम करता था। हेनसांग के अनुसार प्रजाहितकारी कार्य करने में वह खाना – पीना व सोना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भी भूल जाता था। उसने यात्रियों की सुविधा के लिए कई विश्रामगृहों का निर्माण करवाया। हर्ष तथा उसके अधिकारी प्रजा के सुख दुखः का पता करने के लिए साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करते रहते थे। उसके शासनकाल में लोगों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। उन्हें सरकारी रजिस्टरों में अपने नाम दर्ज नहीं करवाने पड़ते थे।

### 16.12.2 मंत्री परिषद्

राजा का शासन संचालन में सहायता देने के लिए एक मंत्री परिषद् भी थी। मंत्री को सचिव अथवा अमात्य कहा जाता था। इन मंत्रियों का शासन में काफी महत्वपूर्ण हाथ था। ये मंत्री राजा को शासन कार्य में विदेश नीति के संचालन में सहायता देते थे। राजसिंहासन के खाली होने पर मंत्री परिषद् नये राजा की नियुक्ति का निर्णय करती थी। राज्यवर्धन की मृत्यु पर कन्नौज की मंत्री परिषद् ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था।

हमें बाण के ग्रन्थ 'हर्षचरित' से हर्ष के कुछ प्रसिद्ध मंत्रियों के नाम मिलते हैं। हर्ष का प्रधानमंत्री भण्डी था। अवन्ति युद्ध तथा विदेशी कार्यों का मंत्री था। सिंहनाक सैन्य मंत्री था। स्कन्दगुप्त गज सेना का सेनापति और कुन्तल अश्व सेना का अध्यक्ष था। मंत्रियों के अतिरिक्त बहुत से अन्य कर्मचारी भी शासन प्रबन्ध में महत्वपूर्ण भाग लेते थे। हर्ष के दानपत्रों में प्रभातार, कुमारमात्य, उपरिक एवं विषयपति आदि पदाधिकारियों का उल्लेख आता है। दानपत्रों में 'दूतक' नामक पदाधिकारी का भी उल्लेख मिलता है। लेखक पदाधिकारी भी होते थे और उन्हें कहीं – कहीं 'दीवर' लिखा गया है। अनेक दीवरों के ऊपर एक दीवरपति होता था।

### 16.12.3 सैनिक व्यवस्था

हर्ष के पास एक विशाल स्थायी सेना थी, जिसकी संख्या 6 लाख थी। चीनी यात्री हेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना में एक लाख घुड़सवार, 50000 पैदल सैनिक तथा 6000 हाथी थे। इसके अतिरिक्त अस्थाई सैनिक भी होते थे, जो युद्ध के अवसर पर बुला लिये जाते थे। बाण ने ऊंटों के एक दस्ते का भी उल्लेख किया है। तत्कालीन उत्कीर्ण लेखों में भी नौ-सेना का उल्लेख मिलता है। सैनिकों की भर्ती के लिए स्थान-स्थान पर ढिंढोरे पीटे जाते थे और उनके वेतन की घोषणा की जाती थी। सेना विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी 'महासंधिविग्रहाधिकृत' होता था। इसका कार्य युद्ध करना व संधि करना था। सैन्य संचालन का मुख्य अधिकारी 'महाबलाधिकृत' होता था और उसके अधीन अनेक छोटे-छोटे पदाधिकारी होते थे।

### 16.12.4 न्याय व्यवस्था

हर्ष का न्याय विभाग भी सुसंगठित था, इसलिए प्रजा द्वारा सरकारी नियमों का उल्लंघन बहुत ही कम होता था। हेनसांग के अनुसार, क्योंकि सरकारी शासन ईमानदारी से होता है और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा है, इसीलिए अपराधी वर्ग बहुत छोटा है। फिर भी राज्य में अपराध होते थे और अपराधियों को कठोर दण्ड दिये जाते थे। राजद्रोही को आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। सामाजिक नियम भंग करने वालों के हाथ, नाक, कान आदि काट लिये जाते थे। उस समय देश निष्कासन तथा मृत्यु दण्ड भी प्रचलित था। साधारण अपराधों के लिए अर्थ दण्ड दिया जाता था। जल, अग्नि तथा विष द्वारा भी अपराधियों की परीक्षा ली जाती थी। इतना कठोर दण्ड विधान होते हुए भी चोर, डाकुओं का भय राज्य में व्याप्त था। सड़कें तथा मार्ग पूर्णतः सुरक्षित नहीं थे। स्वयं हेनसांग को दो बार डाकुओं ने लूटा था। बाण के अनुसार त्यौहारों पर कैदियों को छोड़ दिया जाता था। न्याय मीमांसा शास्त्र के अनुसार होता था।

### 16.12.5 पुलिस विभाग

हर्ष का पुलिस विभाग भी सुसंगठित था। पुलिस विभाग शांति एवं व्यवस्था बनाये रखता था। इस विभाग में दण्डपाशिक, दाण्डिक, चौराद्धारण आदि अधिकारी थे। बाण के हर्षचरित में यामचेटि का उल्लेख मिलता है, जो रात में पहरा देने वाली स्त्री थी। इसके अतिरिक्त गुप्तचर भी होते थे, जो छिपकर अपराधों का पता लगाते थे।

### 16.12.6 राजस्व विभाग

हर्ष के काल में राज्य की आय के मुख्य साधन थे। 1. उदंग्र (भूमिकर), 2. उपरिकर (यह उन किसानों से लिया जाता, जिनका भूमि पर अधिकार नहीं होता था), 3. धान्य (कुछ विशेष अनाजों पर लगाया जाने वाला कर),

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. हिरण्य (खनिज पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर), 5. शारीरिक श्रम (जो राजकीय कर नहीं दे पाते थे, उन्हें कर के बदले में कुछ श्रम करना पड़ता था), 6. न्यायालय शुल्क एवं अर्थ दण्ड (अपराधियों से जुर्माने के रूप में वसूल की जाने वाली राशि)। परन्तु राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन भूमिकर ही था, जो किसानों से उपज का 1/6 भाग लिया जाता था। अतः स्पष्ट है कि हर्ष की कर संबंधी नीति उदार थी। जनता पर हल्के कर लगाये जाते थे। सारी भूमि का पर्यवेक्षण तथा माप होता था। माप कराने वाले अधिकारी को 'प्रमाता' कहा जाता था। भूमि की सिंचाई के लिए सरकारी प्रबन्ध होता था। हेनसांग के अनुसार सरकारी आय का अधिकांश व्यय प्रजाहितकारी कार्यों पर किया जाता था। हेनसांग ने व्यय को चार भागों में बांटा था। एक भाग आर्थिक और सरकारी कार्यों पर, दूसरा भाग सार्वजनिक अधिकारियों को वेतन देने पर, तीसरा भाग विद्वानों को इनाम देने पर तथा चौथा ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं को दान देने में खर्च किया जाता था।

### 16.12.7 सार्वजनिक कार्य विभाग

हर्ष एक प्रजापालक शासक था। वह प्रजा को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता था। अतः उसने बहुत सी परोपकारी और धार्मिक संस्थाओं का निर्माण करवाया। उसने अपने अधीन समस्त साम्राज्य में सड़कों का जाल बिछा दिया। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। अतः उसने बहुत से चैत्य, विहार और स्तूप बनवाये। हिन्दुओं के लिए भी कुछ मंदिरों का निर्माण करवाया। सड़कों पर यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनवाई गई। शिक्षा को उसने विशेष प्रोत्साहन दिया। राज्य की ओर से विद्यालयों और विशेषकर जगत् विख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय एवं विहारों को आर्थिक अनुदान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त धार्मिक कार्यो पर भी बहुत धन खर्च किया जाता था। इसके अतिरिक्त पांचवें वर्ष प्रयाग के मेले में विपुल धन सम्पत्ति दान में देता था। हर्ष विद्वानों का आश्रयदाता था।

### 16.12.8 प्रान्तीय शासन

हर्ष ने अपने विशाल साम्राज्य को प्रान्तों में विभक्त कर रखा था। प्रान्तों को 'भुक्ति' अथवा 'देश' कहा जाता था। प्रान्तीय सूबेदार को उपरिक कहते थे। सीमित प्रदेशों के शासकों को संभवतः 'गोप्ता' कहा जाता था। उपरिक अपने प्रान्त में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखता था तथा राजा के फरमानों को लागू करता था। उपकर की नियुक्ति स्वयं सम्राट करता था। किन्तु अपने अधीन अधिकारियों की नियुक्ति उपरिक स्वयं करता था। प्रान्त को कई जिलों में बांटा गया था। जिले को 'विषय' कहा जाता था। 'विषय' के शासक को 'विषयपति' कहते थे जहां उनके न्यायालय तथा कार्यालय होते थे। विषयों को कई तहसीलों में बांटा गया था। तहसील को 'पृथक' कहा जाता था। प्रान्तों एवं जिलों में शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस अधिकारियों की व्यवस्था की गई थी।

### 16.12.9 ग्राम शासन

'पृथक' अनेक गांवों में विभक्त थे। गांव शासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। गांव का शासन प्रबन्ध नम्बरदार तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा चलाया जाता था। उन्हें 'महत्तर' के नाम से पुकारा जाता था। गांव का मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था। वह गांव के सभी मामलों पर फैंसला करता था। ग्राम शासन के अन्य अधिकारियों के नाम इस काल में उत्कीर्ण लेखों में मिलते हैं। जैसे अष्टकुलाधिकरण (आठ कुलों का निरीक्षक), शौल्किक (शुल्क या चूंगी वसूल करने वाला), तलवाटक (गांव का लेखा जोखा रखने वाला), दिविर (लेखक), पुस्तपाल (रिकॉर्ड रखने वाला), अक्षपटलिक (कागज पत्र का संरक्षक या आधुनिक पटवारी की तरह) आदि। इससे पता चलता है कि ग्राम शासन सुसंगठित था। और उसमें गैर सरकारी लोगों का काफी हाथ था। हर्ष की शासन व्यवस्था सुसंगठित थी। उसका शासन उदार सिद्धांतों पर आधारित था। कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी। कर भार अधिक नहीं था और न ही लोगों से बेगार ली जाती थी। लोगों को विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता थी। कर्मचारियों को नियमित रूप से वेतन मिलता था। अतः वे ईमानदारी से कार्य करते थे। हर्ष धार्मिक सम्प्रदायों को दान तथा विद्वानों को पुरस्कार देकर प्रोत्साहित करता था। प्रजा हित के कार्यों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। हेनसांग हर्ष के शासन प्रबन्ध से बहुत प्रभावित हुआ था। अतः उसने हर्ष के शासन प्रबन्ध की काफी प्रशंसा की है।

## 16.13 हर्ष का धर्म

हर्ष के पूर्वज शिव तथा सूर्य के भक्त थे। बाण के अनुसार हर्ष आरंभ में हिन्दू धर्म में विश्वास रखता था और शिव तथा सूर्य की पूजा करता था। 631 ईस्वी तक वह शैव रहा। इसके पश्चात् वह अपनी बहिन राज्यश्री के बौद्ध धर्म के विचारों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से बहुत प्रभावित हुआ। दिवाकर के प्रभाव में आकर उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया और इसकी हीनयान शाखा पर विश्वास करने लगा, किन्तु बाद में हेनसांग के सम्पर्क में आकर वह महायान सम्प्रदाय का समर्थक बन गया बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह शिव तथा सूर्य की उपासना बराबर करता रहा। इस बात की पुष्टि प्रयाग में आयोजित छठे समारोह से होती है।

### 16.13.1 बौद्ध धर्म को संरक्षण

अशोक तथा कनिष्क की भांति उसकी भी बौद्ध धर्म में आस्था थी। अतः उसने भी इस धर्म के प्रचार के लिए कई कार्य किये, जो इस प्रकार हैं : 1. हर्ष ने अपने साम्राज्य में पशुवध तथा मांस भक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 2. भिक्षुओं के लिए हजारों विहारों तथा स्तूपों का निर्माण करवाया तथा पुराने मठों की मरम्मत करवाई। 3. बौद्ध भिक्षुओं को उदारतापूर्वक दान देता था। 4. वह प्रतिवर्ष भिक्षुओं की एक सभा आयोजित करता था। 5. बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर उसने गरीबों और रोगियों के लिए निःशुल्क भोजन तथा औषधियों के वितरण के लिए पुण्य शालाओं का निर्माण करवाया था। 6. कन्नौज परिषद् तथा प्रयाग समारोह से इस बात की पुष्टि होती है कि वह बौद्ध धर्म का पक्का अनुयायी था एवं उसका प्रसारक भी था। हेनसांग के अनुसार वह प्रतिदिन 500 बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराता था। प्रयाग सम्मेलन में वह महात्मा बुद्ध की मूर्ति की पूजा करता था। 7. उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को हर प्रकार का संरक्षण प्रदान किया। 8. काश्मीर से महात्मा बुद्ध के दांत को प्राप्त कर उसे कन्नौज के एक मठ में स्थापित किया।

### 16.13.2 धार्मिक सहनशीलता की नीति

हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी था। फिर भी, उसने अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता की नीति को अपनाया। बौद्ध भिक्षुओं के साथ-साथ वह ब्राह्मणों को भी अनुदान देता था। बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह शिव तथा सूर्य की उपासना बराबर करता रहा। प्रयाग की छठी सभा से पता चलता है कि उसने पहले दिन बुद्ध की मूर्ति की, दूसरे दिन सूर्य और तीसरे दिन शिव की पूजा की। उसने अपने दरबार में बिना किसी विशेष धार्मिक भेदभाव के ब्राह्मण विद्वान बाण भट्ट को संरक्षण दे रखा था।

## 16.14 सभाओं का आयोजन

हर्ष ने अपने शासनकाल में कन्नौज और प्रयाग में सभाओं का आयोजन किया था। डॉ. आर.के. मुकर्जी ने इस संबंध में लिखा है कि हर्ष इतिहास में एक ऐसा राजा हुआ है, जिसे समय – समय पर नियमपूर्वक धार्मिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों से जन सभाओं के आयोजन करने के आविष्कार का श्रेय प्राप्त होता है।

### 16.14.1 कन्नौज की सभा

कन्नौज की सभा का आयोजन हर्ष के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। महायान शाखा के सिद्धांतों का प्रचार करने के उद्देश्य से यह सभा आयोजित की गई थी। इसकी तुलना हम कनिष्क के समय में आयोजित होने वाली चतुर्थ बौद्ध संगीति से कर सकते हैं। डॉ. मुकर्जी ने इस सभा को धर्मों के सम्मेलन के नाम से पुकारा है। इस सभा में वल्लभी तथा कामरूप के राजाओं के अतिरिक्त 18 शासक सम्मिलित हुए थे। इनके अलावा 3000 बौद्ध भिक्षुओं, 3000 ब्राह्मणों तथा 1000 नालन्दा मठ के विद्वानों ने भाग लिया। इस सभा की अध्यक्षता हेनसांग ने की। उसने पांच दिन तक महायान सम्प्रदाय के सिद्धांतों की व्याख्या की। इसके बाद उसने विपक्षी विद्वानों को चुनौती दी कि यदि कोई उसके तर्कों को गलत सिद्ध कर देगा, तो वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के अनुरोध पर अपना शीश भी कटवा लेगा।

हेनसांग की इस घोषणा से हर्ष चिन्ता में डूब गया। हर्ष चीनी यात्री का बहुत आदर करता था और उसकी सुरक्षा चाहता था। इसलिए उसने घोषणा की कि यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य (हेनसांग) को स्पर्श करेगा अथवा उन्हें चोट पहुंचाएगा, तो उसे प्राण दण्ड दिया जायेगा और जो उनके विरूद्ध कोई बात करेगा, तो उसकी जीभ (जीवा) काट ली जाएगी। इस घोषणा से ब्राह्मण और हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी असंतुष्ट हो उठे। उन्होंने हर्ष तथा हेनसांग के वध का षड्यंत्र रचा और सम्मेलन के अंतिम दिन ब्राह्मणों ने सभा भवन में आग लगा दी। इस पर हर्ष ने पांच सौ ब्राह्मणों को बन्दी बनाकर देश से निर्वासित कर दिया। कन्नौज की यह सभा 23 दिन तक चली। इस सम्मेलन में हेनसांग के भाषण का हर्ष पर गहरा प्रभाव पड़ा। हर्ष ने हेनसांग को महायान देव की पदवी से सुशोभित किया।



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस सम्मेलन में हर्ष ने किसी भी धर्म के विद्वान को हेनसांग के विरूद्ध बोलने की अनुमति नहीं दी, क्योकि हर्ष नहीं चाहता था कि हेनसांग इस वाद-विवाद में पराजित हो। इसलिए डॉ. स्मिथ का यह कथन सही प्रतीत होता है कि यह सम्मेलन एक तरफा था। इसके अतिरिक्त इस सम्मेलन में यह भी स्पष्ट होता है कि हर्ष ब्राह्मणों के विरूद्ध था।

### 16.14.2 प्रयाग की सभा

हर्ष हर पांचवें वर्ष प्रयाग में एक सभा का आयोजन करता था। इसमें वह विपुल धनराशि दान में देता था। कन्नौज सभा की समाप्ति के बाद हर्ष ने 643 ई.पू. प्रयाग में छठे पंचवर्षीय वितरण का आयोजन किया। इसमें भी हेनसांग ने इस सभा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इस सभा में 5 लाख लोगों तथा 20 राजाओं ने भाग लिया था। इन सबके ठहरने तथा खाने पीने का उचित प्रबन्ध किया गया था। यह विशाल समारोह 75 दिन तक चलता रहा। सभा के पहले दिन महात्मा बुद्ध की, दूसरे दिन सूर्य (आदित्य) की और तीसरे दिन शिव (ईश्वर देव) की पूजा की गई। इसके पश्चात् कई दिनों तक बौद्ध भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा निर्धनों को विपुल धनराशी दान में दी गई । बताया जाता हे कि हर्ष ने पिछले पांच वर्षो में एकत्रित किया गया सारा धन दान में दे दिया। उसने अपनी निजी सम्पत्ति और वस्तुओं को भी दान में दे दिया। यहां तक की उसने अपने आभुषण एवं वस्त्र भी दान में दिये तथा अपनी बहन राज्यश्री से पुराने वस्त्र लेकन पहने। इतिहास में ऐसा कोई भी सम्राट नही हुआ, जो दानशीलता में हर्ष को पीछे छोड़ सकता हो।

प्रयाग के इस अधिवेशन के बाद ह्वेसांग ने हर्ष से विदा ली और वापिस अपने देश को चल पड़ा। हर्ष ने मार्ग में उसकी रक्षा करने के लिए एक सैनिक टुकड़ी भेजी तथा घोड़ों पर पुस्तकें तथा मूर्तियां पहुंचाने का प्रबन्ध किया।

## 16.15 हर्ष के समय साहित्य का विकास

### 16.15.1 हर्ष की अपनी रचनाएँ

हर्ष साहित्य प्रेमी था वह स्वयं उच्च कोटि का विद्वान था उसने नागनन्द, प्रियदर्शिका तथा रत्नावली तीन प्रसिद्व नाटक लिखें, बंसखेरा के लेख से पता चलता है कि उसका हस्तलेख भी बहुत सुन्दर थ। बाण ने उसे सुन्दर काव्य रचना में दक्ष कहा है। गीत गोविन्द के लेख जयदेव ने हर्ष की तुलना महान् कवि कालिदास से की है।

### 16.15.2 विद्वानों का संरक्षक

स्वयं एक महान विद्वान होते हुए भी हर्ष विद्वानों तथा कवियों का संरक्षक थ। उनको खुले दिल से सहायता देता था। वह राज्य की आय का चौथा भाग विद्वानों को अनुदान देने में खर्च किया करता था। उसके दरबार में कई विद्वान थे। इत्सिंग के अनुसार हर्ष के आदेश से उसके दरबारी कवियों ने रचनाऐं रची। उन रचनाओं के संकलन का भाग जातक माला रखा गया। हर्ष के दरबार में सबसे प्रसिद्ध विद्वान बागभट्ट था। उसने हर्षचरित नामक ग्रन्थ लिखा, जिससे हमें हर्ष की उपलब्धियों तथा उसके पूर्वजों के बारे में बहूमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। हर्षचरित के अतिरिक्त बाण ने कादम्बरी पार्वती परिणय तथा चंडी शतक नामक ग्रन्थों की रचना की थी।

हर्ष के दरबार का दूसरा प्रसिद्ध विद्वान जयसेन था। वह योग शास्त्र, वेद, ज्योतिष, भूगोल, गणित, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों में बहुत निपुण था। हुई ली के अनुसर हर्ष ने बौद्ध विद्वान जयसेन को उड़ीसा के अस्सी नगरों की आय दान में दी परन्तु उस त्यागी विद्वान ने उसे स्वीकार नही किया। बाणभट्ट का सम्बन्धी मयूर भी हर्ष के संरक्षण में थ। उसने कामशास्त्र के प्रसिद्व ग्रन्थ 'अष्टक' की रचना की। अष्टक के अतिरिक्त, 'सूर्यशतक' मयूर का अन्य महान ग्रन्थ था। दिवाकर, भर्तहरि आदि हर्ष के दरबार के अन्य प्रसिद्व विद्वान थे। ह्नेवसांग के प्रस्थान करने से कुछ समय बाद 648 ई. में हर्ष की मृत्यु हो गई।

## 16.16 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हर्ष एक महान विजेता, कुशल शासक प्रबन्धक, दानी, दयालु, शासक, प्रतिभाशाली विद्वान, विद्वानों का संरक्षक, धार्मिक सहिष्णु, प्रजावत्सल, कला एवं साहित्य का प्रेमी था। डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी तथा डॉ. राधा मुकुन्द मुकर्जी के अनुसार हर्ष के चरित्र में अशोक तथा समुद्रगुप्त दोनो के गुणों का समन्वयक था। समुद्रगुप्त की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भांति विभिन्न दिशाओं में विजय प्राप्त कर उत्तरी भारत में रजनीतिक एकता, शांति एवं व्यवस्था स्थापित कीं इसके बाद अशोक की भांति अपना सम्पूर्ण ध्यान प्रजा की सेवा तथा धार्मिक कार्यो में लगाया। वह प्रचीन भारत के इतिहास का अंतिम हिन्दू सम्राट था, जिसने अपने कार्य कलापों से भारतीय इंतिहास में अपना नाम सदा के लिए अमर बना दिया।

## 16.17 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. "हर्ष एक महान सेनानायक और न्यायी शासक तो था ही, पर इससे भी बढ़कर वह धर्म तथा साहित्य का संरक्षक था।" सिद्ध कीजिए।

प्रश्न 2. हेनसांग कौन था? उसके द्वारा दिये गये भारत के विवरण पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

प्रश्न 3. हर्षवर्धन का एक योद्धा तथा प्रशासक के रूप में मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 4. हर्षवर्धन की उपलब्धियों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 5. हेनसांग ने भारत के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन के बारे में क्या लिखा है।

प्रश्न 6. हर्षवर्धन के धर्म तथा धार्मिक कार्यों के बारे में आप क्या जानते है ?

प्रश्न 7. हर्षवर्धन की सांस्कृतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 8. कन्नौज सम्मेलन के बारे में आप क्या जानते हैं ?

प्रश्न 9. हेनसांग पर टिप्पणी लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# अध्याय-17 : चोल एवं चालुक्य वंश तथा उनका प्रशासन

**संरचना**


17.0 प्रस्तावना

17.1 उद्देश्य

17.2 चोल राजवंश

17.3 चोलों का प्रारम्भिक इतिहास

17.4 विजयालय

17.5 आदित्य

17.6 परान्तक प्रथम

17.7 राजराज (985 ई.–1014 ई.)

17.8 राजेन्द्र चोल

17.9 राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारी तथा चोल राजवंश का पतन

17.10 चोलों का शासन प्रबंध

17.10.1 राजा की स्थिति

17.10.2 स्थानीय प्रशासन

17.10.3 राजस्व व्यवस्था

17.10.4 न्याय प्रबंध

17.10.5 सैनिक प्रबंध

17.10.6 साहित्य

17.11 मूर्तिकला

17.12 चालुक्य वंश

17.13 वातापी के चालुक्य

17.13.1 जयसिंह तथा राजवंश की स्थापना

17.13.2 पुलकेशिन द्वितीय (610 ई.–642 ई.)

17.13.3 चालुक्य वंश की शक्ति का अस्थायी पतन

17.14 कल्याणी के चालुक्य

17.14.1 राजवंश की स्थापना

17.14.2 विक्रमादित्य षष्टम् (1076 ई.–1126 ई.)

17.15 सारांश

17.16 अभ्यास प्रश्नावली


## 17.0 प्रस्तावना

हर्ष की मृत्यु के पश्चात दक्षिणी भारतवर्ष में अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो गये लेकिन जिन राजवंशों ने सातवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी के बीच प्रसिद्धी प्राप्त की, उनमे चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव तथा चोलवंश आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 17.1 उद्देश्य

यहां हम चोल एवं चालुक्य वंश के शासकों की उपलब्धियों का ही विवेचन करेंगें।

## 17.2 चोल राजवंश

चोलों की उत्पति के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किये है। कुछ विद्वानों का मानना है कि चोल तमिल भाषा के शब्द चुल से बना है, जिसका अर्थ होता है 'घूमना'। चूंकि ये लोग इधर – उधर घूमते रहते थे, इसलिए 'चोल' कहलाऐं। ये सभवतः उत्तरी भारतवर्ष के क्षत्रिय थे, परन्तु इधर–उधर घूमते हुए दक्षिण भारतवर्ष पहुंच गये। इसके पश्चात उन्होने तंजौर तथा त्रिचनापल्ली जिलों पर अधिकार कर लिया तथा तंजौर को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने लगे। कालान्तर में वे दक्षिणी भारत के शक्तिशाली शासक बन गये।

## 17.3 चोलों का प्रारम्भिक इतिहास

अशोक के समय भी चोल राजवंश विद्यमान था। इसकी पुष्टि उसके अभिलेखों से होती है। बौद्ध ग्रन्थों से लंका और चोल राज्य की आपसी सम्बन्धों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। दूसरी शताब्दी में चोल राज्य दक्षिणी भारतवर्ष का एक प्रमुख द्रविड़ राज्य थां इसके बाद इस वंश का पतन हो गया और इन लोगों को अपना राज्य स्थापित कर लियां चोल राजवंश के प्रमुख शासकों की उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :–

## 17.4 विजयालय

विजयालय पल्लव, राज्य का सामन्त था। उसने अवसर का लाभ उठाकर अपने आपको स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया एवं पाण्ड्यों से तंजौर छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया। वह अपने वंश का पराक्री तथा प्रसिद्व शासक था। उसने तंजौर में दुर्गा माता मंदिर का निर्माण करवाया। इस प्रकार नौवी शताब्दी के मध्य चोल शक्ति का दक्षिण में उत्थान हुआ।

## 17.5 आदित्य

विजयालय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आदित्य शासक बने उसने 871 ई. से 907 ई. तक शासन कियां उसने अंतिम पल्लव नरेश अपराजितवर्मन को पराजित किया और उसके कुछ और प्रदेश अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिये। तत्पश्चात् उसने पाण्ड्यों से कुछ प्रदेश छीन लिये, जिससे चोल राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। वह शिव का उपासक था और उसने अनेक मंदिर बनवाये।

## 17.6 परान्तक प्रथम

आदित्य के बाद उसका पुत्र परान्तक प्रथम शासक बना। उसने 907 ईस्वी से लेकर 953 ईस्वी तक शासन किया। उसने पाण्ड्य राजाओं से युद्ध किये और उनके कुछ प्रदेश छीनकर अपने राज्य में मिला लिये। पल्लवों की बची खुची शक्ति को नष्ट करके उत्तर में नैल्लोर तक का प्रदेश उसने जीत लिया। इस प्रकार उसने चोल राज्य का विस्तार किया, लेकिन जीवन के अंतिम वर्ष उसके लिए दुखदायी साबितहुए। वह लगभग 934 ईस्वी में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के हाथों परास्त हुआ। इसके पश्चात् 949 ईस्वी में राष्ट्रकूटों ने चोलों को युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध में चोल युवराज राजादित्य लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। राष्ट्रकूटों द्वारा दो बार बुरी तरह पराजित होने से चोलों की शक्ति को गहरी चोट लगी और चोल नरेश परान्तक प्रथम का इस दुख से 953 इस्वी को देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य एवं दुर्बल सिद्ध हुए। अतः आगामी 32 वर्षो तक कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

## 17.7 राजराज (985 ईस्वी – 1014 ईस्वी)

उत्तम चोल का पुत्र राजराज 985 ईस्वी में तंजौर का शासक बना। वह इस वंश का सबसे प्रसिद्ध और महान् शासक था। उसने 985 ईस्वी से लेकर 1014 ईस्वी तक शासन किया। उसने अपनी विजयों के द्वारा छोटे से चोल राज्य को एक विशाल साम्राज्य में परिणत कर दिया। उसने वैंगी के चालुक्य नरेश, मदुरा के पाण्ड्य नरेश, चेर (केरल) के नरेश, मैसूर एवं कलिंग के शासकों को युद्ध में पराजित किया। कहा जाता है कि उसने पूर्वी द्वीप समूह तथा लंका पर भी विजय प्राप्त की। कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि राजराज ने कलिंग का प्रदेश और 12000 द्वीप विजय किये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजराज चोल की गणना दक्षिण भारत के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत के महान् सम्राटों में की जाती है। वह एक महान् विजेता ही नहीं था बल्कि एक कुशल शासन प्रबंधक कला तथा साहित्य का संरक्षक भी था। राजराज ने तंजौर में एक बड़ा भव्य और विशाल शिव मंदिर बनवाया, जो उसके नाम पर राजेश्वर मंदिर कहलाता है। यह उस समय की स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। राजराज शिव का उपासक था, परन्तु उसने अन्य धर्मो के प्रति सहनशीलता की नीति को व्यावहारिक रूप में अपनाया। उसने सुमात्रा के शासक को भारत में बौद्ध विहार के निर्माण की स्वीकृति दी तथा उसके निर्माण के लिए नागापट्टम नामक एक गांव अनुदान के रूप में दिया। डॉ.आर.एस. त्रिपाठी के अनुसार राजराज अपनी सफलताओ के आधार पर प्राचीन धार्मिक योद्धाओ तथा निर्माताओं में प्रथम स्थान का अधिकारी है और उसे महान् कहना भी अन्याय संगत नहीं होगा।

## 17.8 राजेन्द्र चोल

राजराज प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम चोल गद्दी पर बैठा। वह भी अपने पिता की भांति महान् विजेता था। उसने 1014 ईस्वी से 1044 ईस्वी तक शासन किया और इस काल में अपने वंश तथा राज्य के गौरव में वृद्धि की। उसने दक्षिण के कई राजाओं को हराकर अपनी सत्ता अपनी पूरी तरह स्थापित की। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत के शासकों से भी लोहा लिया। उसने बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, पश्चिमी तथा पूर्वी बंगाल के नरेशों को युद्ध में पराजित किया। उसने गंगा के डैल्टे की विजय के उपलक्ष में गंगई कौंडा की उपाधि धारण की। राजेन्द्र चोल ने शक्तिशाली स्थल सेना के अतिरिक्त अपने पिता के समान एक विशाल जलसेना कायम रखी। उसने नौ सेना के बल पर अण्डमान, निकोबार, जावा, सुमात्रा और मलाया आदि द्वीपों पर विजय प्राप्त की। इन विजयों से चोल राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ।

राजेन्द्र चोल एक महान् विजेता होने के साथ – साथ उच्च कोटि का शासन प्रबन्धक, कला एवं साहित्य का संरक्षक भी था। उसने चोलपुरम में चोलेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर को निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त कई तालाबों, झीलों, एवं भवनों का निर्माण करवाया गया। उसने जनजीवन को सुखी बनाने के लिए राज्य में शांति तथा व्यवस्था स्थापित की।

## 17.9 राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारी तथा चोल राजवंश का पतन

राजेन्द्र चोल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र राजाधिराज शासक बना। उसने 1044 ईस्वी से 1052 तक राज्य किया। चालुक्य शासक सोमेश्वर प्रथम से उसका संघर्ष चलता रहा। उसने पाण्ड्य चेर (केरल) तथा श्रीलंका के विद्रोहों का दमन किया। चालुक्य शासक से युद्ध करते हुए 1052 ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गई। राजाधिराज के उत्तराधिकारी (राजेन्द्रदेव, वीर राजेन्द्र, अधिराजेन्द्र, कुलोतुंग आदि) काफी समय तक शासन करते रहे। उनमें से कुछ एक ने युद्ध तथा शासन के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताऐं प्राप्त कीं। कला के क्षेत्र में भी उनकी रूचि थी।

कुलोतुंग इस वंश का अंतिम प्रतापी शासक था। उसने चोल राज्य के गौरव को फिर से स्थापित किया, परन्तु उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। कुलोतुंग की मृत्यु के बाद चोलवंश लगभग 150 वर्षो तक अस्तित्व में रहा, परंतु उसके उत्तराधिकारी अयोग्य एवं दुर्बल सिद्ध हुए, जिसके कारण चोल राजय काफी दुर्बल हो गया। पडौसी शासकों से इस पर निरन्तर हमले हुए। राज्य के भीतरी सामन्तों ने विद्रोह करके स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया। अन्त में तेरहवीं शताब्दी के अन्त मेकं मारवर्मन कुलशेखर पाण्ड्य ने चोल राज्य को पाण्ड्य साम्राज्य में मिला लिया।

## 17.10 चोलों का शासन प्रबन्ध

चोल शासक कुशल शासन प्रबन्धक थे। उन्होंने अपने राज्य में ऐसी शासन व्यवस्था स्थापित की, जो दक्षिण के उत्तरवर्ती शासकों को शताब्दियों तक प्रेरणा देता रहा। इस शासन व्यवस्था की प्रमुख विशेषताऐं निम्नलिखित थीं।

### 17.10.1 राजा की स्थिति

चोल राज्य के शासन प्रबन्ध का सर्वोच्च मुखिया राजा था। राजा का पद प्रायः पैतृक था। तत्कालीन साहित्य से पता चलता है कि प्रत्येक राजा कांजीवरम् तथा तंजौर में अपना राज्याभिषेक उत्सव बडी धूम धाम से मनाता था। राजा अपने जीवनकाल में अपने ज्येष्ठ को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देते थे।

शासन प्रबन्ध में राजा की सहायता करने के लिए तथा उसे सलाह देने के लिए कुछ मंत्री थे। जो विभिन्न विभागों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में मुखिया के रूप में कार्य करते थे। मंत्रियों को वेतन के बदले में भूमि दी जाती थी। मंत्रियों के अतिरिक्त दो प्रकार के राज्याधिकारी होते थे। उच्च कोटि के अधिकारी तथा निम्न कोटि के अधिकारी। सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। परन्तु इस संबंध में कोई विस्तृत जानकारी हमें प्राप्त नहीं होती।

### 17.10.2 स्थानीय प्रशासन

शासन प्रबन्ध की सुविधा के लिए चोल शासकों ने अपने साम्राज्य को छः प्रान्तों में बांट रखा था। प्रत्येक प्रान्त को 'मण्डलम' कहा जाता था। प्रत्येक प्रान्त 'नाडुओं' तथा जिलों में विभक्त था। नाडू से छोटी प्राशसनिक इकाई 'कोट्टम' कहलाती थी। प्रत्येक कोट्टम में अनेक गांव होते थे। प्रान्त के सूबेदार की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। और वह प्रायः राजा का निकट सम्बन्धी होता था। उसका प्रमुख कार्य प्रान्त की शासन व्यवस्था का संचालन करना एवं राजा की आज्ञाओं का पालन करवाना था। उसकी सहायता के लिए कई एक राज्याधिकारी होते थे।

चोल शासन व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह थी कि शासन प्रबन्ध के संचालन हेतु कई एक सार्वजनिक समितियां होती थीं, जिनके सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा किया जाता था। इन समितियों को काफी अधिकार प्राप्त थे। इनकी बैठकें प्रायः मंदिरों में होती थीं।

### 17.10.3 राजस्व व्यवस्था

चोल राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। कृषक अनाज अथवा नकद दोनों ही प्रकार से अपना भूमिकर चुका सकते थे। भूमिकर उपज के आधार पर लिया जाता था। टैक्स देने के लिए ग्रामीण सामूहिक रूप से उत्तरदायी थे। कृषको को सिंचाई की सुविधा प्रदान करने हेतु कई तालाब तथा झीलों का निर्माण करवाया गया था। राजस्व कर के अतिरिक्त राज्य को जुर्मानों तथा व्यवसाय कर से भी आय होती थी।

### 17.10.4 न्याय प्रबन्ध

चोल राज्य का न्याय प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। साधारण अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था, परन्तु कभी कभी कैद की सजा भी दी जाती थी। राज्य विद्रोहियों को मृत्युदण्ड दिया जाता थाा और उनकी सम्पति भी जब्त कर ली जाती थी। चीनी यात्री चाऊ–जु–कुआ ने लिखा है, जब कोई किसी अपराधी को दोषी पाया जाता है, तब राजा का एक मजिस्ट्रेट उसे सजा देता है, यदि अपराध छोटा हुआ तो उसे एक लकड़ी के चौखट से बांधकर 50,70 या 100 डंडे मारते हैं। जघन्य अपराधों के लिए अंग-भंग की सजा दी जाती है या फिर हाथी के पैरों तले कुचलवा देने की प्रथा है।

### 17.10.5 सैनिक प्रबन्ध

चोलों ने एक शक्तिशाली सेना की स्थापना की। चोल सेना के चार अंग थेः पदति, अश्वारोही, गजारोही एवं नौ सेना। सम्पूर्ण सेना की संख्या एक लाख पचास हजार थी। यह संख्या घटती बढ़ती रहती थी। सेना के लिए घोड़े अरब देश से मंगवाये जाते थे। सेना का प्रधान राजा होता था, जो युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था। राजा के अधीन प्रधान सेनाध्यक्ष होता था। उसके अधीन टुकड़ियों के नायक होते थे। अभिलेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि सेना के विभिन्न दल होते थे, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

**1. कैकोलप्पेरुम्बर्ड :** यह राजाओं के पैदल सैनिकों का अंगरक्षक दल होता था। इसे 'वेलैक्कारर' भी कहा जाता था। इस सेना के विश्वसनीय सैनिक राजा की जान बचाने के लिए अपनी जान तक दे देते थे।

**2. कुडिरैच्चैवगर :** यह चुने गए घुड़सवारों का दल था।

**3. कुजिरमल्लर या आनैयाटकल :** यह हाथियों के दल का नाम था।

**4. चुने हुए धनुर्धारियों का दल।**

सेना के प्रत्येक अंग में अनुशासन बनाये रखने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। सैनिकों को उचित शिक्षा दी जाती थी।

चोलों के पास एक शक्तिशाली जल सेना (नौ सेना या जहाजी बेड़ा) भी था, जिसकी सहायता से उन्होंने जावा, मलाया, सुमात्रा, निकोबार तथा लंका को विजय किया था। चोल नौ सेना ने कुछ समय के लिए बंगाल की खाड़ी को चोल झील

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में परिणत कर दिया। शक्तिशाली नौ सेना के कारण चोलों का वाणिज्य व्यापार भी निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होता रहा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चोल शासकों ने अपने साम्राज्य ने अपने साम्राज्य में अत्यंत उच्च कोटि की शासन प्रबन्ध स्थापित किया था।

### 17.10.6 चोलों के शासनकाल में साहित्य एवं कला

**साहित्य** : चोल राजा साहित्य प्रेमी थे। उनके समय में संस्कृत और तमिल दोनों ही भाषाओं के साहित्य की उन्नति हुई। संस्कृत के क्षेत्र मे कुमारिल और शंकर जैसी विभूतियां इसी युग की देन है। चोलों का काल जन साहित्य में जन जागरण का काल कहा जा सकता है। तत्कालीन साहित्य से पता चलता है कि दक्षिण की जनता की साहित्य में बहुत अधिक रूचि थी।

**कला** : चोल सम्राट कला प्रेमी थे। उनके समय में स्थापत्य कला की बहुत अधिक उन्नति हुई। इस वंश के राजाओं ने नगरों का निर्माण करवाया और उन्हें सुन्दर प्रासादों तथा देवालयों से अलंकृत किया। चोल नरेश राजराज प्रथम ने 1010 ईस्वी में तंजौर में राजराजेश्वर या बृहदीश्वर मंदिर नामक प्रसिद्ध मंदिर बनवाया। यह मंदिर दक्षिण के मंदिरों में सबसे बड़ा तथा ऊंचा है। यह तेरह मंजिलों में बनाया गया है। मंदिर के गर्भ में विशाल शिवलिंगम है, जिसे बृहदीश्वर कहा जाता है। यह मंदिर उस समय की कला का उत्कृष्ट नमूना है। नीलकण्ठ शास्त्री लिखते है कि इसमें कोई शक नहीं कि तंजौर का विमान द्रविड़ कलाकारों की सबसे सुन्दर रचना है। इसके साथ ही यह समूचे भारतीय वास्तु की कसौटी भी है। इसके अतिरिक्त राजराज प्रथम ने विष्णु के मंदिर भी बनवाये। अत्यंत प्रशंसा की है। डॉ. शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया' में चोलों के शासन प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए लिखा है योग्य नौकरशाही और सक्रिय स्थानीय सभाओं, जो जनता में नागरिकता की सजीव भावना का संचार करती थीं, के बीच प्रशासनिक दक्षता और शूचिता (Purity) के क्षेत्र मे एक उच्च मानदण्ड स्थापित किया गया था, जो संभवतः समूचे हिन्दू राज्य में सबसे ऊंचा था। राजेन्द्र चोल प्रथम ने बृहदीश्वर मंदिर की अनुकृति कर अपनी नवीन राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम् में चोलेश्वर के मंदिर (शिवमंदिर) का निर्माण करवाया। इसका निर्माण 1013 ईस्वी में हुआ था। यह मंदिर भी चोल कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसके अतिरिक्त चोल नरेशों ने अनेक सुन्दर प्रासादों, झीलों तथा बांधों आदि का भी निर्माण करवाया।

## 17.11 मूर्तिकला

इस काल में प्रस्तर एवं धातु दोनों ही प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस काल में विभिन्न देवी देवताओं की अत्यंत आकार्षक मूर्तियां बनी। इन मूर्तियों में धातु या कांस्य की प्रतिमाऐं अधिक सुन्दर हैं। चोलयुगीन मूर्तियों में तंजौर की सरस्वती की मूर्ति और गंगैकोंडचोलपुरम् की दीवार में बनी विशाल नटराज या नृत्य करते हुए शिव की कांस्य प्रतिमा बहुत भव्य है। इसके अतिरिक्त अन्य मूर्तियों में शिव के साथ – साथ पार्वती, स्कन्दकार्तिकेय एवं गणेश आदि प्रमुख हैं, परन्तु चोलयुगीन नटराज प्रतिमा को चोल कला का सांस्कृतिक निचोड़ या सार कहा जाता है।

चोलों ने चार शताब्दियों तक दक्षिण भारत में कला को असाधारण रूप से समृद्ध किया। किसी भी शासक राजवंशके समय में इतने भव्य और विशाल स्मारकों का निर्माण नहीं हुआ, जितना कि चोलों के समय में हुआ।

## 17.12 चालुक्य वंश

**उत्पत्ति** : चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय पर इतिहासकार एकमत नहीं है। डॉ. आयंगर के अनुसार चालुक्य उत्तरी भारत के क्षत्रिय थे, जो अयोध्या में शासन किया करते थे। वहां उन्होंने कुछ पीढ़ियों तक शासन किया। इसके पश्चात् वे दक्षिण में आकर बस गये। डा. बी.ए. स्मिथ चालुक्य को गुर्जर प्रतिहारों के वंशज मानते हैं। विल्हण के विक्रमादेव चरित के अनुसार चालुक्यों का मूल स्थान अयोध्या था। विल्हण के अनुसार चालुक्य ब्रह्म की हथेली से उत्पन्न एक ऋषि की सन्तान थे। इन विभिन्न मतों के आधार पर उनकी उत्पति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नही का जा सकता। परन्तु अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि चालुक्य उत्तरी भारत के क्षत्रिय थे। वहां से वे राजस्थान गये। राजस्थान से दक्षिणी भारत में पहुंचे। छठी शताब्दी में वे दक्षिणी भारत में बस चुके थे। अनुकूल परिस्थितियों को लाभ उठाते हुए उन्होंने छठी शताब्दी में अपने राजवंश की स्थापना की। कालान्तर में वे दो भागों में विभक्त हो गये। वातापी के चालुक्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एवं कल्याणी के चालुक्य।

## 17.13 वातापी के चालुक्य

### 17.13.1 जयसिंह तथा राजवंश की स्थापना

चालुक्यों की जिस शाखा के शासकों ने बीजापुर जिले में स्थित वातापी को अपनी राजधानी बनाकर राज्य किया, उसे इतिहास में वातापी के चालुक्यों के नाम से पुकारा जाता है। इस वंश का प्रथम शासक जयसिंह था, जिसने राष्ट्रकूटों तथा कदम्बों से लड़कर एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, परन्तु इसके वास्तविक संस्थापक होने का श्रेय पुलकेशी प्रथम को प्राप्त है। उसने चालुक्य शक्ति का विकास एवं विस्तार किया और अश्वमेघ यज्ञ भी किया। पुलकेशी प्रथम की मृत्यु के बाद कीर्तिवर्मन शासक बना। इसने 567 ईस्वी से 597 ईस्वी तक शासन किया। उसने उत्तरी कोंकण को अपने राज्य का भाग बनाया। कीर्तिवर्मन के बाद मंगलेश शासक बना। उसने रेवती द्वीप तथा कुलचुरियों पर विजय प्राप्त कर दक्षिण में अपनी धाक जमा दी। उसके द्वारा वातापी में एक सुन्दर विष्णु मंदिर का निर्माण कराया गया।

### 17.13.2 पुलकेशिन द्वितीय (610 ईस्वी 642 ईस्वी)

मंगलेश अपने पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। ऐसी स्थिति में कीर्तिवर्मन के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने 610 ईस्वी में अपने चाचा मंगलेश से युद्ध लड़ा। इस युद्ध में मंगलेश पराजित हुआ तथा मारा गया। मंगलेश की मृत्यु के बाद 610 ईस्वी में पुलकेशिन द्वितीय वातापी का शासक बना। वह इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था। उसने 642 ई. तक राज्य किया। शासक बनने के बाद पुलकेशिन द्वितीय ने राज्य विरोधी तत्वों का दमन किया। और फिर कदम्बों की राजधानी बनवासी पर अधिकार किया। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन उसके हाथों परास्त हुआ। उसकी सैनिक सफलताओं से प्रभावित होकर चोल तथा पाण्ड्य शासकों ने भी पुलकेशिन द्वितीय की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार समस्त दक्षिणापथ पर उसका अधिकार हो गया।

पुलकेशिन द्वितीय ने उत्तरी भारत के शक्तिशाली सम्राट हर्ष को युद्ध में पराजित कियां। ह्वेनसांग के अनुसार वह बड़ा कुटनीतिज्ञ था। उसके विदेशी शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। पुलेकिशन द्वितीय ने फारस के राजा के दरबार अपना दूत भेजा था और उसके बदले में वहा से भी एक उसके दरबार में में आया था। अजन्ता की गुफाओं में अब भी एक चित्र है, जिसमें पुलकेशिन द्वितीय फारस के राजदूत का स्वागत कर रहा हैं।

इस महान् शासक के जीवन के अंतिम दिन बड़े कष्ट से बीते। 642 ई. में पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन ओर पुलकेशिन द्वितीय के बीच युद्व हुआ। इस युद्व के पुलकेशिन द्वितीय पराजित हुआ और लड़ता हुए वीरगति को प्राप्त हुआ।

### 17.13.3 चालुक्य वंश की शक्ति का अस्थायी पतन

पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु ने चालुक्यों को असह्य धक्का पहुंचाया। इसके बाद वातापी के चालुक्यों की शक्ति घटती चली गई। पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र विक्रमादित्य शासक बना। उसने पल्लवों को परास्त कर अपने पूर्वजों के सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उसने पूर्वजों को लुप्त गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयास कियां उसने पाण्ड्य तथा केरलों को भी पराजित किया।

विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात विनयादित्य (680 ई – 696 ई.) शासक बना। उसने केरलों, चोलों तथा पाण्ड्यो पर विजय प्राप्त कीं। विनयादित्य की मृत्यु के पश्चात् विजयादित्य शासक बना। उसने 696 ई. से 733 ई. तक शासन किया। उसने पल्लवों को परास्त किया और उनसे कर वसूल किया। विजयादित्य के पश्चात उसका पुत्र विक्रमादित्य शासक बना। उसने पल्लव नरेश को बुरी तरह पराजित किया। और उसकी राजधानी में खूब लूटमार की। इसके अतिरिक्त चोल, केरल तथा पाण्ड्य आदि भी उसके हाथों पराजित हुए। विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय शासक बना। राष्ट्रकूट वंश के सरदार दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन को युद्ध में पराजित किया और उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार आठवीं शताब्दी के मध्य में चालुक्म वंश समाप्त हो गया।

**भारतीय संस्कृति की देन** : वातापी के चालुक्यों ने लगभग दो शताब्दियों तक शासन किया। इस काल में उन्होंने भारतीय संस्कृति को महत्वपूर्ण देन दी। उनके शासनकाल में वातापी के अतिरिक्त अन्य नगरों में ब्रह्मा, शिव तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विष्णु के मंदिर बनवाये गये। गुफा मंदिरों को बनाने की प्रथा प्रचलित हुई। चालुक्यों ने अजन्ता की गुफाओं में भी अनेक चित्र निर्मित कराये।

## 17.14 कल्याणी के चालुक्य

### 17.14.1 राजवंश की स्थापना

चालुक्य वंश की इस शाखा की राजधानी कल्याणी थी, इसलिए यह वंश कल्रूाणी के चालुक्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस राजवंश की स्थापना का श्रेय तैलप द्वितीय को प्राप्त है। तैलप द्वितीय अपने आपको वातापी के चालुक्यों का वंशज मानता था। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि तैलप पहले राष्ट्रकूटों का सामान्त था। कालान्तर में राष्ट्रकूटों की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाते हुए उसने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। कल्याणी के चालुक्य वंश में तैलप एक शक्तिशाली राजा हुआ। उसने मालवा के परमारों तथा चेदि के कलचुरियों से युद्ध किया। देवगिरि का शासक उसके हाथों परास्त हुआ। उसके शासनकाल में उसके पुत्र सत्याश्रय ने तंजौर के चोल शासकों से युद्ध किया।

### 17.14.2 विक्रमादित्य षष्टम् (1076 ईस्वी 1126 ईस्वी)

इस वंश का सुप्रसिद्ध शासक विक्रमादित्य षष्टम् हुआ। उसने 1076 से लेकर 1126 ईस्वी तक शासन किया। शासक बनने के बाद उसने नया संवत् चलाया, जिसे चालुक्य विक्रम संवत् कहते हैं। उसका चोलों से युद्ध चलता रहा। होयसल का शासक उसके हाथों परास्त हुआ। 1085 ईस्वी में उसने कांची को लूटा। वह एक महान् विजेता था। उसका साम्राज्य उत्तर में नर्मदा तक तथा दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था।

विक्रमादित्य षष्टम् एक कुशल शासन प्रबन्धक भी था। उसने विक्रमपुर नामक एक नगर बसाया और एक विशाल मंदिर का निर्माण भी करवाया। वह कला तथा साहित्य का संरक्षक भी था। उसके दरबार में विल्हण तथ विज्ञानेश्वर जैसे उच्च कोटि के विद्वान थे। विल्हण ने विक्रमादेव चरित नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्स्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक विख्यात भाष्य लिखा। 1126 ई. में इस महान् शासक की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस राजवंश का पतन आरंभ हो गया। 189 ईस्वी में देवगिरि के यादवों ने चालुक्य राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया।

## 17.15 सारांश

इस प्रकार कल्याणी के चालुक्य वंश का अंत हुआ।

## 17.16 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. चोल चालुक्य, प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. चोल शासन व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3. चोलकालीन साहित्य एवं कला पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 4. चालुक्य कालीन धर्म एवं कला का विवेचन कीजए।

प्रश्न 5. चोलों की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 6. चालुक्यों की धार्मिक नीति का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 7. चोलों की सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई-18 : राजपूत युग

## (विग्रहराज चाहमान, कुमार पाल चालुक्य एवं भोज परमार के विशेष संदर्भ में)

**संरचना**


18.0 प्रस्तावना

18.1 उद्देश्य

18.2 राजपूतों की उत्पत्ति के सिद्धान्त

- 18.2.1 राजपूत राजपुत्र शब्द का अपभ्रंश है
- 18.2.2 प्राचीन क्षत्रियों की उत्पत्ति
- 18.2.3 अग्निकुण्ड से उत्पत्ति
- 18.2.4 विदेशियों से उत्पत्ति
- 18.2.5 मिश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त
- 18.2.6 उत्तरी भारत के मुख्य राजपूत राज्य

18.3 कन्नौज के प्रतिहार तथा राठौड़

- 18.3.1 प्रतिहारवंश
- 18.3.2 मिहिरभोज प्रतिहार

18.4 गहड़वाल अथवा राठौड़ वंश

18.5 चालुक्य वंश

- 10.5.1 कुगारपाल चालुक्य (1143 1171 ई)
  - 18.5.1.1 कुमारपाल की विजय
- 18.5.2 साम्राज्य का विस्तार
- 18.5.3 कुमारपाल का मूल्यांकन
- 18.5.4 कुमारपाल चालुक्य के उत्तराधिकारी

18.6 मालवा के परमार

- 18.6.1 राजा भोज परमार
- 18.6.2 भोज की सांस्कृतिक उपलब्धियां
- 18.6.3 भोज के उत्तराधिकारी

18.7 चाहमान वंश (दिल्ली तथा अजमेर के चौहान)

- 18.7.1 अजमेर के चौहान
- 18.7.2 विग्रहराज चतुर्थ (1153 ई.–1164 ई.)
  - 18.7.2.1 विग्रहराज चतुर्थ की विजय
  - 18.7.2.2 विग्रहराज की सांस्कृतिक उपलब्धियां

18.8 पृथ्वीराज तृतीय

- 18.8.1 पृथ्वीराज की विजय
- 18.8.2 युद्ध के कारण


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.8.3 तेराईन का द्वितीय युद्ध (1192 ई.)
18.8.4 युद्ध के परिणाम तथा महत्त्व
18.8.5 पृथ्वीराज का शासन प्रबंध
18.8.6 साहित्य के संरक्षक के रूप में पृथ्वीराज
18.8.7 शिक्षा के संरक्षक के रूप में पृथ्वीराज
18.8.8 धर्म के रक्षक के रूप में पृथ्वीराज
18.8.9 जनकल्याणकारी शासक के रूप में
18.8.10 पृथ्वीराज की पराजय के कारण
18.9 सारांश
18.10 अभ्यास प्रश्नावली

## 18.0 प्रस्तावना

हर्ष उतरी भारत का अंतिम महान हिन्दू सम्राट था। 648 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई तथा भारत के विभिन्न भागों में इन राजपूतों के राज्य स्थापित हो गये। 648 ई. से लेकर 1192 ई. तक भारत में इन राजपूतों का ही प्रभुत्व रहा, इसलिए 648 ई. से लेकर 1192 ई. तक के काल को भारतीय इतिहास में राजपूत काल कहते है। इस युग का भारतीय इतिहास में विशेष महत्व है। राजपूत का शब्दार्थ है : राजा का पुत्र। ऐसा माना जाता है कि राजपूतों की उत्पति, भारतीय तथा विदेशी जातियों के मिश्रण से हुई थी। यह जाति अपनी वीरता के लिए, प्रतिज्ञा पालन के लिए तथा क्षमाभावों के लिए प्रसिद्व है, परन्तु उनमें जाति भेदभाव अधिक था। वे आपसी ईर्ष्या तथा द्वेष के शिकार थे। अतः संकट के समय में वे भी विदेशी शत्रुओं के विरूद्व इकट्ठे होकर युद्व नही कर सके। परिणामस्वरूप वे मुस्लिम आक्रमणकारियों के हाथों परास्त हुए। इस प्रकार भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई।

## 18.1 उदेश्य

यहाँ राजूपतों के बारे में जानकारी दी जायेगी।

## 18.2 राजपूतों की उत्पति के सिद्वान्त

राजपूतों की उत्पति कैसे हुई ? इस प्रश्न पर इतिहासकार एक मत नही है। कुछ इतिहासकार कहते है कि राजपूत विदेशी जातियों की संतान है, जबकि अन्य विद्वान उन्हे भारत की ही क्षत्रिय वंश की एक शाखा मानते है। चन्द्रबरदाई के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुंड से हुई थी। इस प्रकार राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये है, वे इस प्रकार है:–

### 18.2.1 राजपूत राजपुत्र शब्द की अपभ्रंश है

राजपूत संस्कृत भाषा के शब्द 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। विद्वानो का मानना है कि प्राचीन भारत के 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग शासक वर्ग के राजकुमारों के लिए होता है। चूंकि प्राचीन काल में शासक वर्ग प्रायः क्षत्रिय ही होते थे। अतः सामान्यतः उनके राजकुमार को 'राजपुत्र' क नाम से पुकारा जाता था। कालान्तर में राजपुत्र शब्द का विकृत रूप राजपूत हो गया। राजपूत शब्द का प्रचलन मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के बाद हुआ, क्योंकि मुसलमानों को राजपूत शब्द का उच्चारण करने में कठिनाई होती थी। अतः उन्हे राजपुत्र के स्थान पर राजपूत शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। डॉ. ईश्वरी प्रसाद भी इसी मत के समर्थक है। उन्होने अपने मत की पुष्टि में लिखा है, कि राजपुताना के कुछ राज्यों में साधारण बोलचाल में राजपूत शब्द का प्रयोग क्षत्रिय सामन्त अथवा जागीरदार के अवैध पुत्रों को सूचित करने के लिए किया जाता है। किन्तु वास्तव में यह संस्कृत के राजपुत्र शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसका अर्थ होता है, राजवंश का।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 18.2.2 प्राचीन क्षत्रियों की उत्पति

सी.वी. वैद्य, वेदव्यास तथा गौरशंकर ओझा के अनुसार राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की संतान है, जो अपने को सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी मानते है। जैसे प्रतिहार अपने को सूर्यवंशी मानते है, जबकि चन्देल अपने को चन्द्रवंशी। प्राचीनकाल में क्षत्रिय समाज दो भागों में विभक्त था – सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी । कालान्तर में तीसरी शाखा यदुवंशी भी बन गई। समय के साथ साथ क्षत्रियों की इन तीन शाखाओं से अनेक उपजातियाँ भी बन गई। इसके अतिरिक्त परिवार विशेष के मुख्य व्यक्तियों के नाम पर भी वंशों की परम्परा चल पड़ी। आधुनिक राजपूत इन्ही प्राचीन क्षत्रियों के वंशज है। अपने मत की पुष्टि में उपर्युक्त इतिहासकार निम्नलिखित तर्क देते है (1) राजपूतों का शारीरिक आकार विदेशियों की अपेक्षा आर्यो से अधिक मिलता जुलता था। (2) राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की तरह अश्व तथा अस्त्र की पुजा किया करते थे और यज्ञ तथा बलि में भी उनका विश्वास था (3) नौवीं तथा दसवीं शताब्दी के राजपूत राजाओं के शिलालेखों से पता चलता है कि वे सूर्यवंशी, तथा चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। (4) रामायण तथा महाभारत के क्षत्रियों को जो नैतिक आचरण के नियम थे, उनका पालन राजपूतों ने मुसलमानों से हुए युद्धों में किया था। (5) राजपूतों के रीति रिवाज तथा रहन सहन के ढंग प्राचीनकाल के क्षत्रियों से मिलते हुलते है। इन तर्को के आधार पर सी.सी. वैद्य तथा श्री ओझा ने ये सिद्व करने का प्रयास किया है कि राजपूत प्रीचन क्षत्रियों की संतान थे।

### 18.2.3 अग्निकुंड से उत्पति

चन्दरबरदाई ने अपने सुप्रसिद्व काव्य पृथ्वीराज रासो में राजपूतों की उत्पति अग्निकुंड से बताई है। उसने लिखा है कि परशुराम ने सब क्षत्रियों का नाश कर दिया था। तब राजा न होने के कारण समाज में भारी अव्यवस्था फैल गई और लोग अपने कर्तव्यों से गिरने लगे। तत्पश्चात ब्राहमणों ने अपनी सुरक्षा के लिए क्षत्रियों की आवश्यकता को अनुभव किया। अतः ब्राहमणों ने एकत्रित होकर आबू पर्वत पर एक महान यज्ञ किया। यह यज्ञ चालीस दिन तक चला। अन्त में उनका यज्ञ सफल हुआ और उस अग्निकुंड से देवताओं के चार महान यौद्वा उत्पन्न किये, जो प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चौहान कहलाऐ। इसलिए राजपूतों की ये शाखाऐं अग्निवंशी, कहलाती है। इतिहासकार इन सिद्वान्तों को बिल्कुल असत्य मानते है। यह तो काल्पनिक सी कथा है। जिसका तनिक भी ऐतिहासिक महत्व नही है, क्योंकि आज कोई भी यह मानने को तैयार नहीं कि अग्नि से भी मनुष्य रूपी योद्व उत्पन्न किये जा सकते है। कुछ विद्वानों का मानना है कि राजपूतों ने मुसलमानों के आक्रमणों से देश की रक्षा करने की शपथ अग्नि के समक्ष ली। अतः ये अग्निवंशी कहलाए। कतिपय विद्वानों की धारण है कि ब्राहमणों ने यज्ञ द्वारा शुद्व करके विदेशियों को हिन्दु धर्म में दीक्षित किया। ऐसे लोग अग्निवंशी राजपूत कहलाए, परन्तु यह कथन सही प्रतीत नही होता, क्योंकि इस प्रकार के यज्ञ का वर्णन हमें किसी प्राचीन साहित्य में नही मिलता। अतः यह कपोलकल्पित तथा कथा को आज के युग में स्वीकार नही किया जा सकता।

### 18.2.4 विदेशियों से उत्पति

राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्व लेखक कर्नल टॉड तथा कुछ समर्थक इतिहासकारों ने राजपूतों की उत्पति विदेशियों से मानी है। कर्नल टॉड के अनुसार राजपूत शक अथवा शीथियन जाति के वंशज है। टॉड का मानना है कि हूण, शक, शीथियन आदि कई विदेशी जातियों के लोग भारत में स्थायी रूप से बस गये। फिर उन्होने भारतीयों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये। इनमें से ही धीरे धीरे कुछ पृथक युद्वप्रिय जाति उत्पन्न हुई, जो 'राजपूत' कहलाने लगी। इसी मत की पुष्टि मे दो तर्क दिये जाते है : प्रथम

इन विदेशी जातियों के आगमन से पूर्व राजपूतों का भी उल्लेख नही आता। अतः यह संभव है कि राजपूत इन विदेशी जातियों से उत्पन्न हुए हों एवं द्वितीय, राजपूतों के रीति – रिवाज, शक, सिथियन और हूण से मिलते है। प्रो. एन. एन. घोष ने टॉड के मत का समर्थन करते हुए लिखा है,''इस हिन्दु धर्म को अपनाने वाले विदेशियों ने एक नई जाति बना ली, जिसमें मध्य एशिया के बलवान लोगों के लड़ने के गुणों के साथ हिन्दु धर्म व परम्पराओं में दृढ़ विश्वास और गर्व का मेल हो गया था।''

उपर्युक्त मत को स्वीकार नही किया जा सकता, प्रथम राजपूतों ने स्वयं को विदेशी नही बताया है। द्वितीय, केवल मात्र रीति – रिवाजों के आधार पर हम उनको विदेशी नहीं मान सकते, क्योंकि उनके रीति –रिवाज, शक कुषाणों के आने

से पूर्व भी भारत में प्रचलित थे। स्पष्ट है कि राजपूतों को विदेशी मानना सर्वथा भ्रामक है।

### 18.2.5 मिश्रित उत्पति का सिद्वान्त

डॉ. वी.ए. स्मिथ के अनुसार राजपूत शक्ति न तो पूर्णतया विदेशियों से उत्पन्न हुई ओर न ही वे पूर्णतया भारत के आर्यों की सन्तान थी। यह प्रसिद्व जाति भारतीय तथा विदेशी जातियों के लोग पंजाब और राजपूताना में स्थायी रूप से बस गये। उन्होने भारतीयो से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये, जिसके फलस्वरूप चौहान, प्रतिहार, परमार, सिसोदिया आदि प्रसिद्व राजपूत वंशों की उत्पति हुई, जबकि भारत की आदि जातियों से चन्देल, कलचरी, गहरवार (राठौड़) तथा राष्ट्रकूट जैसे राजपूत वंशों का जन्म हुआ। प्रारम्भ में विदेशी तथा भारतीय राजपूत वंशों में भेदभाव बड़ा प्रबल था। अतः वे प्रायः एक दूसरे से लड़ते झगड़ते रहते थे, परन्तु धीरे – धीरे उनके शासक एक – दूसरे से लड़ते – झगड़ते रहते थे, परन्तु धीरे – धीरे उनके शासक एक – दूसरे से समझौते करने लगे। इस प्रकार उनका आपस में मेल जोल स्थापित हो गया, किन्तु डॉ. स्मिथ का यह कथन सही प्रतीत नही होता कि राजपूतों के कुछ वंशों की उत्पति विदेशी जातियों से तथा कुछ की प्राचीन भारतीय जातियों से हुई।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजपूतों की उत्पति के प्रश्न पर विद्वान एकमत नहीं है। अतः राजपूतों की उत्पति आज भी इतिहासकारों के लिए एक विचारणीय प्रश्न बना हुआ है पर यह सुनिश्चित है कि वे बाहर के नहीं, वरन मूलरूप में भारतवासी ही है। डॉ. के आर. कानूनगों ने इस सम्बन्ध नें ठीक ही लिखा है कि,''राजपूतों की उत्पति विवादस्पद हो सकती हैं। उनकी अग्निकुण्ड से उत्पति अथवा सूर्य चन्द्र से उत्पति तो वैज्ञानिक मानव एकाएक स्वीकार नही करेगा। विदेशी जातियों के वंशज बतलाकर अनायास ही राजपूत जाति के लोगों को समाज विरोधी अभियान के लिए प्रेरित करना होगा। अतएव सब पहलुओं पर विचार विमर्श करने के बाद यह निष्कर्ष निकालना ही उचित होगा कि आठवीं शताब्दी के राजपूत राजा एक हजार वर्षो से वैदिककालीन क्षत्रियों की धरोहर और प्रतिष्ठा को बनाये रखने वाले है और उन्होने संघर्षकाल में हिन्दू, धर्म, जाति एवं संस्कृति की रक्षा करके वैदिककाल क्षत्रियों के कर्तव्यों के सराहनीय रूप को निभाया है। अतएव उन्हें क्षत्रियों को वंशज मानना एकएक अनैतिहासिक नही होगा।''

### 18.2.6 उत्तरी भारत के मुख्य राजपूत राज्य

सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में राजपूतों के कई स्वतन्त्र राज्य स्थापित थे, जिनमें आपस में नही बनती थी। वे प्रायः एक दूसरे के विरूद्व लड़ते झगड़ते रहते थे, अतः उनके प्रदेश समय समय पर बदलते रहते थे। इन पांच शताब्दीयों में बहुत से राजपूत वंशों का उत्कर्ष एवं पतन हुआ। उतरी भारत में मुख्य राजपूत राज्यों तथा वंशों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

## 18.3 कन्नौज के प्रतिहार तथा राठौड़

### 18.3.1 प्रतिहारवंश

इस वंश का संस्थापिक नाग भट्ट माना जाता है, जिसका समय अनुमानतः 725 ई.से 740 ई. तक था, परन्तु इस वंश का पहला शक्तिशाली सम्राट मिहिरभोज था।

### 18.3.2 मिहिरभोज प्रतिहार

मिहिरभोज ने 836 ई. से लेकर 885 ई. तक शासन किया। उसने अपने राज्य की सीमाओं का पर्याप्त विस्तार किया। उसके राज्य में पंजाब, आगरा, अवध, ग्वालियर, कन्नौज, मालवा तथा राजपूताना का बहुत सा भाग सम्मिलित था। वह विष्णु तथा शिव का उपासक था। उसके बहुत से चांदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं। उसके साम्राज्य में प्रजा सुखी और समृद्व थी। अरब यात्री सुलेमान ने उसकी शासन व्यवस्था की बहुत सराहना की है।

मिहिरभोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने लगभग पच्चीस वर्ष (885 ई. से 910 ई. तक) राज्य किया और राज्य के गौरव को ज्यों का त्यों बनाये रखा। उसके दरबार में राजेश्वर नामक एक प्रसिद्ध कवि था, जिसने 'काव्य मीमांसा' 'बाल रामायण' आदि ग्रन्थों की रचना की थी।

महेन्द्रपाल के उत्तराधिकारी देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल बड़े अयोग्य तथा दुर्बल थे। उनकी दुर्बलता के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कारण प्रतिहार वंश का पतन होने लगा। 1018 ई. में जब महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया, तो वहां के शासक राज्यपाल ने निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दिया, जिसके कारण पड़ौसी चन्देल नरेश विद्याधर राज्यपाल की कायरता से बहुत क्रोधित हुआ। उसने महमूद गजनवी के लौट जाने के बाद राज्यपाल पर आक्रमण कर उसे मार डाला। इस वंश का अंतिम शासक यशपाल था। वह 1090 ई. में गहड़वाल वंश के चन्द्र देव के हाथों परास्त हुआ। इस प्रकार कन्नौज के राज्य पर गहड़वालों का अधिकार हो गया।

## 18.4 गहड़वाल अथवा राठौड़ वंश

चन्द्रदेव ने ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में कन्नौज में गहड़वाल अथवा राठौड़ वंश की नींव रखी। उसके साम्राज्य में काशी, अयोध्या, कन्याकुब्ज (कन्नौज) और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के प्रदेश सम्मिलित थे। उसकी राजधानी वाराणसी थी, परन्तु इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा चन्द्रदेव का पोता गोविन्दचन्द्र था। उसने 1117 ई. से लेकर 1170 ई. तक शासन किया। उसके प्रयासों से कन्नौज का गौरव तथा वैभव फिर से स्थापित हुआ। वह सूर्य तथा विष्णु का उपासक था। परन्तु उसकी पत्नी कुमारदेवी बौद्ध थी ओर उसने सारनाथ में एक विहार बनवाया था। अतः स्पष्ट है कि गोविन्दचन्द्र धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। इस वंश का पांचवा तथा अंतिम शासक जयचंद था। वह 1170 ई. में कन्नौज का शासक बना। कुछ मुस्लिम इतिहासकारों ने उसे भारत का सबसे बड़ा सम्राट कहा है, परन्तु वह पृथ्वीराज चौहान का बहुत बड़ा शत्रु था। इसका कारण यह था कि चौहान राजा पृथ्वीराज उसकी पुत्री संयोगिता को स्वयंवर स्थल से बलात उठा ले गया और उससे विवाह कर लिया। यही कारण था कि 1192 ई. में जब तराईन का दूसरा युद्ध मोहम्मद गौरी और पृथ्वीराज के बीच हुआ, तब जयचंद ने पृथ्वीराज चौहान की सहायता नही की। इसके बाद 1194 ई. में मोहम्मद गोरी ने जयचंद पर आक्रमण कर दिया। जयचंद चन्द्रावर के युद्व में लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी मृत्यु के साथ ही राठौड़ वंश का अंत हो गया ओर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

## 18.5 चालुक्य वंश

हर्षवर्धन के बाद चालुक्यों की एक शाखा ने गुजरात पर अधिकार कर लिया था। गुजरात में इस वंश का संस्थापक मूलराज सोलंकी था। उसने अपनी सैनिक सफलताओं से अपने साम्राज्य का विस्तार किया। मूलराज शैव था। उसके अनेक शिव मंदिरों का निर्माण करवाया था। इस वंश का अगला प्रतापी शासक जयसिंह था। उसके सिद्वराज की उपाधि धारण की। उसने अपने सभी पाड़ौसी राजाओं को युद्व में पराजित किया। जयसिंह के बाद कुमारपाल शासक बना।

### 18.5.1 कुमारपाल चालुक्य (1143–1171 ई.)

जयसिंह सिद्वराज के कोई पुत्र नही था। कुमारपाल जयसिंह का निकटवर्ती सम्बन्धी तो था, परन्तु कुमारपाल का प्रपितामह क्षेमराज एक नर्तक का पुत्र था। अतः सिद्वराज जयसिंह कुमारपाल को अपना उतराधिकारी नही बनाना चाहता था। इसलिए अपने मंत्री उदयन के पुत्र चाहड़ को गोद में लेकर अपना दतक पुत्र बना लिया और उसे अपना उतराधिकारी घोषित कर दिय। सिद्वराज जयसिंह की मृत्यु के बाद कुमारपाल ने मंत्री उदयन ओर कान्हड़देव नामक अपने बहनोई की सहायता से चाहड़ को मार भगा और सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार कर शासक बना गया। शासक बनने के बाद कुमारपाल ने सर्वप्रथम उन सभी अधिकारियों, मंत्रियों एवं विरोधियों को मौत के घाट उतार दिया, जो उसके राज्याधिकार का विरोध कर रहे थे। तत्पश्चात उसने उदयन को मुख्यमंत्री एवं अपने तीनों पुत्रों को उंचे पदों पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार राज्य के आन्तरिक प्रशासन को सुदृढ़ एवं संगठित करने के बाद उसने साम्राज्य के विस्तार हेतु सैनिक अभियान किये। जिस समय कुमारपाल ने बलपूर्वक सिंहासन पर अधिकार किया था, उस समय उसकी आयु 50 वर्ष थी।

#### 18.5.1.1 कुमारपाल की विजए

**1. शाकम्भरी के चाहमानों से संघर्ष :–** यद्यपि सिंहराज जयसिंह ने अपनी पुत्री कंचनदेवी का विवाह चाहमान नरेश अर्णोराज से करा दिया था, जिसके कारण दोनो राज्यों के बीच मित्रतापूर्वक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, परन्तु यह मधुर सम्बन्ध अधिक समय तक स्थापित नही रह सकें। सिद्धराज जयसिंह ने चाहड़ को अपना उतराधिकारी घोषित किया था, जिसे कुमारपाल ने भगा दिया था ओर स्वयं चालुक्य सिंहासन पर बैठ गया था। चाहड़ भागकर अर्णोराज के पास पहूंचा और उसने अर्णोराज की सहायता से गुजरात पर आक्रमण कर दिया। कुछ विद्वानों का मानना है कि मालवा के शासक बल्लाल ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भी उनका साथ दिया था।

स्पष्ट है कि अर्णोराज चाहड़ को जयसिंह सिद्वराज का उतराधिकारी मानता था। इसलिए उसने कुमारपाल के विरूद्व गुजरात पर आक्रमण कर दिया था। सम्भवतः अर्णोरज ने गुजरात के विरूद्व दो चरणों में अभियान किये। प्रथम चरण में उस समय आक्रमण किया गया, जबकि कुमारपाल शासक बना ही था। इसका उद्‌देश्य चाहड को गुजरात का शासक बनाना था। जबकि कुमारपाल शासक बना ही था। प्रथम अभियान में कुमारपाल ने आबू के समीप अर्णोराज को परास्त किया। इस युद्व में आबू के शासक विक्रमसिंह ने कुमारपाल के साथ विश्वातघात किया। अतः कुमारपाल ने उसे शासक पद से हटा दिया और उसके स्थान पर उसके भतीजे यशोधवल को आबू का शासक बना दिया।

कुछ समय बाद 1150 ई. के आस पास अर्णोराज के मालवा के शासक वल्लाल की सहायत से पुनः गुजरात पर आक्रमण किया। कुमारपाल ने अपने सामान्तों को सेना सहित बल्लाल के विरूद्ध भेजा तथा स्वयं अर्णोराज के विरूद्व आक्रमण करता हुआ अजमेर के निकट पहुंच गया। युद्व में चाहड़ ने कुमारपाल के महावत एवं सामन्त कल्हण को अपनी ओर मिला लिया था, परन्तु कुमारपाल ने सर्तकता से काम लेते हुए महावत को तुरन्त बदल दिया था। इसके बाद उसने अर्णोराज एवं चाहड़ को बंदी बना लिया और अर्णोराज को एक बहुत अपमानजनक संधि स्वीकार करने हेतु विवश होना पड़ा। इस संधिके अनुसार अर्णोराज ने अपनी पुत्री जल्हण का विवाह अणहिलपट्टन में कुमारपाल से करना पड़ा।इस अपमानजनक संधि के बाद अर्णेराज अधिक समय तक जीवित नही रहा और रूग्णावस्था में ही उसके पुत्र जगदेव ने उसे मौत के घाट उतार दिया।

अर्णोराज की मृत्यु के पश्चात भी चालुक्य चाहमान संघर्ष चलता रहा। जब विग्रहराज चतुर्थ चाहमान वंश का शासक बना, तब उसने अपने पिता के अपमान का बदला लेने के लिए कुमार पाल के समीवर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। कुमारपाल ने सज्जन नामक व्यक्ति को चित्तोड़ का अधिकारी नियुक्त किया था। विग्रराज चतुर्थ ने सर्वप्रथम उसे मार दिया। इसके बाद जालोर पाली तथा नाडोल को तहस नहस कर दिया गया और यहां पर नियुक्त कुमारपाल के सामन्तों को परास्त कर उसने इन स्थानों पर अधिकार कर लिया। किन्तु बाद में कुमारपाल तथा विग्रहराज चतुर्थ के बीच एक संधि हुई, जिसके अनुसार चालुक्य शासक कुमारपाल के दरबार में एक चाहमान संधिविग्रहक रहने लगा। इस प्रकार चालुक्य चाहगान रांघर्ष की रागाप्ति हुई।

**2. आबू के परमारों से संघर्ष** :– कुमारपाल जब अर्णोराज के विरूद्व अजमेर की ओढ़ बढ़ रहा था, तब आबू के परमार शासक विक्रमसिंह ने उसके साथ विश्वासघात करते हुए मारने का षड़यन्त्र रचा। अतः अजमेर से लौटाते हुए कुमारपाल ने विक्रमसिंह को परास्त कर उसके स्थान पर यशोधवल को शासक बना दिया। यशोधवल ने कुमारपाल की अधीनता स्वीकार कर ली।

**3. नाडालों के चाहमानों से संघर्ष** :– जब अर्णोराज ने गुजरात के शासक कुमारपाल के विरूद्व अभियान किया तब नाडोल के चाहमान शाासक रायपाल ने अर्णोराज का साथ दिया था। अतः कुमारपाल ने नाडोल पर आक्रमण कर रायपाल को हटा दिया और उसके स्थान पर अपने दंण्डनायक वैजल्लदेव को वहां का शासक बना दिया। इस बात की पुष्टि तत्कालीन शिलालेखों से होती है। 1145 ई. के पश्चात रायपाल का कोर्ठ अभिलेख प्राप्त नही होता, सम्भवतः इस समय के बाद कुमारपाल ने रायपाल को हटाया होगा। 1151 ई और 1159 के शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि दंडनायक वैजल्लदेव को शासक बनाया गया था।

1161 ई. में कुमारपाल ने आल्हण को नाडोल का शासक बना दिया। आल्हण ने कुमारपाल की ओर से सौराष्ट्र में उपद्रवों का दमन किया। आल्हण का पुत्र कल्हण कुमारपाल की ओर से सौराष्ट्र में उपद्रवों का दमन किया। आल्हण का पुत्र कल्हण कुम्हारपाल का सामन्त था। इससे स्पष्ट हेता है कि नाडोल के चाहमान शासक कुमारपाल के सामन्त स्वरूप थे।

**4.वल्लाल पर आक्रमण** :– बड़नगर प्रशस्ति (1151 ई.) से पता चलता है कि कुमारपाल चालुक्य ने मालवा के नरेश बल्लाल को भी पराजित किया था वल्लाल का सिर काटकर उसने अपने महल के सिंहद्वार पर लटका दिया था। हेमचन्द्र के अनुसार अर्णोराज चाहमान एवं वल्लाल ने कुमारपाल के विरूद्व युद्व करने हेतु संधि की थी। इस संधि के अनुसार वल्लाल को पारा नदी के निकट अर्णोराज से मिलना था, परन्तु ऐसा नही हो सका। सम्भवतः कुमारपाल ने अपने



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दो सेनापतियों विजय एवं कृष्णा को बल्लाल के विरूद्ध भेज दिया, जिन्होने आगे नही बढ़ने दिया। अर्णोराज को पराजित करने के बाद कुमारपाल ने एक विशाल सेना भेजकर वल्लाल को परास्त किया। आबू शिलालेख के अनुसार यशोधवल ने बल्लाल का सिर धड़ से अलग कर दिया।

**5. कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन पर विजय :–** कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन शिलाहार वंश का था। वह अपने आपको 'राजपितामाह' कहता था। कुमारपाल कोंकण और अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। अतः उसने अपने सामन्तों को मल्लिकार्जुन के विरूद्ध भेजा, जिन्होने युद्ध में मल्लिकार्जुन को पराजित किया। इस विजय से दक्षिण में भी कुमारपाल की धाक जम गई।

**6. सौराष्ट्र का युद्ध :–** सौराष्ट्र के कुछ उपद्रवी सरदारों ने मिलकर विद्रोह कर दिया था, जिसको कुचलने क लिए कुमारपाल ने नाडोल के चाहमान सामन्त आल्हण को भेजा। आल्हण ने इन सरदारों के विद्रोह का दमन कर दिया।

### 18.5.2 साम्राज्य का विस्तार

कुमारपाल एक महान योद्वा एवं कुशल राजनीतिज्ञ था। उसनें विषय परिस्थितियों में सिंहासन पर अधिकार किया और अपने समकालीन अनेक राजाओं को पराजित कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। अभिलेखों एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में सौराष्ट्र एवं कच्छ, उत्तर में जोधपुर और उदयपुर के राज्यों के कुछ क्षेत्रों सहित चित्तोड़ से जैसलमेर तक, दक्षिण में कोंकण तक एंव पूर्व में भिलसा तथा कुछ आगे तक विस्तृत थी।

### 18.5.3 कुमारपाल का मूल्यांकन

वस्तुतः कुमारपाल एक महान विजेता और कुशल सेनानायक था। वह 50 वर्ष की आयु में शासक बना, परन्तु अपनी तलवार ओर मेधा के बल पर उत्तरी भारत का सबसे महत्वपूर्ण शासक बन गया। उसने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर, चक्रवर्ती आदि उपाधियां धारण की, जो उसकी शक्ति की प्रतीक थी।

कुमारपाल प्रारम्भ में शैव धर्मावलम्बी और शिव का उपासक था, परन्तु जैन आचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव में वह शैव धर्म को छोड़कर जैन धर्म का अनुयायी बन गया था। तत्पश्चात उसने जैन धर्म के सिद्वान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया, जिसका जनसाधारण पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। इसके बार कुमारपाल ने जैन धर्म को राजधर्म घोषित करके उसे गुजरात का एक महत्वपूर्ण धर्म बना दिया। जैन ग्रन्थों में उसे जैन धर्म का संरक्षक कहा गया। कुमारपाल ने दो जैन मंत्रियों वास्तुपाल एवं तेजपाल के आबू के देलवाड़ा के भव्य जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था।

कुमारपाल ने जैन धर्म का अनुयायी बन जाने के बाद भी अन्य धर्मावलम्बीयों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। उसने जैन मंदिरों के साथ साथ शैव मंदिरों का भी निर्माण करवाय। कुमारपाल ने शिवकेदारनाथ एवं सोमनाथ मंदिरों का जीर्णोद्वार करवाया एवं कुमारेश्वर का मंदिर बनवाया। लगभग 1171 ई. में इस परम प्रतापी तथा साम्राज्य निर्माता ओर धर्मपरायाण सम्राट का स्वर्गवास हो गया।

### 18.5.4 कुमारपाल चालुक्य के उत्तराधिकारी

कुमारपाल के बाद अयजपाल और मूलराज द्वितीय शासक बने। मूलराज द्वितीय ने 1178 ई. में मोहम्मद गौरी के गुजरात के आक्रमण को असफल कर दियां मूलराज द्वितीय के बाद उसका भाई भीम गुजरात का शासक बना। 1197 ई. में कुतुबुदीन ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया। उसे सफलत तो मिली, लेकिन अस्थायी सिद्व हुई। भीम के समय में ही गुजरात राज्य छिन्न भिन्न होने लग गया था। अनेक प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र हो गये। 1248 ई. में भीम की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका मंत्री लवण प्रसाद बघैल राज्य का वास्तविक शासक बन गया। 13 वीं शताब्दी के अन्त में बघैल गुजरात पर शासन करते रहे। 1299 ई. में अलाउदीन के सेनापतियों ने गुजरात पर आक्रमण किया, तब गुजरात का राजा कर्ण बघेल इस आक्रमण का सामना नही कर सका। इस प्रकार खिलजी शासक का गुजरात पर अधिकार हो गया।

## 18.6 मालवा के परमार

राजपूतों की एक शाखा परमार ने मालवा में नवीं शताब्दी में प्रतिहारों के पतन के बाद अपना स्वयं का राज्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थापित कर लिया। इस वंश का पहला महान् शासक वाक्पति मुंज था। वह 972 – 73 में शासक बना। मुंज केवल विजेता ही नही, अपितु साहित्य एवं कला का प्रेमी भी था। वह विद्वानों का भी आदर करता था। उसके दरबार में परमिल गुप्त (नवसहसांक चरित्र का रचियता) धनंजय (दशरूपक का लेखक) एवं धनिक भट्टा आदि विद्वान थे। उसने कई मंदिरों का निर्माण भी करवाया था। मुंज के बाद उसका भाई सिन्धुराज मालवा का शासक बना। उसने चालुक्य राजा को पराजित किया और अपने खोये हुए प्रदेशों पुनः अधिकार कर लिया। सिन्धुराज ने अत्यन्त अल्प समय तक शासन किया।

## 18.6.1 राजा भोज परमार (1010 – 1055 ई.)

मोडासा ताम्रपत्र लेख के अनुसार सिन्धुराज की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र भोज (1010 ई. में सिंहासन पर बैठा) उसने 1010 से 1055 ई. तक शासन किया। उसकी गणना भारत के विख्यात एवं लोकप्रिय शासकों में की जाती है। उसने अपनी सैनिक सफलताओं द्वारा राज्य की सीमाओं का विस्तार किया, जिसके कारण मालवा राज्य की प्रसिद्धी एवं प्रतिष्ठा में वृद्वि हुई। उसे धारा (मालवा की राजधानी) का राजा भोज के नाम से भी याद किया जाता है। राजा भोज एक महान विजेता ही नही था, अपितु साहित्य, संस्कृति एवं कला का महान संरक्षक भी था, जिसके कारण उसके राज्य के गौरव में अभूतपूर्व वृद्वि हुई।

**भोज की सैनिक विजयें** :– राजा भोज की प्रमुख सैनिक विजयों का विवरण इस प्रकार है :

**1.चालुक्य नरेश से युद्ध** :– कल्याणी के चालुक्य और मालवा के परमार वंश के बीच पुरानी शत्रुता थी। भोज के काल में भी इन दोनो राजवंशों मे संघर्ष चलता रहा। भोज के कल्याणी के चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय को परास्त करने के लिए कलचुरी नरेश गांगेय देव एवं चोल राजेन्द्र प्रथम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। इस त्रिगुट की संयुक्त प्रशस्ति से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रारम्भ में इस संघ को कुछ सफलता मिली, लेकिन अन्त में जयसिंह द्वितीय ने इन सबको परास्त कर दिया। इस तथ्य की पुष्टि जयसिंह के एक अभिलेख (1019 ई) तक कुलेनुर अभिलेख से भी होती है।

**2. लाट नरेश से युद्ध** :– कल्वन अभिलेख एवं उदयपुर प्रशस्ति से पता चलता है कि भोज ने लाट प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। इस समय लाट का शासक गौगिराज का पुत्र कीर्तिराज था। भोजन ने कीर्तिराज पर आक्रमण कर उसे पराजित किया एवं उसके स्थान पर यशोवर्मन को लाट का शासक बना दिया। यशोवर्मन के कल्वन अभिलेख से पता चलता है कि राजा भोज ने उसे नासिक जिले में 1500 ग्रामों का शासक नियुक्त किया था। कीर्तिराज के पौत्र त्रिलोचनपाल के दान पात्र से भी स्पष्ट होता है कि भोज ने कीर्तिराज को पराजित किया थ। इस प्रकार राजा भोज ने अपने दक्षिणी अभियान में सर्वप्रथम लाट क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित किया था।

**3 कोंकण पर विजय** :– इस प्रदेश पर शिलाहार वंश के शासक काशिदेव का शासन था, जिसके सिन्धुराज के साथ अच्छे सम्बन्ध थे, परन्तु किन्ही कारणों से भोज के साथ उसके सम्बन्ध खराब हो गये। अतः भोज ने 1020 ई. में कोशिदेव पर आक्रमण कर उसके प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसके शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कोंकण विजय उत्सव भोज ने मालवा से लौटने पर धूमधाम से मनाया था।

**4. इन्द्ररथ से युद्ध** :– उदयपुर प्रशस्ति से पता चलता है कि राजा भोज ने इन्द्रप्रस्थ को पराजित किया। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि इन्द्रप्रस्थ उड़ीसा के किसी आदिनगर का शासक था।

**5.तुर्को से युद्ध** :– राजा भोज के काल में महमूद गजनवी के आक्रमण हो रहे थे। कुछ इतिहासकार यह मानते है कि राजा भोज ने गजनवी के किसी सेनानायक के विरूद्व युद्ध में भाग लिया होगा। फारिश्ता ने लिखा है कि जब महमूद गजनवी ने पंजाब के शासक आनन्दपाल पर आक्रमण किया, तब उसने गजनवी के विरूद्व उत्तरी भारत के राजाओं का एक संघ बनाया। इस संघ ने गजनवी के विरूद्व युद्ध में भाग लिया था। इस संघ में फरिश्ता ने मालवा के शासक का भी उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि राजा भोज ने निश्चित रूप से इस संघ में भाग लिया था।

**6. कलचुरियों से युद्ध** :– कल्वन अभिलेख तथा उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि भोज ने चेदि राज्य के कलचुरि सम्राट पर विजय प्राप्त की थी। परिमातमंजरी के कथन से भी इस कथन की पुष्टि होती है। भोज नरेश के काल में चेदि राज्य पर कलचुरि नरेश गांगेय विक्रमादित्य (1019 ई – 1042) तथा उसके पुत्र कर्ण (1042 ई – 1072 ई.) का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शासन था। परमारवंशी भोज एवं कलचुरी नरेश दोनो साम्राज्य का विस्तार करना चाहते थे। अतः उनमें संघर्ष अनिवार्य था। शीघ्र ही दोनो के बीच युद्ध हुआ, जिसमें भोज ने गांगेय विक्रमादित्य को पराजित किया। परिजातमंजरी से ज्ञात होता है कि भोज ने गांगेय पर विजय का उत्सव मनाकर अपना मनोरथ पूर्ण किया।

गांगेय विक्रमादित्य के पुत्र कर्ण के समय में भी परमार कलचुरी संघर्ष चलता रहा। कर्ण ने चालुक्य नरेश भीम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके मालवा के पूर्व तथा पश्चिम में एक साथ आक्रमण किया, परन्तु भोज के काल में कर्ण को कोई स्थायी लाभ नही हुआ।

**7. चन्देलों से युद्ध :–** भोज के समकालीन चन्देल शासक विद्याधर (1020–1040 ई.) था। विद्याधर उत्तर भारत का शक्तिशाली सम्राट था। अतः उस पर विजय प्राप्त किये बिना उत्तर भारत की विजय की महत्वाकांक्षा पूर्ण नही हो सकती थी। परन्तु चन्देलों के महोबा अभिलेख से अंकित है कि, ''कलचरि चन्द्र और भोज ने विद्याधर की वैसी पूजा की, जैसे कोई शिष्य अपने गुरू की करता है।'' इससे स्पष्ट होता है कि भोजन को विद्याधर ने पराजित किया था।

**8.कच्छपघातों से युद्ध :–** चन्देलों से पराजित होने के बाद राजा भोज कन्नोज पर अधिकार करना चाहता था, परन्तु भोज और कन्नोज के मध्य दो कच्छपघात वंशी राज्य स्थित थे। प्रथम दुबकूंड के कच्छपघात तथा द्वितीय ग्वालियर के कच्छपघात। ये दोनो चंदेल शासक विद्याधर के अधीन थे।

दुबकुंड के कच्छपघातों से तो राजा भोज ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। परन्तु ग्वालियर के कच्छपघातों को वह अपने पक्ष में नही कर सका। भोज के समकालीन ग्वालियर का कच्छपघात वंशीय शासक कीर्तिराज था। भोज ने कन्नौज विजय के अवरोध को दूर करने के लिए ग्वालियर के कच्छपघात शासक कीर्तिराज पर आक्रमण कर दिया, परन्तु भोज इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ। सास बहू अभिलेख से ज्ञात होता है कि कीर्तिराज ने मालवा की सेना को पराजित किया था। सम्भवतः इस युद्ध में कीर्तिराज को अपने स्वामी चन्देल के शासक विद्याधर से सहायता प्राप्त हुई हो।

**9. कन्नौज पर आक्रमण :–** उदयपुर प्रशस्ति एवं मेरूतुंग के प्रबन्ध चिन्तामणि से पता चलता है कि भोज ने कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार नरेश को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया, परन्तु उसकी कन्नौज की विजय अस्थायी सिद्व हुई।

**10.चाहमानों से युद्व :–** भोज ने सपादलक्ष (शाकम्भरी = सांभर) के चाहमान राज्य पर आक्रमण किया था। उस समय वहां का शासक वीर्यराम था। इस युद्ध में भोज ने वीर्यराम को पराजित कर दिया। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार अवन्ति के भोज ने वीर्यराम के गौरव को नष्ट कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि भोज ने शाकम्भरी के चाहमानों को पराजित किया था।

सुन्धा अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोज ने नाडोल के चाहमान शासक अणहिल्ल पर भी आक्रमण किया था, परन्तु अणहिल्ल ने भोज को युद्व में परास्त कर दिया था। इस युद्ध में भोज का सेनापति साढ़ा मारा गया था। भोज के नाडोल में पराजित होने के कारण कुछ विद्वान मानते है कि शाकम्भरी पर भोज का प्रभाव अल्प समय तक ही रहा होगा।

**11.गुजरात के चालुक्यों से युद्ध :–** परमारवंशी राजा भोज के समकालीन चालुक्य नरेश दुर्लभराज (1009 ई – 1024 ई.) और भीमदेव (1024 ई 1064 ई. ) थे प्रारम्भ में भीम प्रथम के भोज के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थें। परन्तु भोज के व्यवहार से दोनो में शत्रुता अपनी चरम सीमा पर पहूंच गई। जब गुजरात में भीषण काल पड़ा तब भोजन ने भीम प्रथम पर आक्रमण करने का प्रयास किया, परन्तु भीम के प्रयासों से यह आक्रमण तैलप राज्य की ओर घूम गया। दूसरी बार भीम सिन्ध के अभियान में व्यस्त था, तब भोज ने चालुक्यों की राजधानी अणहिलपट्टन को लूटने के लिए एक सेना अपने सेनापति कुलचंद के नेतृत्व में भेज दी, जिसने अणहिलपट्टन को खूब लूटा। भीम के राज्य में केवल भोज को ही लूटमार में सफलता मिली थी।

बडनगर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि भीम का हृदय मित्रों के लिए स्नेहमय था, परन्तु शत्रुओं के लिए भयानक था। उसने शीघ्र ही अश्वरोही सेना को मालवा की ओर कूच करने का आदेश दिया।। सोमेश्वर ने अपने ग्रन्थ कीर्ति कौमूदी में लिखा है कि, ''भीम ने धारा के राजा को पराजित किया और उसे जीवन दान दिया'' वस्तुपाल तेजपाल प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ''इस आक्रमण से भोज के हृदय से लक्ष्मी, मुख से सरस्वती और हाथों से तलवार छूट गई।'' इससे स्पष्ट होता है कि भीम ने भोज को बुरी तरह से पराजित किया।

इस प्रकार भोज ने अनेक सैनिक अभियान किये, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भोज के शासन काल के अंतिम चरण में उसके शत्रुओं ने उसके विरूद्व एक संघ बना लिया था। इस संघ में चालुक्य नरेश भीम, चालुक्य नरेश सोमेश्वर, कलचुरि नरेश कर्ण और सम्भवतः लाट नरेश त्रिलोचन पाल सम्मिलित थे। इस संघ ने भोज पर आक्रमण कर दिया और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

युद्ध के दौरान ही भोज की एक रोग से 1055 ई. में मृत्यु हो गई

### 18.6.2 भोज की सांस्कृतिक उपलब्धियां

परमारवंशी शासक भोजन अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए अधिक विख्यात थे। उसने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा नगरी बनाई, जो शीघ्र ही विद्या एवं कला के केन्द्र के कारण

भारत की बौद्धिक राजधानी के रूप में परिणत हो गई। भोज साहित्य, संस्कृति एवं कला का महान संरक्षक था। भोज स्वयं उच्च कोटि का विद्वान एवं साहित्य प्रेमी था। वह स्वयं कवि था।

परन्तु उसने गणित, चिकित्सा, ज्योतिष, वस्तु अलंकार आदि विषयों में दो दर्जन से अधिक ग्रन्थों की रचना की, जिसमें 'सरस्वती कण्डाभरण', श्रृंगार प्रकाश' 'तत्व प्रकाश' (शैंवाग्राम ग्रन्थ) एवं शब्दानुशासन (कोश ग्रन्थ) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

राजा भोज विद्वानों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता भी था। के.एम. मुंशी ने लिखा है,"भोज एक कवि, विद्वान तथा विद्वानों का आश्रयदाता था।" भोज ने मेरूतुंग, सुबन्धु, अमर, राजशेख, मानतुंग, एवं विक्रमांकदेवचरित" के रचयिता विल्हण तथा तिलक मंजरी के रचयित धनपाल आदि विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दे रखा था।

कल्हण ने अपने ग्रन्थ राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर नरेश और भोज दोनों दानोत्कर्ष के कारण कविबांध ाव कहलाते थे। भोज ने दान देने के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां प्रचलित है और उज्जैन पट्ट पर उत्कीर्ण है कि धन बिजली की चमक की तरह या जल के बिन्दु की तरह चंचल है। उसके दो उपयोग है "एक तो दान कार्यो में लगाना और दूसरा, उसके द्वारा मनुष्यों की कीर्ति को बनाये रखना।"

राजा भोज शिव का भक्त था और उसने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। सोमनाथ, केदारेश्वर, रामेश्वर, सुण्डीर, काल, रूद्र एवं अनल आदि प्रसिद्व मंदिरों का निर्माण करवाया। उसने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में एक विजय स्तम्भ का निर्माण करवाया। जिसे 1405 ई. में दिलवार एवं गौरी ने तुड़वा दिया एवं लाट मस्जिद का निर्माण करा दिया।

राजा भोज ने धारा के संस्कृत के अध्ययन के लिए एक महाविद्यालय स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उसने भोपाल के दक्षिण पूर्व में 25 किमी. दूरी पर भोजपुर नामक नगर बसाया और उसके समीप एक सुन्दर झील भोजसर झील का निर्माण करवाया। उसकें ये सब कार्य सिद्व करते है कि वह महान निर्माता शासक था।

इस प्रकार राजा भोज एक महान साम्राज्य निर्माता, भवन निर्माता, कवि, साहित्य प्रेमी, योद्वा, विजेता, दानी, उदार हृदय एवं जनकल्याण शासक था। उसे मध्यकाल के महानतम राजाओं में से एक माना जाता है। इस काल में उसका यश और कीर्ति चहुं और फैली हुई थी। इसलिए डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने भोज के बारे में लिखा है कि ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वाद्धों को भारतीय इतिहास में भोज का युग कहा जा सकता है। डॉ. गांगुली ने भोज की गणना भारत में महानतम शासकों की है।

### 18.6.3 भोज के उतराधिकारी

भोज की मृत्यु के पश्चात उसके उतराधिकारी – जयसिंह, उदयादित्य आदि अयोग्य एवं दुर्बल सिद्व हुए, जिसके कारण परमार वंश की शक्ति शनैः शनैः घटने लगी। चालुक्यों और सोलंकियों से परमारों का बराबर संघर्ष चलता रहा और परमार राजा दुर्बल होते गये। इस वंश का अंतिम शासक भोज द्वितीय था, जो अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक के हाथों 1305 ई. में परास्त हुआ। इस प्रकार मालवा पर मुसलमानों का अधिकार हो गया ओर हिन्दू सत्ता समाप्त हो गई।

## 18.7 चाहमान वंश

### 18.7.1 दिल्ली तथा अजमेर के चौहान

चौहान वंश की नींव सांभर में गुवक ने रखी। बारहवीं शताब्दी में आरम्भ में इस वंश के शासक अजयराज ने अजयमेरू (अजमेर) नामक नगर की स्थापना की तथा उसे भव्य प्रसादों से अलंकृत किया। अजयराज के बाद उसका पुत्र अर्णोराज गद्दी पर बैठा।

उसने अजमेर मे आणासागर झील बनवाई इस प्रकार सांमर तथा अजमेर में चौहान वंश का राज्य स्थापित हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गया। 1153 ई. विग्रहराज चतुर्थ अथवा बीसलदेव शाकम्भरी (राजस्थान) सिंहासन पर बैठा।

### 18.7.2 विग्रहराज चतुर्थ (1153 ई – 1164 ई.)

विग्रहराज अपने वंश का एक प्रतापी और गौरवशाली शासक था। उसने चौहानों की शक्ति को काफी बढ़ाया। उसने 1153 ई. से लेकर 1164 ई. तक शासन किया।

विग्रहराज अर्णोराज का पुत्र था। अर्णोराज के चार पुत्र थे, जिनमें से बड़े पुत्र जगद्देव ने अपने पिता की हत्या कर दी और उसके बाद वह शासक बन गया। इस पर अर्णोराज के दूसरे पुत्र विग्रहराज ने शीघ्र ही जगद्देव की हत्या कर दी एवं स्वयं शासक बन गया। विग्रहराज भारतीय इतिहास में बीसलदेव के नाम से भी विख्यात है। अजमेर में उसके 11 शिलालेख प्राप्त हुए है, जिनमें से उसकी उपलब्धियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

#### 18.7.2.1 विग्रहराज चतुर्थ की विजय

विग्रहराज एक प्रतापी शासक था। उसने साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने एवं विस्तार के लिए कई युद्ध किये। उसकी प्रमुख विजयें निम्नलिखित थी :–

**1. चालुक्यों से संघर्ष** :– विग्रहराज के पिता अर्णोराज ने चालुक्य शासक कुमारपाल से एक लम्बे समय तक संघर्ष किया थ, जिसमें अन्ततः अर्णोराज को पराजित होना पड़ा था। इसके बादकुमारपाल ने चाहमान राज्य की सीमाओं से मिलने वाले स्थानों पर अपने विशेष कृपापात्रों को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया था तथा अर्णोराज के मित्रों को दंडित किया था।

विग्रहराज शासक बनने के बाद कुमारपाल से अपने पिता के अपमान का बदला लेना चाहता था, परन्तु यह आसान कार्य नहीं था। विग्रहराज को कुमारपाल ने पराजित करने में सफलता मिली या नहीं, यह कहना तो कठिन है, परन्तु यह सत्य है कि उसने कुमारपाल के अनेक सामन्तों को पराजित किया था।

बिजौलिया अभिलेख के अनुसार, "विग्रहराज ने अप्रसन्न होकर जाबलिपुर को ज्वालापुर बना दिया, पल्लिका अथवा पाली को एक तुच्छ गांव बना दिया ओर नाडोल (नड्वल) को नडवल्यतुल्य अर्थात बेंत की तरह झुका दिया।"उल्लेखनीय हैं कि जाबालिपुर, पाली एवं नाडोल में कुमापाल के सामन्त शासन कर रहे थे। इस सम्बन्ध में प्रो. विशुद्धानन्द पाठक ने अपनी पुस्तक उतर भारत का राजनीतिक इतिहास के पृष्ठ संख्या 466 पर लिखा है, इन विजयों से विग्रहराज के चाहमानों की प्रतिष्ठा का ध्वज तो फहराया है, मेवाड़ और मारवाड़ वाले अनेक चालुक्य क्षेत्रों को भी अपने अधीन कर लिया। नाडोल, चित्तोड़ और जालोर में उसका प्रशासन स्थापित हो गया।

**2. चित्तोड़ पर विजय** :– गुजरात के चालुक्य शासक ने चितौड़ पर अधिकार करने के बाद सज्जन नामक व्यक्ति को वहां पर अपना सामन्त नियुक्त कर दिया था। इसकी उपाधि दंडाधीश थी। विग्रहराज चतुर्थ ने सज्जन को परास्त कर चित्तोड़ पर अधिकार कर लिया। बिजौलिया अभिलेख इस विजय की पुष्टि करता है।

**3.भण्डानकों पर विजय** :– विग्रहराज चतुर्थ ने भण्डानकों पर विजय प्राप्त की थी। डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार वर्तमान गुड़गांव जिला अलवर का कुछ भाग हिसार जिले की भवानी तहसील के प्रदेश को सम्मिलित थे जिसे भण्डानक कहते थे। इस प्रदेश को अहिरवटी के नाम से भी पुकारा जाता था। डॉ. विशुद्धानन्द पाठक का मानना है कि विग्रहराज चतुर्थ की भण्डानक विजय के बारे में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

**4.मेवाड़ पर अधिकार** :– विग्रहराज ने पाली, नाडोल, जालौर एवं चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया था, जिससे मेवाड़ पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। विग्रहराज चतुर्थ के बिजौलिया शिलालेख, माण्डलगढ़ शिलालेख एवं जहाजपुर शिलालेख आदि मेवाड़ क्षेत्र से ही प्राप्त हुए थे।

**5. दिल्ली और हांसी पर अधिकार** – दिल्ली पर लम्बे समय से तोमर शासकों का अधिकार था। हांसी के तोमरों ने गजनी के मुसलमानों से छीना था। इस प्रकार दिल्ली एवं हांसी पर तोमरवंशी राजपूतो का प्रभुत्व था। तोमरों ने मुसलमानों, गहड़वालों, एवं चाहमानों से निरन्तर युद्व लड़े, जिसके कारण ये दुर्बल हो गये थे। ऐसी परिस्थिति में विग्रहराज चतुर्थ ने 1152 ई. में दिल्ली पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात विग्रहराज चतुर्थ को अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राज्य में मिला लिया था। इसके अतिरिक्त विग्रहराज के दिल्ली शिवालिक स्तम्भ लेख से भी विग्रहराज की दिल्ली विजय के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

**6.मालवा पर अधिकार** :– विग्रहराज चतुर्थ ने मालवा पर भी अधिकार कर लिया था। रविप्रभाचार्य ने ध र्मघोषसूरी स्तुति में एक स्थान पर लिखा है कि मालवा के राजा ने अजमेर के जैन मंदिर में ध्वज स्तम्भ लगाने में विग्रहराज चतुर्थ की सेवा में उपस्थित हुआ था। दिल्ली के शिवालिक स्तम्भ लेख के अनुसार विग्रहराज चतुर्थ का हिमालय से लेकर विंध्य तक के शासक उपहार भेंट करते थे। इससे पता चलता है कि विग्रहराज चतुर्थ का मालवा पर भी प्रभुत्व था।

**7. मुसलमानों से संघर्ष** :– विग्रहराज चतुर्थ की साम्राज्यवादी नीति के कारण उसको साम्राज्य की सीमा पूर्वी हिमालय की तलहटी तक विस्तृत हो गई थी। अतः अब उसका लाहौर के तुर्को से संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था। विग्रहराज चतुर्थ ने बड़ी वीरता से तुर्को का सामना किया। विग्रहराज के दिल्ली से प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि विग्रहराज ने म्लेच्छों अर्थात आक्रामक मुसलमानों का समूलोच्छेद कर आयावर्त देश नाम को उसका वास्तविक अर्थ प्रदान किया। प्रारम्भ में विग्रहराज ने तुर्को के विरूद्व रक्षात्मक नीति अपनाई थी, अतः हम्मीर (अमीर खुसरो शाह) आगे बढ़ता हुए जयपुर के निकट वेबर तक आ पहुंचा और उसने विग्रहराज को आत्मसमर्पण करने के लिए कहा, परन्तु विग्रहराज अपने साम्प्रज्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध था। अतः हम्मीर को वापिस लौटने के लिए विवश होना पड़ा।

डॉ. दशरथ शर्मा ने लिखा है कि बाद मे विग्रहराज ने तुर्क आक्रान्ताओं पर विजय प्राप्त की तथा पंजाब के अतिरिक्त समस्त हिन्दू प्रदेशों को तुर्को से छीनकर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। शिवालिक अभिलेख से पता चलता है कि विग्रहराज ने कुछ पर्वतीय दुर्गो पर भी अधिकार कर लिया था।

### 18.7.2.2 विग्रहराज की सांस्कृतिक उपलब्धियां

विग्रहराज अपने वंश का एक प्रतापी तथा गौरवशाली शासक था। वह स्वयं उच्च कोटि का विद्वान था। उसने 'हरकेलि' नामक नाटिका की रचना की। इसकी कील्हन ने अत्यधिक प्रशंसा की हैं।

विग्रहराज ने अपने दरबार में विद्वानों को भी आश्रय दे रखा था। उसके दरबार के प्रसिद्व कवि सोमदेव ने ललित विग्रहराज नामक नाटक की रचना की यह अपने समय का महान ऐतिहासिक नाटक है। विग्रहराज ने उच्च कोटि के भवनों का निर्माण करवाया ।उसने अजमेर में एक संस्कृत विद्यालय का निर्माण करवाया। जिसे कुतुबुदीन ऐबक ने तुड़वाकर एक मस्जिद में परिवर्तित कर दिया, जो आज भी अढ़ाई दिन का झोंपड़ा के नाम से प्रसिद्व हे। इस मस्जिद की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान में लिखा है कि यह हिन्दू शिल्पकला का प्राचीनतम एवं पूर्ण परिष्कृत स्मारक है। कनिंघम ने भी इसकी बहुत प्रशंसा की है।

विग्रहराज ने अनेक नगरों का निर्माण भी करवाया, जो उसके विभिन्न नामों से प्रसिद्व है। उसने बीसलसर झील का निर्माण भी करवाया। यह झील लगभग 2½ मील की परिधि में फैली हुई है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार उसने अनेक दुर्गो का निर्माण करवाया ताकि मलेच्छों से युद्व के समय काम आ सकें।

हरकेलि नाटिका एवं पृथ्वीराज विजय के अनुसार विग्रहराज चतुर्थ शैव धर्मावलम्बी था, परन्तु दूसरे धर्मो को भी वह आदर की दृष्टि से देखता था।

डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तिका अरली चौहान डाईनेस्टीज में विग्रहराज चतुर्थ की प्रशंस करते हुए लिखा है, विग्रहराज के शासन को सपालदक्ष – सम्राज्य का स्वर्ण युग समझा जाना चाहिए।

विग्रहराज चतुर्थ के बाद उसके पुत्र अपरगांगेय ने कुछ समय तक शासन किया, परन्तु जगददेव के पुत्र पृथ्वीराज द्वितीय ने उसका वध कर दिया और स्वयं शासक बन गया। उसने 1164 ई. से लेकर 1169 तक शासन किया। पृथ्वीराज द्वितीय के कोई पुत्र नही होने से अर्णोराज का सबसे छोटा पुत्र सोमेश्वर गद्दी पर बैठा। उसने 1169 ई. से 1177 ई. तक शासन किया। सोमेश्वर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र पृथ्वीराज तृतीय चौहान साम्राज्य का शासक बना, जो पृथ्वीराज चौहान के नाम से प्रसिद्व है।

## 18.8 पृथ्वीराज तृतीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पृथ्वीराज चौहान वंश का सबसे प्रतापी और महान शासक था। उसे रायपिथैरा के नाम से भी याद किया जाता है। डॉ. मजूमदार के अनुसार भारतीय इतिहास में पृथ्वीराज का नाम एक अद्वितीय स्थान को अलंकृत करता है। उसने 1178 ई. से 1180 ई. तक अपनी माता कर्पूरी देवी के संरक्षकत्व में शासन किया। इसके बाद वयस्क होते ही समस्त शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया।

### 18.8.1 पृथ्वीराज की विजए

डॉ. वी.ए. स्मिथ ने अपनी पुस्तक दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में लिखा है, ''पृथ्वीराज आज दिन तक उत्तर भारत का सबसे अधिक लोकप्रिय नायक है।'' डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'अर्ली चौहान डाईनेस्टीज' में लिखा है, उसने दिग्विजयी सम्राट बनने के आदर्श को चरितार्थ करके दिखा दिया था'' पृथ्वीराज की प्रमुख विजयें इस प्रकार है :

**1.नागार्जुन के विद्रोह का दमन** :– नागार्जुन विग्रहराज चतुर्थ का पुत्र था। उसने 1180 ई. में गुडपुर पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज ने अपन मंत्री कदम्बवास के नेतृत्व में विशाल सेना भेजी, जिसने नागार्जुन के विद्रोह का दमन कर दिया।

**2.भण्डानकों के विद्रोह का दमन** :– भण्डानकों के राज्य में भिवानी एवं रिवाड़ी तहसील तथा अलवर के कुछ भाग आते थे। उन्होने 1182 ई. में विद्रोह किया, जिसका दमन पृथ्वीराज चौहान ने कर दिया।

**3.चन्देलों से युद्ध** :– पृथ्वीराज चोहान ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए चन्देल नरेश परमादीन की राजधानी महोबा पर आक्रमण कर दिया। इस अवसर पर कन्नौज के शासक जयचंद ने परमादीन की सहायता के लिए सेना भेजी।

पृथ्वीराज ने कन्नौज तथा महोबा की संयुक्त सेनाओं को युद्व में पराजित किया तथा महोबा पर अधिकार कर लिया। इस विजय की पुष्टि पृथ्वीराज रासो तथा मदनपुर शिलालेख से होती है।

**4.गुजरात पर विजय** :– पृथ्वीराज रासो से पता चलता है कि पृथ्वीराज ने गुजरात पर विजय प्राप्त की थी, पृथ्वीराज ने 1184 ई. में नागौर के किले के बाहर युद्व लड़ा था। जिसमें उसने गुजरात के शासक जगदेव को परास्त किया था। फलतः उसने पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार कर ली। इस बात की पुष्टि चारलू गांव से प्राप्त शिलालेखों से होती है।

**5.गहड़वालों से सम्बन्ध** :– डॉ. रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक **गढ़वाल का इतिहास** में लिखा है कि, कन्नौज का शासक जयचन्द एक आकांक्षावादी शासक था। कन्नौज गहड़वाल जयचंद भी वीर प्रतापी शासक था। वह पृथ्वीराज चौहान की बढ़ती हुई कीर्ति से ईर्ष्या करता था। उसने अपनी पुत्री संयोगिता के लिए स्वयंवर आयोजित किया था, जिसमें उसने पृथ्वीराज चौहान को जानबूझकर आमन्त्रित नही किया था, किन्तु पृथ्वीराज चौहान ने संयोगिता का अपहरण कर लिया, जिसके कारण जयचंद उसकी जान का दुश्मन बन गया। कुछ इतिहासकार संयोगिता के अपहरण को कहानी मात्र मानते है। डॉ. आर.एस. त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक कन्नौज का इतिहास में लिखा है कि, '' यह घटना चन्द्रबरदाई की सुखद कल्पना थी।''

**6.तुर्को से संघर्ष** :– पृथ्वीराज चौहान ओर मुहम्मद गौरी के बीच तराईन के दो युद्व हुए प्रथम युद्व में पृथ्वीराज चौहान ने गौरी को पराजित किया, परन्तु द्वितीय युद्व में गोरी ने पृथ्वीराज को निर्णायक रूप से पराजित कर दिया और भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की।

### 18.8.2 युद्व के कारण

**1. भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक दशा** :– मुहम्मद गौरी महमूद गजनवी की भांति भारत पर आक्रमण कर इस देश की असीम धन सम्पति प्राप्त करना चाहता था। फ्रांसीसी इतिहासकार बर्नियर ने कहा था,'' यह हिन्दुस्तान एक ऐसा गड्ढ़ा है, जिसमें संसार भर का अधिकांश सोना और चांदी चारों तरफ से अनेक राष्ट्रों से आकर जमा होता है।''

इस समय राजपूत राजा आपस में लड़ने में व्यस्त था। अतः गौरी ने इसका भी लाभ उठाने का निश्चत किया। कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास में लिखा है कि जयचंद ने कई एक छोटे राजाओं को मिलाकर एक योजना तैयार की और उसके अनुसार वह शहाबुद्दीन के द्वारा पृथ्वीराज का सर्वनाश करना चाहता था।

**2. राजपूतों की मुसलमानों से शत्रुता** :– राजपूतों ओर मुसलमानों के बीच काफी पुरानी शत्रुता थी।श्री ओझा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने अपनी पुस्तक राजपूतों का इतिहास में लिखा है कि ''राजपूतों और मुसलमानों में शत्रुता लम्बे समय से चली आ रही थी तथा उनमें अनेक युद्ध हो चुके थे'' राजपूतों तथा मुसलमानों की शत्रुता निर्णायक युद्ध के बिना समाप्त नही हो सकती थी।

**3. धार्मिक कट्रता :–** डॉ.ए.एल. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक **दिल्ली सल्तनत** में लिखा है कि पृथ्वीराज गौरी के बीच संघर्ष का मूल कारण धार्मिक कट्रता था।

गौरी भारत मे इस्लाम धर्म का प्रचार करना अपना कर्तव्य मानता था, जबकि पृथ्वीराज अपने आपको हिन्दू धर्म का रक्षक मानता था। डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक **अर्ली चौहान डाईनेस्टीज** में लिखा है कि, ''पृथ्वीराज मुसलमानों के विनाश को इस संसार में, अपने जीवन का विशेष लक्ष्य मानता था। अतः दोनो में संघर्ष आवश्यक था।

**4. मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना :–** गौरी भारत में अपनी विजयों को संगठित कर मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था, ताकि वह अपने धर्म के प्रति निष्ठा प्रदर्शित कर सके। इस हेतु पृथ्वीराज को परास्त करना आवश्यक था।

**5. गौरी की राजनीति :–** इस्लामी सता शक्ति पर आधारित थी। गौरी का निवास स्थान गौर शक्ति को आजमाने का अखाड़ा बना हुआ था। अतः अपने निवास स्थान से दूर एक नवीन राज्य की स्थापना करना उसकी एक राजनैतिक आवश्यकता थी।

**6. खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करना :–** पृथ्वीराज ने हांसी, थानेश्वर तथा सिन्ध आदि मुसलमानों से छीनकर अपने साम्राज्य में मिला लिये थे। गौरी अपने को महमूद गजनवी का उत्तराधिकारी मानता था। अतः खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए राजपूतों से युद्ध लड़ना आवश्यक था।

**7. पृथ्वीराज की भूल :–** गौरी ने जिस समय मुल्तान तथा भटिण्डा पर अधिकार किया था, उसी समय पृथ्वीराज को चाहिए था कि वह उसे भारत से खदेड़ देता। श्री गहलोत ने अपनी पुस्तक **राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास** में लिखा है कि वह अपनी शक्ति कन्नौज, महोबा एवं गुजरात आदि पड़ौसी राज्यो से लड़ने में लगाने लगा। अपनी इस भूल को उसे आगे जाकर बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ा।

**8. जयचंद का षड़यन्त्र :–** जयचंद एवं पृथ्वीराज में परम्परागत शत्रुता चली आ रही थी। अतः उसने मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। **तराईन का प्रथम युद्व (1191 ई.)** – गौरी 1191 ई. में सरहिन्द पर अधिकार करने के बाद वहां से आगे बढ़ा। पृथ्वीराज भी उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। अन्त में 1191 ई. में तराईन के मैदान मे दोनो सेनाओं के बीच घमासान हुआ। जिसमें पृथ्वीराज विजयी हुआ और गौरी घायल होकर युद्व क्षेत्र से भाग खडा हुआ।

बुल्जले हेग ने अपनी पुस्तक **दी केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** में लिखा है कि,''शीघ्र ही गौरी की सेना पराजित होकर भागने पर विवश हुई।'' गौरी किसी तरह युद्व क्षेत्र से बच निकला। राजपूतो द्वारा तुर्को की भागती हुए सेना का पीछा न करना उनकी बहुत बड़ी भूल थी। इस प्रकार तराईन के प्रथम युद्व में राजपूतों को शानदार विजय प्राप्त हुई। डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक **अर्ली चौहान डाईनेस्टीज** में लिखाहै कि, चौहान ने मुस्लिम सेना का पीछा नही कियां सैनिक दृष्टि से यह बहुत बड़ी भूल थी। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार, इससे पूर्व मुसलमानों को विधर्मियों के हाथों ऐसी पराजय का सामना नही करना पड़ा।

### 18.8.3 तेराईन का द्वितीय युद्व (1192 ई.)

गौरी इस अपमानजनक पराजय को कभी भी नही भूल सका। अतः उसने पुनः युद्व की तैयारी प्रारम्भ कर दी। कुछ समय बाद वह एक लाख तीस हजार चुने हुए घुडसवारों के साथ भारत की ओर रवाना हुआ तथा तराईन के मैदान में पहूंच गया। इसके बाद गौरी ने पृथ्वीराज को संदेश भिजवाया कि इस्लाम को स्वीकार कर ले, परन्तु प्रत्युतर में पृथ्वीराज अपनी सेना सहित तराईन के मैदान में उपस्थित हो गया।

पृथ्वीराज ने पत्र लिखकर गौरी को लौट जाने के लिए भी कहा। इस समय गौरी ने धूर्तता से काम लिया। उसने पृथ्वीराज को कहलवाया कि वह अपने भाई की आज्ञा से भारत पर आक्रमण करने के लिए आया है। अतः वापिस जाने के लिए भी उसकी आज्ञा लेनी आवश्यक है। इसलिए मैं, अपने भाई के पास संदेश भेज रहा हूँ। इहस पत्र के प्राप्त होते ही पृथ्वीराज की सेना विश्राम करने लगी, तो गोरी ने अचानक उस पर आक्रमण कर दिया। अचानक हुए इस आक्रमण से पृथ्वीराज की सेना में भगदड़ बच गई, किन्तु पृथ्वीराज ने स्थिति को नियन्त्रण में कर गौरी को पीछे हटाने के लिए विवश कर दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गौरी ने पुनः कूटनीति से काम लेते हुए अपनी सेना की कमाई को कई भागों में विभक्त कर दिया और सूर्योदय से पूर्व ही पृथ्वीराज की सेना पर पुनः आक्रमण कर दिय। यद्यपि युद्ध में राजपूतों ने असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया, परन्तु उन्हे मुसलमानों के हाथों परास्त होना पड़ा। पृथ्वीराज को बंदी बनाकर हत्या कर दी गई। अजमेर तथा दिल्ली पर गौरी ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने अपनी पुस्तक **दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर** में लिखा है कि पृथ्वीराज निःसंदेह एक योग्य सेनापति था, किन्तु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी थी।

### 18.8.4 युद्ध के परिणाम तथा महत्व

1. तराईन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज मारा गया और भारत में 250 वर्ष पुराने चौहान साम्राज्य का अन्त हो गया। डॉ. डी.सी. गांगुली के अनुसार "तराईन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीशाज की पराजय ने न केवल चाहमानों की राजशक्ति को समाप्त कर दिया, वरन् भारत के लिए भी दुर्दशा का कारण बनी। प्रो. हेमचन्द्र राय चौधरी ने अपनी पुस्तक **द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थन इण्डिया** में लिखा है कि इस युद्ध में शाकम्भरी के चाहमानों के प्रभुत्व को यथार्थ में समाप्त कर दिया।

2. इस युद्ध के बाद भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो गइ। यद्यपि इससे पूर्व महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये थे, परन्तु उसका उद्देश्य लूटमार करना मात्र था। गौरी का उद्देश्य भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना था। अतः युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद उसने दिल्ली तथा अजमेर पर अधिकार कर लिया। गौरी द्वारा स्थापित मुस्लिम साम्राज्य अंग्रजों के आगमन तक चलता रहा। प्रो. बुल्ज्ले हेग ने अपनी पुस्तक **दी केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** में लिखा है कि, "इस विजय द्वारा मुहम्मद को दिल्ली के द्वार तक लगभग सम्पूर्ण भारत प्राप्त हो गया।"

3. इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद गौरी ने इस्लाम को राज्य धर्म घोषित किया और अनेक मंदिरों को गिराकर मस्जिदों की स्थापना करवाई। इस प्रकार इस युद्ध के बाद न केवल मंदिरों का विध्वंस हुआ, अपितु इस्लाम धर्म का प्रचार भी हुआ।

4. इस युद्ध में गौरी के उत्साह में असाधारण वृद्धि हुई और इसके बाद उसने साम्राज्य विस्तार की नीति अपनाई, इस नीति पर चलते हुए गौरी ने कन्नौज, गुजरात, बंगाल एवं बिहार आदि राज्यों पर अधिकार कर लिया।

5. इस संघर्ष में हजारों वीर तथा यौद्धा लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। चित्तोड़ नरेश समरसिंह एवं दिल्ली का गवर्नर गोविन्दराज जैसे महान योद्धा इस युद्ध में मारे गये थे। इस देश में एक बार पुनः यौद्धाओं की कमी हो गई। अधिकांश राजपूत यौद्धा इस युद्ध में काम आये और उनका सर्वनाश हो गया।

6. युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद मुसलमानों ने इस देश की अपार धन सम्पति को प्राप्त करने के लिए यहां खूब लूटमार की। इससे भारत की आर्थिक स्थिति निरन्तर शोचनीय होती गई।

7. इस युद्ध के साथ ही भारत में दासता का युग प्रारम्भ हुआ। भारत पर पहले तुर्को का फिर मुगलों का फिर अंग्रेजों का शासन रहा। इस प्रकार तराईन के द्वितीय युद्ध से भारत में जो दासता का युग प्रारम्भ हुआ था वह 1947 में देश की आजादी के साथ ही जाकर समाप्त हुआ। इस प्रकार यह युग संघर्ष एवं अंधकार एवं पराधीनता का जन्मदाता था।

8. इस युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय होने के बावजूद भी उनका नाम भारतीय इतिहास में अमर हो गया। कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास में लिखा है कि,"पृथ्वीराज की युद्ध में पराजय हुई, किन्तु उनका नाम सर्वदा के लिए इस देश के इतिहास में अमर हो गया।

9. इस युद्ध ने बौद्ध धर्म को बहुत क्षति पहुंचाई। बिहार में मुसलमानों ने बोद्धों पर बहुत अत्याचार किये, जिसके कारण वे भारत छोड़कर भाग गये।

डॉ. वी.ए. स्मिथ ने अपनी पुस्तक **दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** में लिखा है कि,"1200 ई. के बाद उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के चिन्ह धुधले तथा अस्पष्ट है।" इस संघर्ष के परिणमों के सम्बन्ध में डॉ. आर.सी. मजूमदार ने अपनी पुस्तक स्ट्रगल फार एम्पायर में लिखा है कि,"तराईन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने केवल चौहानों की शक्ति का नाश ही नही किया, वरन पूरे हिन्दू धर्म पर विनाश ला दिया, सारा देश आतंक से जकड़ गया।

श्री जगदीशसिंह गहलोत ने अपनी पुस्तक राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास में लिखा है कि," संघर्ष में हजारों राजपूतों ने वीरगति पाई। पृथ्वीराज स्वयं मारा गया। मृत्यु के समय वह 26 वर्ष का था। भारत का वह अंतिम हिन्दू सम्राट कहा जाता है। उसके बाद 650 वर्ष तक दिल्ली के सिंहासन पर जितने भी बादशाह बैठे, वे सब मुसलमान थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**निष्कर्ष** :– वस्तुतः इस संघर्ष के परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्व हुए, इसके फलस्वरूप भारत में एक युद्ध समाप्त हुआ तथा दूसरे युग का आविर्भाव हुआ।

डॉ. वी.ए. स्मिथ ने अपनी पुस्तक **दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** मे लिखा है कि वास्तव मे 1192 ई. की तराईन की दूसरी लड़ाई को एक निर्णायक संघर्ष माना जा सकता है। डॉ. ए.ए.ल श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक **दिल्ली सल्तनत** में लिखा है कि, ''तराईन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास की युग परिवर्तनकारी घटना है।''

### 18.8.5 पृथ्वीराज का शासन प्रबन्ध

समकालीन लेखकों के अनुसार पृथ्वीराज राम का अवतार था। प्रबन्ध कोष, हम्मीर काव्य, पृथ्वीराज प्रबन्ध एवं प्रबन्ध चिन्तामणी से भी इस बात की पुष्टि होती है कि पृथ्वीराज एक योग्य शासक था।

पृथ्वीराज ने अपनी विजयों को संगठित कर उत्तर भारत में एक राज्य की स्थापना की। उसकी पुलिस, सैनिक ओर न्याय व्यवस्था पूर्ण रूप से व्यवस्थित थी। समय और परिस्थितियों को देखते हुए इससे अच्छी व्यवस्था स्थापित नही की जा सकती थी। राज्य में नारी को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। पृथ्वीराज अपने छोटे से जीवन में हमेशा युद्धों में व्यस्त रहा, फिर भी प्रजा के संरक्षण ओर शासन व्यवस्था के प्रति उदासीन नही रहा। उसने अपने छोटे से जीवन को एक युग में बदल दिया। यह उसकी प्रशासनिक योग्यता का प्रमाण है। समस्त राजस्थान को एक सूत्र में बांधने वाला पृथ्वीराज अपने समय का एक कुशल प्रशासक था।

### 18.8.6 साहित्य के संरक्षक के रूप में पृथ्वीराज

पृथ्वीराज विद्यानुरागी था। डॉ. विशुद्वानन्द पाठक ने लिखा है कि,''पृथ्वीराज की प्रारम्भिक शिक्षा बड़ी देखभाल में हुई थी।'' डॉ. जी.एन. शर्मा ने अपनी पुस्तक **राजस्थान का इतिहास** में लिखा है कि,''स्वयं अच्छा गुणी होने के साथ साथ वह गुणीजनों का सम्मान करने वाला था।''

पृथ्वीराज ने अपने दरबार में विद्यापति गौड़, वागीश्वर, जनार्दन, विश्वरूप पृथ्वी भट्ट आदि विद्वानों को संरक्षण दे रखा थ। चन्द्रबरदाई उसका मित्र था, जिसने पृथ्वीराज रासो नामक ग्रन्थ की रचना की। कश्मीरी कवि जयानक भी कुछ समय तक उसके दरबार में रहा था। इसके अतिरिक्त जिन वल्लभ, जिनदत सुरी, तथा जिनपति आदि जैन विद्वान उसके दरबार में रहे थे। जिनदत ने उपदेश रसायनदास, चर्चरी एवं कालस्वरूप कुलक, ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में रचे। जिन वल्लभ ने संघपट्टक एवं धर्म शिक्षा आदि ग्रन्थों की रचना की। प्रबोधवाद स्थल की रचयिता जिनपति सूरी था। उसके दरबार में शास्त्रार्थ भी होते थे। वाद विवाद का आयोजन पद्मनाभ नामक मंत्री करता था।डॉ. दशरथ शर्मा क अनुसार, ''इन गुणों के आधार पर पृथ्वीराज को सुयोग्य और रहस्यमय शासक माना जा सकता है।

### 18.8.7 शिक्षा के संरक्षक के रूप में पृथ्वीराज

पृथ्वीराज के समय अजमेर, चित्तौड़, भीनमाल तथा आबू शिक्षा के प्रसिद्व केन्द्र थे। उसके समय में चौहान द्वारा स्थापित सरस्वती ''कण्ठभरण'' नामक संस्कृत का विशाल विद्यालय मंदिर में चलता था। जिसे तुड़वाकर बाद में ऐबक ने उसक स्थान पर ढाई दिन का झोंपडा बनवा दिया था। डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक **''अर्ली चौहान डाईनेस्टीज''** में पृथ्वीराज के शिक्षा के प्रति प्रेम एवं संरक्षण का वर्णन करते हुए लिखा है कि, ''उस समय 85 विषयों की शिक्षा दी जाती थी।''

### 18.8.8 धर्म के रक्षक के रूप में पृथ्वीराज

पृथ्वीराज हिन्दू धर्म का पक्का अनुयायी था। यद्यपि उसने धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन किया, तथापि वह इस्लाम का कट्टर विरोधी था। उसके शासनकाल में जैन धर्म भी उन्नत अवस्था में था। पृथ्वीराज इस्लाम के अतिरिक्त अन्य समस्त धार्मिक सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखता था।

### 18.8.9 जनकल्याणकारी शासक के रूप में

पृथ्वीराज गरीबों का संरक्षक था। उसने जनसाधारण को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। उसने राजस्थान में कई नये गांव तथा कस्बे बसाए। यही नही, आवश्कता की समस्त वस्तुओं को सुलभ करवाकर प्रजा को पूरा संरक्षण प्रदान किया।

### 18.8.10 पृथ्वीराज की पराजय के कारण

यद्यपि पृथ्वीराज एक वीर शासक था, तथापि गौरी ने उसे तराईन के द्वितीय युद्व में पराजित कर दिया। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार थे :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. गौरी ने सरहिन्द, भटिण्डा तथा लाहौर पर अधिकार कर लिया, उस समय पृथ्वीराज ने इन सीमान्त प्रदेशों के शासकों को सहयोग नही दिया।
2. गौरी ने 1178 ई. में गुजरात के शासक पर आक्रमण किया। उस समय पृथ्वीराज ने गुजरात के शासक की कोई सहायता नही की।
3. चंदेल राजा से दुश्मनि मोल लेकर पृथ्वीराज ने एक भवंकर भूल की।
4. संयोगिता का अपहरण को जयचंद को कट्टर शत्रु बनाना पृथ्वीराज की एक और भयंकर भूल थी।
5. तराईन के प्रथम युद्व में भागती हुई तुर्क सेना का पीछा न करके पृथ्वीराज ने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया।
6. तराईन के द्वितीय युद्व में गोरी की बात पर उसे विश्वास नही करना चाहिए था।
7. अनुशासन का अभाव, 8, गुप्तचर व्यवस्था का अभाव, 9. पृथ्वीराज का विलासितापूर्ण जीवन, 10. सेना में भाड़े के सैनिकों की भर्ती करना आदि ऐसी भूलें की, जिसका खामियाजा उसे भुगतना पड़ा। डॉ. आर.सी मजूमदार ने लिखा है, ''पृथ्वीराज उच्च श्रेणी का सेनापति था, किन्तु उसमें दूरदर्शिता का अभाव था।''

## 18.9 सारांश

इस प्रकार पृथ्वीराज न केवल वीर, अपितु प्रतापी शासक था, वह अपने समय का एक महान शासक था। उसने अनेक विजयें प्राप्त कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, किन्तु एक राजनीतिज्ञ के रूप में उसने ऐसी भयंकर भूले की, जिन्होने उसकी सफलताओं पर पानी फेर दिया, यदि वह यह भूलें नही करता तो शायद आज उसका ही नही, बल्कि भारतवर्ष का इतिहास ही कुछ और होता।

## 18.10 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. कुमारपाल चालुक्य की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. विग्रहराज चतुर्थ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 3. राजपूतों की उत्पति के विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

प्रश्न 4. भोज परमार की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5 राजपूत राज्यों के पतन की विवेचना कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–19 : राजपूतों के पतन के कारण अथवा राजपूतों की पराजय के कारण

**संरचना**

19.0 प्रस्तावना
19.1 उद्देश्य
19.2 राजनीतिक जीवन
19.2.1 आपसी फूट
19.2.2 सामन्त प्रणाली
19.2.3 राजपूत शासकों की अदूरदर्शिता
19.3 सैनिक कारण
19.3.1 स्थायी सेना का न होना
19.3.2 दोषपूर्ण युद्ध प्रणाली
19.3.3 तुर्कों का उत्तम सैन्य संगठन
19.3.4 दोषपूर्ण गुप्तचर व्यवस्था
19.3.5 युद्ध संबंधी विचार
19.3.6 अयोग्य नेतृत्व
19.4 धार्मिक एवं सामाजिक कारण
19.4.1 जाति का भेदभाव
19.4.2 ब्राह्मणवाद का उत्थान
19.4.3 तुर्कों का धार्मिक जोश
19.4.4 हिन्दुओं में अंधविश्वास
19.5 अन्य कारण
19.5.1 मुसलमानों का ठण्डे प्रदेश का निवासी होना
19.5.2 भर्ती संबंधी सुविधाएँ
19.5.3 मुसलमानों की दास प्रथा
19.5.4 भाग्य का प्रतिकूल होना
19.6 सारांश
19.7 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 19.0 प्रस्तावना

ग्यारहवीं एवं बारहवी शताब्दी में चंद मुस्लिम आक्रमणकारियों ने भारत जैसे विशाल देश पर अधिकार कर लिया। राजपूत भी इन तुर्को के समान वीर, साहसी, त्याग की प्रतिभूति थे। उन्हे योग्य सेनापतियों का नेतृत्व भी प्राप्त हुआ, किन्तु इसके बाद भी तुर्को ने उन्हे बार बार परास्त करके भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की आखिर राजपूत तुर्को से क्यों हार गये ?

लेनपूल का मानना है, ''आक्रमणकारियों में संगठन तथा एकता थी और हिन्दुओं में फुट थी। आक्रमणकारी उत्तर में रहने वाले थे और हिन्दू दक्षिण के। आक्रमणकारी बहादुर जाति के और अच्छी जलवायु के निवासी थे। उनमें इस्लाम

धर्म के लिए जोश था और धन की लूट का लालच था। यही हिन्दु तथा आक्रमणकारी में भेद था।''डॉ. वी.ए. स्मिथ लिखते है,''आक्रमणकारी अच्छे यौद्वा थे क्योंकि वे उत्तर के शीत प्रदेश ये आये थे। ये मांसाहारी थे तथा युद्ध कला में दक्ष थे। इन दोना विद्वानों ने तुर्को की एकता, साहस, ठण्डे देश का मूल निवासी होना तथा धार्मिक जोश को उनकी विजय का कारण बताया है।

## 19.1 उद्देश्य

यहाँ राजूपतों के पतन के बारे में जानकारी करेंगे।

डॉ. के.ए. निजामी का मानना है,''हिन्दू सामाजिक दुर्बलता एवं जटिल जाति प्रथा के कारण परास्त हुए थे।'' ए. के. पन्निकार का मानना है, ''विदेशों से सम्पर्क टूट जाने एवं संस्कृति का पतन होने से राजपूत परास्त हुए।'' डॉ. के.एस लाल राजपूतों की हार के लिए सामाजिक अराजकता, दोषपूर्ण गुप्तचर व्यवस्था तथा पिछड़ी रणनीति पर बल देते है। डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था, ब्राह्मणवाद के उद्‌भव, नैतिक पतन एवं दोषपूर्ण सैन्य संगठन को राजपूतों के पतन के लिए उत्तरदायी मानते है। राजपूतों की परायज के प्रमुख कारण निम्न थे।

## 19.2 राजनीतिक जीवन

राजपूतों की पराजय के निम्न राजनीतिक कारण थे।

### 19.2.1 आपसी फूट

तत्कालीन भारत कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। जो एक दूसरे से लड़ते रहते थे, इनमें एकता का अभाव था। जैसे, जयचंद ने तराईन के युद्व में पृथ्वीराज का साथ नही दिया। चन्दबरदाई ने लिखा है,''चौहान शासक की पराजय से जयचंद बहुत खुश हुआ। उसने यह न सोचा कि विधाता उससे भी शीघ्र ही बदला चुकायेगा।'' चन्दावर के युद्व में जयचंद को भी अकेले गौरी से ही लड़ना पडा। राजपूत एक राजा के नेतृत्व में युद्व करना अपनी मर्यादा के प्रतिकूल समझते थे। अतः वे आसानी से पराजित होते चले गये।

इस समय राजपूत राजाओं के आपसी संघर्ष ने भी उनकी शक्ति को गहरा आघात पहुँचाया। चन्द्रबरदाई ने पृथ्वीराज रासों में लिखा है,''पृथ्वीराज चौहान के 100 में से 90 सामन्त जयचंद राठौड़ के विरूद्ध, लड़ते हुए मारे गये। कभी कभी तो राजपूत शासक अपने विरोधियों को नीचा दिखाने के लिए विदेशी आक्रमणकारियों को भी आक्रमण का निमन्त्रण दे देते थे। अतः राजपूतों की पराजय हुई। सी.वी. वैधके अनुसार, राजनीतिक एकता के आदर्श को भुलाकर चौहान, राठौड़, चंदेल तथा चालुक्य वंश के शासकों ने पृथक पृथक युद्व लड़े और मुसलमानों के हाथों उन्हें पराजित होना पड़ा।

### 19.2.2 सामन्त प्रणाली

राजपूत शासन व्यवस्था सामन्त प्रणाली पर आधारित थी। सामन्त प्रान्तों के शासक होते थे तथा युद्व में अपने राजा की सहायता करते थे। अब राजा सामन्तों की सेना पर आश्रित रहने लगे, किन्तु यह प्रथा उनके लिए घातक सिद्व हुई, सामन्त निश्चित संख्या में अच्छे सैनिक तैयार नही करते थे एवं विभिन्न

सामन्तों की सम्मिलित सेना में अनुशासन तथा एकता जैसी चीज नही होती थी। कई बार सामन्त विद्रोह करके सवयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते थे। अतः सामन्त प्रथा के कारण भी राजपूतों का पतन हुआ। डॉ. रमेशचन्द्र दत्त के अनुसार,''सामन्त प्रथा ने भारत को राजनीतिक पतन की अंतिम सीढ़ी पर धकेल दिया।

### 19.2.3 राजपूत शासकों की अदूरदर्शिता

राजपूत शासक अदूरदर्शी थे। उन्होने सीमा रक्षा की तरफ कोई ध्यान नही दिया और न ही शत्रुओं को सीमा पर रोकने का कोई प्रयास किया। उन्हे चाहिए था कि वे शत्रु के राज्य पर जाकर हमला करते, जिससे वह भारत पर आक्रमण करने का साहस न करता, किन्तु उन्होने इसकी कोई आवश्यकता नही समझी। जब शत्रु सेना उनके प्रदेश में घुस आती, तब उनकी आंख खुलती थी। जब शत्रु लूटमार करके लौट जाता तो वे उसके दूसरे आक्रमण का चुपचाप इन्तजार करते थे। हबीबुल्ला के अनुसार, विदेशी आक्रमणकारी को आक्रमण की नीति द्वारा हराया जा सकता था, किन्तु राजपूत यौद्धा प्रायः आत्मरक्षा के लिए ही युद्ध लड़ते थे। इस कारण भी उनका शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना असंभव था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 19.3 सैनिक कारण

राजपूतों की परायज उनके दोषपूर्ण सैन्य संगठन के कारण हुई थी। राजपूतों की पराजय के सैनिक कारण निम्न थे :–

### 19.3.1 स्थायी सेना का न होना

हिन्दू शासकों के पास स्थायी सेना नहीं थी। युद्व के समय सामन्त राजा की सैनिक सहायता करते थे। विभिन्न सामन्तों की सम्मिलित सेना में एकता व अनुशासन का अभाव होता था। ये सैनिक सामन्त को मरने अथवा घायल होने पर मैदान से भाग जाते थे। अतः राजपूतों की बार बार पराजय हुई।

### 19.3.2 दोषपूर्ण युद्व प्रणाली

राजपूतों की युद्ध प्रणाली निम्न स्तर की थी। डॉ. स्मिथ के अनुसार,''यद्यपि स्वदेश की रक्षा के भावों से परिपूर्ण हिन्दू राजा साहस और वीरता में किसी प्रकार भी मुसलमान से कम नही थे, तथापि युद्ध कला में वे निश्चित रूप से उनसे हीन थे, इसलिए वे अपनी रक्षा नही कर सकें,। राजपूत अपनी सेना को तीन भागों में बांटते थे – वाम पक्ष, केन्द्रीय पक्ष तथा दक्षिण पक्ष। मुसलमान अपनी सेना को पांच भागों में विभ्क्त करते थे। वाम, दक्षिण, मध्य, रक्षित सेना एवं अग्रिम दल। अग्रिम दल संकट में सेना की सहायता के साथ राजपूतों के रसद मार्ग को काटता था। राजपूत राजा पूरी सेना को एक साथ युद्ध में लगा देते थे, जबकि तुर्क सेना का एक भाग रक्षित सेना के रूप में रखते थे। यह टुकड़ी तब आक्रमण करती थी, जब राजपूत लड़ते लडते थक जाते थे। इससे राजपूतों में भगदड़ मच जाती थी। डॉ. अवधबिहारी पाण्डेय के अनुसार तुर्को ने कई बार अपनी सुरक्षित सेना का उपयोग करके पराजय को विजय में परिणित कर दिया।

### 19.3.3 तुर्को का उत्तम सैन्य संगठन

तुर्को का सैन्य संगठन उत्तम था। तुर्को की सेना में राजपूत सेना की तुलना में अधिक धुड़सवार होते थे। राजपूत तलवारों एवं भालों से तथा तुर्क तीर कमान से लड़ते थे। तीर कमान से शत्रु पर दूर से वार किया जा सकता था। राजपूत राजा हाथी पर बैठकर युद्ध करते थे। यह बड़ा घातक सिद्ध हुआ। अब इन राजाओं पर आसानी से वार किया जा सकता था। राजाओं के घायल होने अथवा मरने पर सैनिक रणक्षेत्र से भाग जाते थे। हाथी शीघ्रता से घूम फिर नही सकते थे तथा कई बार अपनी सेना को ही कुचल देते थे, जबकि तुर्क घोड़े पर सवार होकर विद्युत गति से लड़ते थे। तुर्को की घुड़सवार सेना उनकी श्रेष्ठता का मुख्य साधन थी। डॉ. के.ए. निजामी ने लिखा है,'' उस युग में गतिशीलता तुर्की सैनिक संगठन का मूल आधार थी। वह युग घोड़ों का युग था और अद्वितीय, गतिशील तथा शस्त्र सुसज्जित घुड़सवार सेना उस युग की एक महान आवश्यकता थी। डॉ. जे.एन. सरकार के अनुसार,'' उस युग में तुर्की घुड़सवार एशिया में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। उन्होने लिखा है कि ''सीमा पार के इन आक्रमणकारियों के शस्त्रों और घोड़ों ने उनको भारतीयों पर विवाद रहित सैनिक श्रेष्ठता प्रदान की।

### 19.3.4 दोषपूर्ण गुप्तचर व्यवस्था

तुर्क अपनी कुशल गुप्तचर व्यवस्था से राजपूतों की शक्ति तथा कमजोरियों का पता लगा लेते थे, किन्तु राजपूतों को दोषपूर्ण गुप्तचर व्यवस्था के कारण तुर्को की शक्ति तथा आक्रमण योजना के बारे में कोई जानकारी नही मिल पाती थी।

### 19.3.5 युद्व सम्बन्धी विचार

राजपूत युद्व में सिर्फ मरना जानते थे, युद्ध जीतना नही। राजपूत युद्व में नैतिक नियमों का पालन करते थे तथा छल कपट को नही अपनाते थे, जबकि तुर्क हर प्रकार के साधन अपनाते थे, इस प्रकार, तुर्क युद्व में सावधान रहते थे, जबकि राजपूत सैनिक युद्ध को शौर्य प्रदर्शन का एक मंच मानते थे। डॉ. घोषाल ने लिखा है कि, ''मुख्ययतः राजपूत यद्यपि बहादुरी में और मृत्यु के प्रति अवहेलना की दृष्टि से अद्वितीय थे, परतु एक आदर्श यौद्धा और सैनिक सम्मान की ऐसी भावना से प्रेरित थे, जो उन्हे युद्व में व्यावहारिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रायः अयोग्य बना देती थी।'' तुर्क आक्रमाणात्मक लड़ते थे, जबकि राजपूत रक्षात्मक रूप से लड़ते थे। समस्त युद्ध भारत की भूमि पर होने से तुर्को को कोई विशेष क्षति नही हुई।

### 19.3.6 सीमान्त रक्षा कार्यो का अभाव

राजपूतों ने सीमान्त प्रदेशों की रक्षा की तरफ कोई ध्यान नही दिया और न ही तुर्को को सीमा पर रोकने का प्रयास किया। अतः तुर्को ने भारत में विशेष परेशानी का सामना नही करना पड़ा।

### 19.3.7 अयोग्य नेतृत्व

भारतीयों में योग्य नेतृत्व न था। गजनवी तथा गौरी कुशल सेनानायक थे यद्यपि पृथ्वीराज, जयचंद, भीमदेव, आदि राजपूत राजा भी योग्य सेनानायक थे, किन्तु वे अनुभवी तथा दूरदर्शी नही थे। वे युद्ध को वीरता प्रदर्शन का ''टूर्नामेंट'' समझते थे। वे युद्व में हाथी पर आगे रहते थे, जिससे उन पर आसानी से वार किया जा सकता था। जबकि तुर्क सेनापति सेना के बीच में रहकर सेना का नेतृत्व करते थे, अतः उन पर वार करना कठिन होता था, किसी भारतीय शासक के न दिखाई देने पर उसके सैनिक भागने लगते थे। जैसे पृथ्वीराज द्वारा हाथी से उतरकर घोड़े पर बैठने से उसके सैनिकों में भगदड़ मच गई। डॉ. घोषाल ने ठीक ही लिखा है कि,''भारतीय इन कारण असफल हुए कि उनमें पर्याप्त प्रतिभा सम्पन्न नेताओं की कमी थी।''

## 19.4 धार्मिक एवं सामाजिक कारण

राजपूतों की पराजय के लिए डॉ. निजामी सामाजिक शिथिलता को उत्तरदायी मानते है। राजपूतों की पराजय के सामाजिक एवं धार्मिक कारण निम्न थे :-

### 19.4.1 जाति का भेदभाव

हिन्दू समाज में जबरदस्त फूट थी। ऊंच नीच के भेदभाव के कारण हिन्दू समाज सिर्फ हड्डियों का ढांच बनकर रह गया था। देश की रक्षा का भार सिर्फ राजपूतों पर था। शेष जनता को इसमें कोई लेना देना नही था। वह देश की राजनीति तथा भाग्य के प्रति उदासीन थे। डॉ. आर.सी.मजूमदार ने लिखा

है,''विदेशियों के विरूद्व जनता का कोई विद्रोह नही है ओर न ही उनकी प्रगति को रोकने के लिए सम्मिलित प्रयास किये जाते है। जब आक्रमणकारी उनकी लाशों के उपर से गुजर रहा होता है, उस समय भारतीय अपंग शरीर की भांति असहाय होकर उसे देखते रहते थे।'' डॉ. के.ए. निजामी ने लिखा है,''भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और अन्यायपूर्ण जाति भेद थे, जिन्होने उनके सम्पूर्ण सैनिक संगठन को आरक्षित और दुर्बल बना दिया। जाति -भेद और बन्धनों ने सामाजिक ओर राजनीतिक एकता की भावना को नष्ट कर दिया।'' इसके अतिरिक्त राजपूतों ने जनता को कोई सैनिक शिक्षा नहीं दी। इसके विपरित तुर्को ने सामाजिक समानता व भाईचारा था। अतः तुर्को की विजय हुई।

### 19.4.2 ब्राह्मणवाद का उत्थान

इस समय हिन्दू धर्म भ्रष्ट धर्माचार्यो के कारण काफी संकीर्ण एवं जटिल बन गया था। डॉ सरन के अनुसार ''मध्यकालीन भारत में हिन्दू धर्म बाहरी आडम्बरों के ढेर के नीचे दब गया था ओर मठ, मंदिर तथा पुजारी वर्ग कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों के गढ़ बन गये थे।'' ब्राहाणवाद के उत्थान से जनता में शिथिलता आ गई थी। उसका सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यो पर कोई ध्यान नही था। वह इहलोक की अपेक्षा परलोक पर ज्यादा ध्यान नही देती थी। अतः राजपूतो की पराजय हुई।

### 19.4.3 तुर्को का धार्मिक जोश

मुसलमान राजपूतों से लड़ने को धार्मिक कार्य मानते थे। उनके धार्मिक जोश बहुत अधिक था। उनका मानना था कि यदि वे हिन्दुओं से लड़ते हुए मारे भी गए, तो उन्हे स्वर्ग में स्थान मिलेगा। हिन्दुओं में ऐसा जोश नही था। उनमें तुर्को के समान दृढ़ता, धैर्य व जोश नही था, अतः वे परास्त हुए।

### 19.4.4 हिन्दुओं में अन्धविश्वास

हिन्दू धार्मिक अन्धविश्वासी थे। वे किसी भी चीज को ईश्वरीय विधान समझ लेते थे, अतः उनमें कायरता उत्पन्न हुई। उनका मानना था कि देवताओं की कृपा से उन्हे कोई नुकसान नही हो सकता। गजनवी के समकालीन इतिहासकार इब्न अल अथिर ने महमूद के सोमनाथ पर आक्रमण का उदाहरण इन शब्दों में दिया है, जिलकदा के मध्य में वृहस्पतिवार के दिन वह सोमनाथ पहूंचा और वहां पर समुद्र तट बना हुआ एक सुदृढ़ दुर्ग देखा, जिससे समुद्र की लहरें टकराया करती थी। लोग दुर्ग की दीवारों पर बैठे हुए थे। ओर मुसलमानों को आते हुए देखकर उनका उपहास करने लग रहे थे ओर उनसे कह रहे थे कि हमारा देवता तुम्हारे एक एक आदमी को काट डालेगा ओर सबका नाश कर देगा। दूसरे दिन शुक्रवार को आक्रणकारियों ने आगे बढ़कर धावा बोल दिया और जब हिन्दुओं ने मुसलमानों को आते हुए देखा, तो वे दीवालों से अपने अपने स्थानों को छोड़कर भग गये। मुसलमान सीढ़ियां लगाकर दीवारों पर चढ़ गए और जयध्वनि करके उन्होने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपनी विजय की ओर इस्लाम की शक्ति की घोषणा की। बहुत से लोग हिन्दु सोमनाथ के सामने साष्टांग दण्डवत करने के लिए लेट गये ओर विजय की प्रार्थना करने लगे। तब रात्रि हो गई ओर लड़ाई बंद हो गई।

## 19.5 अन्य कारण

### 19.5.1 मुसलमानों का ठंडे प्रदेश का निवासी होना

एलफिन्स्टन, लेनपूल, स्मिथ आदि ने तुर्को को ठण्डे प्रदेश का निवासी होने से उनकी विजय का कारण बताया है, किन्तु यह सत्य नहीं है। डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि, ''दासता ओर पतन के युग में भी भारतीय सैनिकों ने यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका में सर्वत्र गौरव तथा यश प्राप्त किया है। अतः यह विश्वास नही किया जा सकता है कि हमारे पुर्वज, जो हमारे अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्र थे, सैनिक दृष्टि से मुस्लिम आक्रमणकारियों से कम शक्तिशाली तथा कम शूरवीर रहे होंगें।

### 19.5.2 भर्ती सम्बन्धी सुविधाऐं

मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मध्य एशिया से निरन्तर शूरवीर सैनिक प्राप्त कर सकते थे। कई मुस्लिम सैनिक भारत की धन सम्पदा लूटने के लिए ही सेना में भर्ती हो जाते थे, अतः राजकोष पर विशेष बोझ नहीं पड़ता था। भारतीय राजाओं को भर्ती सम्बन्धी ऐसी सुविधाऐं प्राप्त नही थी।

### 19.5.3 मुसलमानों की दास प्रथा

मुसलमानों की दास प्रथा भी उनके लिए काफी उपयोगी सिद्व हुई। मुसलमानों में उतराधिकार के निश्चित नियम न होने के कारण संघर्ष होता था। बादशाह के कोई लड़का न होने पर सबसे योग्य दास गद्दी पर बैठता था। ये दास वीर एवं साहसी होते थे। लेनपूल के अनुसार, मध्यकाल में एक योग्य शासक का पुत्र तो असफल सिद्व हो सकता था, परन्तु योग्य नेता का दास प्रायः अपने स्वामी क समान योग्य प्रमाणित होता था।'' उन्हे योग्यतानुसार उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। ऐबक तथा बख्तियार आदि दासों ने गौरी को विजय अभियान में महत्वपूर्ण सहायता दी थी। राजपूत राजयों में निश्चित उत्तराधिकार के कारण अयोग्य शासक भी होते थे। दास सामन्तों से अधिक वफादार होते थे।

### 19.5.4 भाग्य का प्रतिकूल होना

भाग्य ने राजपूतों को साथ न देकर सदैव तुर्को का साथ दिया। आनन्दपाल जब गजनवी पर हावी था, तब उसका हाथी घायल होकर भाग गया और गजनवी द्वारा हारा हुआ युद्व जीत गया। इसी तरह चन्दावर के युद्व में जयचंद की विजय निश्चित लग रही थी, किन्तु अचानक आंख में तीर लगने से वह घायल होकर हाथी से गिर पड़ा। इससे उसकी सेना में भगदड़ मच गई। और युद्व का पासा पलट गया। जयपाल ने 986 ई. में गजनी पर आक्रमण किया। दोनो पक्षों में कड़ा संघर्ष हुआ किन्तु अचानक हुए भीषण हिमपात से जयपाल को हार स्वीकार करते हुए गजनी नरेश सुबुक्तगीन से अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

## 19.6 सारांश

इन विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, सैनिक एवं धार्मिक कारणों से राजपूत परास्त हुए। राजपूतों का दोषपूर्ण सैन्य संगठन तथा भारत की आन्तरिक दुर्बलताऐं राजपूतों की पराजय का मुख्य कारण थी। इस प्रकार इन विभिन्न कारणों से राजपूतों की पराजय हुई और उतरी भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई।

## 19.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. राजपूतों के पतन के लिए उत्तरदायी कारणों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 2. भारत में विदेशी तुर्को को क्यों सफलता प्राप्त हुई।

प्रश्न 3. राजपूतों की मुसलमानों के विरूद्ध पराजय के कारणों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. राजपूत राज्यों के विद्यटन के लिए किन्ही दो कारणों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. राजपूतों की सैनिक दुर्बलताओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 6. राजपूतों की सामाजिक दुर्बलता उनके पतन का कारण कैसे बनी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई–20 : दक्षिण भारत में जैन धर्म

**संरचना**


20.0 प्रस्तावना
20.1 उद्देश्य
20.2 तमिल में जैन धर्म
20.3 कर्नाटक में जैन धर्म
20.4 दक्षिण भारत के राजवंश और राज्य तथा जैनधर्म के प्रचार में उनका योगदान
20.5 गंगवंश
20.6 होयसल वंश
20.7 राष्ट्रकूट वंश
20.8 कदम्ब वंश
20.9 चालुक्य वंश
20.9.1 पश्चिमी चालुक्य
20.10 सारांश
20.11 अभ्यास प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 20.0 प्रस्तावना

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उतर भारत में 12 वर्ष तक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैनाचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल जैनसंघ के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रयाण किया था। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में उस समय भी जैनधर्म का अच्छा प्रसार था और भद्रबाहु को पूर्ण विश्वास था कि वहां उनके संघ को किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। यदि ऐसा न होता तो वे इतने बड़े संघ को दक्षिण की ओर ले जाने का साहस न करते। जैन संघ की इस यात्रा से दक्षिण भारत में जैनधर्म को और भी अधिक फलने और फूलने का अवसर मिला।

श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से सदा उदार रही है, उसमें भाषा और अधिकार का वैसा बन्धन नही रहा जैसा वैदिक संस्कृति में गाया जाता है। जैन तीर्थंकरों ने सदा लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बताया है। जैन साधुध र्म के चलते फिरते प्रचारक होते है। वे जनता से अपना शरीर यात्रा के लिए दिन मे एक बार जो रूखा – सूखा किन्तु शुद्व भोजन लेते थे, उसका कई गुना मूल्य वे सत्शिक्षा ओर सदुपदेश के रूप में जनता को चुका देते थे और शेष समय में साहित्य को लिपिबद्व करके उसे भावी सन्तान के लिए छोड़ जाते थे। ऐसे कर्मठ एवं जनहित में संत साधुओं का समागम जिस देश में हो, उस देश में उनके प्रचार का कुछ प्रभाव न हो, यह संभव नही। फलतः उतर भारत के जैन संघ की दक्षिण यात्रा में दक्षिण भारत के जीवन मे एक क्रान्ति पैदा कर दी। उनका साहित्य खूब समृद्व हुआ और वह जैनाचार्यो को खनि तथा जैन संस्कृति का संरक्षक और संवर्द्वक बन गया।

## 20.1 उद्देश्य

यहाँ दक्षिण भारत में जैन धर्म पर प्रकाश पड़ेगा।

## 20.2 तमिल में जैन धर्म

जैनधर्म प्रचार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में बांटा जा सकता है – तमिल तथा कर्नाटक। तमिल प्रान्त में चोल और पांड्यनरेशों ने जैनधर्म को अच्छा आश्रय दिया खारवेल के शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट खारवेल के राज्याभिषेक के अवसर पर पांड्यनरेश ने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे। सम्राट खारवेल जैन था और

पांड्यनरेश भी जैन थे। पांड्यनरेश ने जैन धर्म को न केवल आश्रय ही दिया किन्तु उसके आचार और विचारों को भी अपनाया। इससे उनकी राजधानी मदुराई दक्षिण भारत में जैनों का प्रमुख स्थान बन गई थी। तमिल ग्रन्थ नलिदियर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उत्तर भारत में दुष्काल पड़ने पर आठ हजार जैन साधु पांड्यदेश में आए थे। जब वे यहां से वापिस जाने लगे तो पांड्यनरेश ने उन्हे वही रखना चाहा। तब उन्होने एक रात्रि में पांड्यनरेश की राजधानी को छोड़ दिया किन्तु चलते समय प्रत्येक साधु ने एक एक ताड़पत्र पर एक एक पद्य लिख कर रख दिया। इन्ही के समुदाय से नालिदियर ग्रन्थ बना। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य व्रजनन्दि ने पांड्यों की राजधानी मदुराई में एक विशाल जैनसंघ की स्थापना की। तमिल साहित्य में 'कुरल' नाम का नीतिग्रन्थ सबसे बढ़कर माना जाता है। यह तमिल वेद कहलाता है। इसके रचियता भी एक जैनाचार्य कहे जाते है जिनका एक नाम कुकुन्दक भी था। पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा महाराज उनके शिष्य थे। ईसा की दसवीं शताब्दी तक राज्य करने वाले महाप्रतापी पल्लव राजा भी जैनों पर कृपा दृष्टि रखते थे। इनकी राजधानी कांची सभी धर्मो का स्थान थी। चीनी यात्री हुएनत्सांग सातवीं शताब्दी में कांची आया था। उसने इस नगरी में को देखा, उनमें वह जैनों का नाम भी लेता है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय कांची जैनों का प्रमुख स्थान था। यहां जैन राजवंशों ने बहुत वर्षो तक राज्य किया। इस तरह तमिल देश के प्रत्येक अंग में जैनों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। सर वाल्टर ईलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का बड़ा प्रभाव है, परन्तु उससे भी अधिक प्रभाव तो उनका तमिल साहित्य के ऊपर पड़ा है। विशप काल्डवेल का कहना है कि जैनों की उत्पति का युग ही तमिल साहित्य का महायुग है। जैनों ने तमिल, कन्नड़ी, और दूसरी लोकसभाओं का उपयोग किया। इससे जनता के सम्पर्क में वे अधिक आए और जैनधर्म के सिद्धान्तों का भी जनसाधारण में खूब प्रचार हुआ।

एक समय कन्नड़ी ओर तेलगु प्रदेशों से लेकर उड़ीसा तक जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। शेषगिरी राव ने अपने **'Andhra Karna Jainism'** में काव्य संग्रह किया है। उससे पता चलता है कि आज के विजिगापट्टम, कृष्ण, नेल्लोर वगैराह प्रदेशों में प्राचीनकाल में जैनधर्म फैला हुआ था और उसके मंदिर बने हुए थे।

## 20.3 कर्नाटक मे जैनधर्म

किन्तु जैनधर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रान्त के इतिहास में मिलता है। यह प्रान्त प्राचीनकाल से ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। इस प्रान्त में मौर्य साम्राज्य के बाद आन्ध्रवंश का राज्य हुआ। आन्ध्र राजा भी जैनधर्म के उन्नायक थे। आन्ध्रवंश के पश्चात् उत्तर पश्चिम के कदम्बों ने और उतर पूर्व के पल्लवों ने राज्य किया। कदम्ब वंश के अनेक शिलालेख मिले है, जिनमें बहुत से लेखों में जैनों को दान देने का उल्लेख मिलता है। इस राजवंश का धर्म जैन था। सन् 1922–23 की एपिग्राफी रिपोर्ट में वर्णित है कि वनवासी के प्राचीन कदम्ब एवं चालुक्य, जिन्होने पल्लवों के पश्चात तुलुव देश में राज्य किया। निःसंदेह जैन थे। तथा यह भी बहुत संभव है कि प्राचीन पल्लव भी जैन थे, क्योंकि संस्कृत में मतविलास नाम का एक प्रहसन है जो पल्लवराज महेन्द्र वर्मा का बनाया हुआ कहा जाता हैं। इस ग्रन्थ में उस समय के प्रचलित सम्प्रदायों की हंसी उड़ाई गई है। जिनमें पाशुपात, कापालिक और एक बौद्ध भिक्षु को हंसी का पात्र बनाया गया है। इससे जैनों को सम्मिलित किया गया है। इससे पता चलता है कि जिस समय महेन्द्र वर्मा ने इस ग्रन्थ को रचा, उस समय वह जैन था। तथा पीछे से शैव हो गया क्योंकि शैव परम्परा में ऐसी ख्याती है कि शैव साधु अप्पर ने महेन्द्र वर्मा को शैव बनाया था। अतः कदम्बों की तरह चालुक्य भी जैनधर्म के प्रमुख आश्रयदाता थे। चालुक्यों ने अनेक जैन मंदिर बनवाये थे। अतः कदम्बों की तरह चालुक्य भी जैनधर्म के प्रमुख आश्रयदाता थे। चालुक्य ने अनेक जैन मंदिर बनवाये थे। उनका जीर्णोद्वार करवाया, उन्हे दान दिया और कन्नड़ी के प्रसिद्व जैन कवि आदि पम्प जैसे कवियों का सम्मान किया। इसके सिवाय इतिहास से यह भी पता चलता है कि कर्नाटक में महिलाओं ने भी जैनधर्म का प्रचार में भाग लिया। इन महिलाओं में जहां राजघराने की महिलाऐं स्मरणीय है। वहां साधारण घराने की स्त्रियां भी सेवाऐं भी उल्लेखनीय है।

सबसे प्रथम परमगूल की पत्नी कंदाच्छि का नाम उल्लेखनीय है। उसने श्रीपुर नामक स्थान के उत्तरी भाग में एक जैन मंदिर बनवाया था। परमगुल की प्रार्थना पर गंगनृपति श्रीपुरूष ने इस मंदिर को एक ग्राम तथा कुछ फलते फूलते हुए जिन धर्मो अन्य भूभाग प्रदान किए थे। इस महिला का गंगा राजपरिवार पर काफी प्रभाव था। दूसरी उल्लेखनीय महिला जक्कियब्बे है। यह सतरस नागार्जुन की पत्नी थी जो नागर खण्ड का शासक था। पति के मरने पर राजा ने उसकी जगह उसकी पत्नी को नियुक्त किया। पत्नी ने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया और संलेखनापूर्वक प्राणों को त्याग दिया।

ईसा की दसवी शती में पश्चिमी चालुक्य राजा तैलप का सेनापति मल्लप था। उसकी पुत्री अतिमब्बे आदर्श धर्माचारिणी थी। उसे अपने व्यय से सोने और कीमती पत्थरों की डेढ हजार मूर्तियां बनवाई थी। राजेन्द्र, कोंगाल्व की माता पोचव्वरासि ने ई. 1050 मे एक 'वसदि' बनवाई थी।

कदम्बराजा कीर्तिदेव की प्रथम पत्नी माललदेवी की स्थान भी धर्मप्रेमी महिलाओं में अत्यन्त उंचा है। इसने 1077 ई. में पद्मनन्दि सिद्वान्तदेव के द्वारा पार्श्वनार्थ चैत्यालय बनवाया और प्रमुख ब्राहमणों को आमन्त्रित करके उन्ही के द्वारा उस जिनालय का नामकरण ब्रहजिनालय करवाया।

नागर खण्ड के धार्मिक इतिहास में चट्टलदेवी का खास स्थान है। यह सान्तर परिवार की थी। सान्तर परिवार जैन मतावलम्बी था और उसका धर्मप्रेम विख्यात है। इस महिला ने सान्तरों की राजधानी पोम्बुच्चुपुर में जिनालयों का निर्माण करवाया और अनेक परोपकार सम्बन्धी कार्य किएं

## 20.4 दक्षिण भारत के राजवंश ओर राज्य तथा जैनधर्म के प्रचार में उनका योगदान

यहां दक्षिण भारत के राजनैतिक इतिहास के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालना उचित होगा। गंग राजाओं ने मैसूर के एक बहुत बड़े भाग पर ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक राज्य किया इसके पश्चात वे चोलों के द्वारा पराजित हुए। किन्तु चोल लम्बे समय तक राज नही कर सके और शीघ्र ही होयसलों के द्वारा निकाल बाहर किए गए। होलसलों ने एक पृथक पृथक राजवंश स्थापित किया जो ग्यारहवीं शती तक कायम रहा। प्राचीन चालुक्यों ने छठी शती के लगभग अपना राज्य स्थापित किया और प्रबल शासन के पश्चात दो भाग में बंट गए – एक पूर्वी चालक्यों ओर दूसरा पश्चिमी चालुक्य। पूर्वीय चालुक्य ने 750 ई. से 11 वी शती तक राज्य किया उसके पश्चात् उनके राज्य चोलों के द्वारा मिला लिए गए। पश्चिमी चालुक्य 750 ई. के लगभग राष्ट्रकूटों से पराजित हुए।

राष्ट्रकूटों ने 973 ई. तक अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी। उसके पश्चात् वे पश्चिमी चालुक्यों से पराजित हुए। चालुक्यों ने लगभग दो सौ वर्षो तक राज्य किया। उसके पश्चात कालाचूरियों से वे पराजित हुए। कालाचूरियों ने तीस वर्ष तक राज्य किया अब प्रत्येक राजवंश के समय में जैनधर्म की स्थिति का दिग्दर्शन कराया जाता है।

## 20.5 गगवश

इस वंश की स्थापना ईसा की दूसरी शती में जैनाचार्य सिंहनन्दिर ने की थी। इनका प्रथम राजा माधव था, जिसे कोंगणीवर्मा कहते है। मुष्कार अथवा मुखार के समय में जैनधर्म राजधर्म बन गया था। तीसरे और चौथे राजाओं को छोड़कर उनके शेष पूर्वज निश्चय से जैनधर्म के सहायक थे। माधव का उतराधिकारी अनवीत जैन था। अवनीत का उतराधिकारी दुर्विनीत प्रसिद्व वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था।

ईसा की चौथी से बारहवी शताब्दी तक के अनेक शिलालेखों से यह बात प्रमाणित है कि गंगवंश के शासकों ने जैन मंदिरों का निर्माण किया, जैन प्रतिमाओं की स्थापना की, जैन तपस्वियों के निमित्त गुफाऐं तैयार कराई और जैनाचार्यो को दान दिया। इस वंश के एक राजा का नाम मारसिंह द्वितीय था। इसका शासनकाल चेर, चोल और पाण्ड्य वंशोपर पूर्ण विजय प्राप्ति के लिए प्रसिद्व है। यह जैन सिद्वातों का सच्चा अनुयायी था। इसने अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके राजपद त्याग दिया और धारवाड़ प्रान्त के वांकापुर नामक स्थान में अपने गुरू अजितसेन के सम्मुख समाधिपूर्तक प्राणत्याग किया। एक शिलालेख के आधार पर इसकी मृत्यु तिथि 975 ई. निश्चित की गईं।

चामुण्डराय राजा मारसिंह द्वितीय का सुयोग्य मंत्री था। उसके मरने पर वह उसके पुत्र राजा राचमल्ल का मंत्री और सेनापति हुआ। इस मंत्री के शौर्य के कारण ही मारसिंह अनेक विजय प्राप्त कर सका। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के एक शिलालेख में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है, धरमधुरन्दर वीरमर्तण्ड, रणरंगसिंह, त्रिभुवनवीर, वैरीकुलकालदण्ड, सत्ययुधिष्ठिर, सुभटचूड़ामणि आदि उसकी अनेक उपाधियां थी, जो कि उसकी शूरवतीरता और धार्मिकता को बताती है। चामुण्डराय ने ही श्रवणबेलगोला (मैसूर) के विध्यागिरी पर गोमटेश की विशाल मूर्ति स्थापित कराई थी, जो मूर्ति आज दुनिया के अनेक आश्यर्चजनक वस्तुओं में गिनी जाती है। वृद्वावस्था में चामुण्डराय ने अपना अधिकांश समय ध ार्मिक कार्य में बिताया। चामुण्डराय जैनधर्म के उपासक ते थे, मर्मज्ञ विद्वान भी थे। उनका कन्नड़ी भाषा का त्रिशष्ठि लक्षण महापुराण प्रसिद्धि है। संस्कृत में भी उसका बनाया हुआ चारित्रसार नामक ग्रन्थ है। चामुण्डराय की गणना जैनध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

र्म के महान उन्नायकों से की जाती है। इनके समय में जैन साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई। सिद्धान्त ग्रन्थों का सारभूत श्रीगोमट्टसार नामक महान जैनग्रन्थ इन्ही के निमित्त से रचा गया था। ओर उन्ही के गोम्मटराय नाम पर इनका नामकरण किया गया। यह कन्नड़ी के प्रसिद्व कवि रत्न के आश्रयदाता भी थे।

गंगराज परिवार की महिलाऐं भी अपनी धर्मशीलता के लिए प्रसिद्व है। एक प्रशस्ति में गंग महादेवी को 'जिनेन्द्र' के चरण – कमलों में लुब्ध 'भ्रमरी' कहा है। यह महिला भुजबल गंग हेम्माड़ि मान्धाता भूप की पत्नी थी। राजा मारसिंह की छोटी बहिन का नाम सुग्गिपब्वरसि था। यह जैन मुनियों की बड़ी भक्त थी और उन्हे सदा आहार दान दिया करती थी। जब चोल राजा ने ई.सं. 1004 में गंगनरेश की राजधानी तलकाद को जीत लिया, तब इस वंश का प्रताप मंद हो गया। बाद भी इस वंश के राजाओं ने राज किया किन्तु फिर वे उठ नहीं सके। इससे जैनधर्म को भी क्षति पहुंची।

## 20.6 होयसल वंश

इस वंश की उन्नति में भी एक जैन मुनि का हाथ था। इस वंश का पूर्वज राजा सल था। एक बार यह राजा अपनी कुलदेवी के मंदिर में सुदत्तनाम के जैन साधु से विद्या ग्रहण करता था। अचानक वन में से निकलकर एक बाघ सल पर टूट पड़ा। साधु ने एक दण्ड सल को देकर कहा 'पोप सल' (मार सल)। सल ने बाघ को मार डाला। इस घटना को स्मरण रखने के लिए उसने अपना नाम 'पोपसल' रखा। पीछे से यही होयसल हो गया।

गंगवंश की तरह इस वंश के राजा भी विट्टिदेव तक बराबर जैनधर्मी रहे और उन्होंने जैनधर्म के लिए बहुत कुछ किया। दीवान बहादुर कृष्ण स्वामी आयंगर ने विष्णुवर्द्धन विट्टिदेव के समय मैं मैसूर राज्य की धार्मिक

स्थिति बताते हुए लिखा है 'उस समय मैसूर प्रायः जैन था। गंग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। किन्तु लगभग ईस्वी 1000 मैं जैनों के विरूद्ध वातावरण ने जोर पकड़ा। उस समय चोलों ने मैसूर को जीतने का प्रयत्न किया। फलस्यवरूप गंगवाड़ी और नोलम्बवाड़ी का एक बड़ा प्रदेश चोलों के अधिकार में चला गया, और इस तरह मैसूर देश में चोलों के शैवधर्म और चालुक्यों के जैनधर्म का आमना सामना हो गया। जब विष्णुवर्द्धन ने मैसूर की राजनीति में भाग लिया उस समय मैसूर की धार्मिक स्थिति अनिश्चित थी। यद्यपि जैनधर्म प्रबल स्थिति में था फिर भी शैवधर्म और वैष्णवधर्म के अनुयायी भी थे। ईस्वी 1116 के लगभग विट्टिदेव को रामानुजाचार्य ने वैष्णव बना लिया और उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। विष्णुवर्द्धन की पहली पत्नी शान्तलदेवी जैन थी। श्रवगबेलगोला तथा अन्य स्थानों से प्राप्त शिलालेखों में उसके ध र्मकार्यो की बड़ी प्रशंसा की गई है। शान्तलदेवी का पिता कट्टर शैव और माता जैन थी। शान्तलदेवी के मर जाने के पर जब उसके माता – पिता भी मर गए तो उसका जामाता अपने धर्म से च्युत हो गया किन्तु फिर भी जैनधर्म से उसकी सहानुभूति बनी रही। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में हलेवीड के जिनालय में स्थापित जैन मूर्ति का नाम 'विजय पार्श्वनाथ' रखा। उसके मंत्री गंगराज तो जैनधर्म के एक भारी स्तम्भ थे। उनकी धार्मिकता और दानवीरता का विवरण उनके शिलालेखों से मिलता है। इनकी पत्नी का नाम भी जैनधर्म के प्रचार के सम्बन्ध में अति प्रसिद्ध है। उसने कई जिनमंदिरों का निर्माण करवाया था। जिनके लिए गंगराज ने उदारतापूर्वक भूमिदान दिया था। विट्टिदेव के पश्चात् नरसिंह प्रथम राजा हुआ। इसके मंत्री हुल्लप्प ने जैनधर्म की बड़ी उन्नति की।

उसने जैनों को खोए हुए प्रभाव को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु होयसल राजाओं द्वारा संरक्षित वैष्णव धर्म की द्रुत अभ्युन्नति, रामानुज तथा कुछ शैव नेताओं का व्यवस्थित और क्रमबद्ध विरोध, और लिंगायतों के भयानक आक्रमण से मैसूर प्रदेश में जैनधर्म का पतन कर दिया। किन्तु भूल कर भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि वहां से जैनध र्म की जड़ उखड़ कई। किन्तु वैष्णव तथा अन्य वैदिक सम्प्रदायों के क्रमिक अभ्युत्थान के कारण उसका चैतन्य जाता रहा। यों तो जैनधर्म के अनुयायियों की तब भी अच्छी संख्या थी किन्तु फिर वे कोई राजनैतिक प्रभाव नहीं प्राप्त कर सके। बाद में मैसूर राजाओं ने जैनों को कोई कष्ट नहीं दिया। इतना ही न्हीं किन्तु उनकी सहायता भी की। मुस्लिम शासक हैदर नायक तक ने भी जैनमंदिरों को गांव प्रदान किये थे यद्यपि उसने श्रवणवेलगोला तथा अन्य प्रदशों के महोत्सव बन्द कर दिये थे।

## 20.7 राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट राजा अपने समय में बड़े प्रतापी राजा थे। इनके आश्रय से जैनधर्म का अच्छा अभ्युत्थान हुआ। इनकी राजधानी पहले नसिक के पास थी, पीछे मान्यखेट को इन्होंने अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के जैनधर्मो राजाओं में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अमोघवर्ष प्रथम का नाम उल्लेखनीय है। यही राजा दिगम्बर जैनधर्म का बड़ा प्रेमी था। अपनी अंतिम अवस्था में इसने राजपट छोडकर जिनदीक्षा ले ली थी। इनके गुरू प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन थे। जिनसेन के शिष्य गणुभद्र ने अपनी उत्तरपुराण में लिखा है कि अमोघवर्ष अपने गुरू जिनसेन के चरणकमलों में वन्दना करते अपने को पवित्र हुआ मानता था। इसने जैन मंदिरों को दान दिया तथा इसके समय में जैन साहित्य का भी खूब उन्नति हुई। बदगम्बर जैन सिद्धांत ग्रन्थों की धवला और जय धवला नाम कर टीकाओं का नामकरण धवल और अतिशय धवल नाम के ऊपर हुआ समझा जाता है। शाकटायन वैयाकरण ने अपनी शाकटायन नाम जैन व्याकरण पर इसी के नाम से अमोघवृति नाम की टीका बनाई। इसी के समय जैनाचार्य महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसके प्रारंभ में अमोघवर्ष की महिमा का वर्णन विस्तार से किया गया है। अमोघवर्ष ने स्वयं भी 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नाम की एक पुस्तिका रची। स्वामी जिनसेन ने भी अनेक ग्रन्थ रचे।

अमोघवर्ष ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र को भी आश्रय दिया। गुणभद्र ने अपने गुरू जिनसेन के अधूरे ग्रन्थ आदिपुराण को पूर्ण किया और अन्य भी अनेक ग्रन्थ रचे। अमोघवर्ष का पुत्र अकालवर्ष भी जैनधर्म का प्रेमी था। इसके समय में गुणभद्र ने अपना उत्तरपुराण पूर्ण किया। इसने भी जैन मंदिरों को दान दिया और जैन सिद्धातों का सम्मान किया। जब पश्चिम के चालुक्यों की सता का अन्त कर दिया तो इस वंश के अंतिम राजा इन्द्र ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने का यत्न किया किन्तु उसे सफलता नही मिली। अन्त में उसने जिनदीक्षा धारण करके श्रवणबेलगोला में समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग किया। लोकादित्य इनका सामन्त और वनवास देश का राजा था। गुणभद्राचार्य ने इसे भी जैनधर्म की वृद्धि करने वाला और महान यशस्वी बताया है।

## 20.8 कदम्ब वंश

यद्यपि वह वंश ब्राहमण धर्मानुयायी था, किन्तु इसके कुछ नरेशों की धार्मिक नीति बड़ी उदार थी और कुछ तो जैनधर्म के प्रतिपालक भी थे। इस वंश के पांचवे राजा काकुत्थवर्मा ने एक जैन सेनापति श्रुतकीर्ति को अर्हन्तों के लिए भूमिदान किया था। काकुत्सथवर्मा के पौत्र मृगेशवर्मा ने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में अर्हन्तदेव के पूजनादि के लिए भूमिदान किया था तब अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक गांव को तीन भागों में विभाजित करके एक भाग जिनेन्द्र के लिए , दूसरा भाग श्वेताम्बर श्रमण संघ को एवं तीसरा भाग दिगम्बर श्रमण संघ के लिए प्रदान किया था। आठवें वर्ष में उसे पलासिका नामक स्थान मे एक जिनालय बनवा कर कुछ भूमि यापनीयों के तथा निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के कूर्चकों के लिए प्रदान की थी।

मृगेशवर्मा के तीन बेटों में से रविवर्मा उसका उतराधिकारी हुआ। सेनापति श्रुतकीर्ति के पौत्र जयकीर्ति ने कदम्ब राजाओं के द्वारा परम्परा से प्राप्त पुरुखेटक गांव रविवर्मा को आज्ञा से यापनीय संघ के कुमारदत प्रमुख आचार्यो को दान में दे दिया। रविवर्मा का राज्यकाल साधारणतः सन 478 ई. से 513 ई. के लगभग माना जाता है।

रविवर्मा का उतराधिकारी उसका पुत्र हरिवर्मा हुआ। उसने अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष मे अपने चाचा शिवरथ के उपदेश से पलाशिका में सिंहसेनापति के पुत्र मृगेश वर्मा के द्वारा निर्मार्पित जैन मंदिर की अष्टाह्विका पंजा के लिए तथा सर्वसंघ के भोजन के हेतु कूर्चकों के वरिषेणाचार्य संघ के हाथ में वस्तुवाटक ग्राम दान में दे दिया तथा अपने राज्य के पांचवे वर्ष में राजा भानुवर्मा की प्रार्थना पत्र अहिरिष्ट नामक दूसरे श्रमण संघ के लिए मरदे नामक गांव दान में दिया। हरिवर्मा का राज्यकाल सन 413 ई. से 534 ई. में माना जाता है।

## 20.9 चालुक्य वंश

इस वंश की एक शाखा, जिसे पश्चिमी चालुक्य कहा जाता है, वातापी (वादामी) नामक स्थान में छठी ई. में आठवीं ई. तक राज्य करती रही। पीछे दो शताब्दी बाद 10 वीं से 12 वीं तक कल्याणी नामक स्थान से शासन करती रही। पूर्वी चालुक्य नाम से प्रसिद्व दूसरी शाखा आन्ध्रप्रदेश के वेंगी नामक स्थान से 7 वीं शताब्दी से 11–12 वीं शताब्दी तक राज्य करती रही।

### 20.9.1 पश्चिमी चालुक्य

इस वंश का सबसे प्राचीन दानपत्र शक संवत् 411(481 ई) का आड़ते से मिला है। यह सत्याश्रय पुल्लकेशी का है। उसके अनुसार राजा पुलकेशी ने चोल, चेर, केरल, सिंहल और कलिंग के राजाओं को अपना करद बना लिया तथा पाण्डय आदि राजाओं को दण्डित किया था। लेखक का नुख्य उद्देश्य यह है कि राजा पुलकेशी के शासनकाल में



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सेन्द्रकवंशी सामन्त सामियार ने अलक्तक नगर में एक जैन मंदिर बनवाया था, और राजाज्ञा लेकर चन्दग्रहण के समय कुछ जमीन ओर गांव दान मे दिये थे।

पुलकेशी प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कीर्तिवर्मा था। उसने कुछ सरदारों के निवेदन पर जिनमन्दिर की पूजा के लिए कुछ भूमि दान में दी थी। कीर्तिवर्मा प्रथम का पुत्र पुलकेशी द्वितीय हुआ। उसके काल का एक प्रसिद्व लेख एहोल से प्राप्त हुआ है। उसे जैन कवि रविकीर्ति ने रचा है। भारत वर्ष का तत्कालीन राजनैतिक इतिहास जानने के लिए यह लेख बड़े महत्व का है। लेख के अनुसार पुलकेशी उत्तर भारत के सम्राट हर्षवर्धन का समकालीन था। उसने दक्षिण की ओर बढ़ते हुए हर्षवर्धन से हर्ष विगलित कर दिया था। रविकीर्ति पुलकेशी का आश्रित था और उसने शक सं. 556 में एक जैन मंदिर बनवाया था इसी वंश के विक्रमादित्य द्वितीय ने पुलिगेरे नगर में एक धवल जिनालय की मरम्मत तथा सजावट कराई थी तथा मूलसंघ देवगण के विजयदेव पण्डिताचार्य के लिए जिनपूजा प्रबन्ध के लिए भूमिदान दिया था।

विक्रमादित्य द्वितीय के बाद चालुक्य वंश के बुरे दिन आए। गंग और राष्ट्रकूट राजाओं ने उसका साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट कर डाला। लगभग 200 वर्षो तक यह फिर पनप न सका। इस काल में उसका स्थान राष्ट्रकूट वंश को मिला।

सन 974 के लगभग तैलप द्वितीय ने इस वंश का पुनरूद्वार करके कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया यह तैलप द्वितीय महान कन्नड़ जैन कवि रत्न का आश्रयदाता था। यह धरानरेश मुंज और भोज का समकालीन था। इसके हाथ से मुंज की मृत्यु हुई थी। इसके पुत्र और उतराधिकारी सत्याश्रय इरिवेंडग के जैन गुरू द्रविड़संघ कुन्दकुन्दावय के विमचन्द्र पण्डितदेव थे। इसने 997 ई. से 1009 ई. तक राज्य किया।

तैलप द्वितीय का पौत्र तथा सत्याश्रय का भतीजा जयसिंह तृतीय था। यह नरेश अनेक जैन विद्वानों का आश्रयदाता था। इसके समय के प्रमुख जैन विद्वान थे वादिराज, दयापाल एवं पुष्पषेण सिद्वान्तदेव। वादिराज की एक उपाधि जगदेकमल्लवादी थी। यह उपाधि जयसिंह तृतीय ने अपने दरबार से उन्हे दी थी।

इस राजा का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम था। इसकी उपाधियां आहवमल्ला और त्रैलोक्यमल्ल उंचें पदों को योग्यतापूर्वक निभाया और जैन धर्म की उन्नति के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। इरूगप्प के अन्य सहयोगियों ने भी जैन धर्म की पूरी सहायता की और उसके प्रचार में काफी योगदान किया।

विजयनगर की रानियां भी जैनधर्म पालती थी। श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख से देवराव महाराज की रानी भीमादेवी का जैन होना प्रकट है।

1368 ई. के एक शिलालेख से पता चलता है कि जैनों ने वुक्काराय प्रथम से प्रार्थना की थी कि वैष्णव जैनों के साथ अन्याय करते थे। राजा ने काफी जांच पड़ताल के बाद जैनों और वैष्णवों में मेल करा दिया तथा यह आज्ञा प्रकाशित की –

''यह जैन दर्शन पहले की भांति ही, महाशब्द और कलश का अधिकारी है। यदि कोई वैष्णव किसी भी प्रकार जैनियों को क्षति पहूंचावे तो वैष्णवों को उसे वैष्णव धर्म की क्षति समझना चाहिए। वैष्णव जगह जगह इस बात की ताकीद के लिए शासन कायम करें। जब तक सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है तब तक वैष्णव जैन दर्शन की रक्षा करेंगें। वैष्णव और जैन एक ही है, उन्हे अलग अलग नही समझना चाहिए।...... वैष्णवों और जैनों से जो कर लिया जाता है उससे श्रवणबेलगोला के लिए रक्षकों की नियुक्ति की जाए ओर यह नियुक्ति वैष्णवों द्वारा हो तथा उससे जो द्रव्य बचे उससे जिनालयों की मरम्मत कराई जाय और उन पर चूना पोता जाए। इस प्रकार वे प्रतिवर्ष धनदान देने से न चूकेंगें और यश और सम्मान प्राप्त करेंगें जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही और सम्प्रदायद्रोही होगा।''

एक दूसरे शिलालेख से जैनों और शैवों के विवाद का पता चलता है। यह लेख 1638 ई. का है। जैनधर्म की प्रशंसा से शुरू होता है और शिव की प्रशंसा से इसका अंत होता है।

## 20.10 सारांश

इस तरह हम देखते है कि वैष्णव ओर शैव सम्प्रदायों के प्रबल होने के फलस्वरूप दक्षिण में जैनधर्म को यदाकदा कुछ आघात पहुंचा तथापि उसका अस्तित्व ओर सातव्य अक्षुण्ण रहा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 20.11 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. दक्षिण भारत में जैन धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2. दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रचार प्रसार में किन किन राजवंशों ने योगदान दिया।

प्रश्न 3. परम अर्हत किसे कहा गया है।

प्रश्न 4. सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरू कौन थे।

प्रश्न 5. जैन विद्वान भद्रबाहु को दक्षिण में क्यों जाना पड़ा ?

प्रश्न 6. उड़ीसा राज्य में जैन धर्म के प्रचार की जानकारी किससे मिलती है।

प्रश्न 7. एक एक ताड़ पत्र पर एक एक पद्य लिखने से किस ग्रन्थ की रचना हुई।

प्रश्न 8. होयसल वंश की उन्नति में किस जैन साधु का योगदान था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

## दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

# स्नातक (प्रथम वर्ष)

## विषय : इतिहास

## प्रथम पत्र :

# भारत का इतिहास


संवर्ग

| | |
|---|---|
| संवर्ग–1 | राजनीति शास्त्र, क्षेत्र, स्वरूप एवं पद्धतियाँ |
| संवर्ग-1 | प्रागैतिहासिक एवं वैदिक काल |
| संवर्ग-2 | मगध का उत्कर्ष |
| संवर्ग-3 | पूर्व गुप्तकाल |
| संवर्ग-4 | गुप्तकाल |
| संवर्ग-5 | वर्धन साम्राज्य एवं राजपूत युग |


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**विशेषज्ञ समिति**

1. डॉ. अरुणा सोनी 2. डॉ. विनीत गोधल

**लेखक**

**डॉ. रणजीत पूनियां**

**सम्पादक**

**डॉ. अरुणा सोनी**

**कापीराइट**

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1000

**प्रकाशक**

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

***Printed at***

**M/s Nalanda Offsets,** Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# विषयानुक्रमणिका


| क्र.सं. | इकाई | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| | **संवर्ग प्रथम : प्रागैतिहासिक एवं वैदिक काल** | |
| 1. | **प्रागैतिहासिक काल**<br>पूर्व पाषाण काल, आखेटक और खाद्य् – संग्राहक, पूर्व पाषाण काल की अवस्थाएँ, निम्न पूर्व पाषाण काल, मध्य पूर्व पाषाण काल, उच्च पूर्व पाषाण काल, मध्य – पाषाण काल, आखेटक और पशुपालक, प्रागैतिहासिक कलाकृतियां, नव पाषाण काल, खाद्य उत्पादक | 1–5 |
| 2. | **प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत**<br>पुरातात्विक स्त्रोत : अभिलेख, सिक्के, स्मारक और भवन, मूर्तियां 18, चित्रकला 18, अवशेष 18, साहित्यिक स्त्रोत 20, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, धर्मेत्तर भारतीय साहित्य, विदेशियों के वृतान्त, यूनान और रोम के लेखक, अरब यात्रियों के वृतान्त। | 6–17 |
| 3. | **प्राचीन भारतीय इतिहास के जैन स्त्रोत (जैन साहित्य)**<br>जैन आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रंथ, दार्शनिक साहित्य, जैन पुराण एवं चरित साहित्य, जैन काव्य एवं कथा साहित्य | 18–29 |
| 4. | **हड़प्पा – संस्कृति : कांस्य युग सभ्यता**<br>भौगोलिक विस्तार – नगर योजना और संरचनाएँ –कृषि – पशुपालन – शिल्प ओर तकनीकी ज्ञान – व्यापार – राजनैतिक संगठन – धार्मिक प्रथाऐं –सिन्धु घाटी के पुरूष देवता – वृक्षों ओर पशुओं की पूजा – हड़प्पाई लिपि – माप तौल – मृदभाण्ड, मुहरें – प्रतिमाऐं (टेरीकोटा फिगर्स) – उद्‌भव, उत्थान ओर अवसान – हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था। | 30–38 |
| 5. | **पूर्व वैदिक अवस्था : आर्यो का आगमन और ऋग्वेद युग (1500–1000 ई.पू.)**<br>मूल निवास स्थान और पहचान – जातीय संघर्ष – भौतिक जीवन, कबायली राज्य व्यवस्था – कबीला और परिवार – सामाजिक वर्गीकरण – ऋग्वैदिक देवता | 39–44 |
| 6. | **उत्तर वैदिक अवस्था : राज्य और वर्णावस्था की ओर**<br>उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई.पू.) में विस्तार – चित्रित धूसर मृदभाण्ड –लौहावस्था संस्कृति और उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्थाऐं, राजनीतिक संगठन –सामाजिक संगठन – देवता अनुष्ठान और दर्शन। | 45–51 |
| | **संवर्ग द्वितीय : मगध का उत्कर्ष** | |
| 7. | **16 जनपदों का उदय और गणतंत्रीय राज्य**<br>महाजनपद युग – सोलह महाजनपद – अन्य जनपद – बुद्धकालीन गणराज्य – गणराज्यों का विधान एवं प्रशासन – गणराज्यों के पतन के कारण | 52–60 |
| 8. | **मगध का उदय**<br>मगध का आरम्भिक इतिहास, मगध साम्राज्य के विकास का प्रथम चरण : हर्यंकवंश –बिम्बिसार – अजातशत्रु – उदायिन या उदायिभद्र – उदायिन के उत्तराधिकारी – मगध साम्राज्य के विकास का द्वितीय चरण, शैशुनाग वंश – शिशुनाग–कालाशोक या काकवर्ण – कालाशोक के उत्तराधिकारी – मगध साम्राज्य के विकास का तृतीय चरण – नन्द वंश, महापद्‌मनन्द – महापद्‌मनन्द के उत्तराधिकारी – नन्द साम्राज्य का महत्व – मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के कारण। | 61–72 |


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9. **मौर्य साम्राज्य**
मौर्यकालीन इतिहास के स्त्रोत : सम्राट चन्द्रगुप्त (324–300 ई.पू.) प्रारम्भिक जीवन, साम्राज्य विस्तार, शासन प्रबन्ध (क्या मौर्य शासन लोकहितकारी था, मूल्यांकन, सम्राट बिन्दुसार (300–273 ई.पू.), सम्राट अशोक महान (273–235 ई.पू.) सिंहासन पर अधिकार और राज्य विस्तार, शासन प्रबन्ध (नवीन सुधार), अशोक का धर्म (धम्म) ओर उसके प्रचार के प्रयत्न : अशोक के उत्तराधिकारी (235–187 ई.पू.),मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण और सम्राट अशोक का उसमें उत्तरदायित्व, मौर्य संस्कृति तथा सभ्यता, सामाजिक दशा, आर्थिक दशा, धार्मिक दशा, साहित्य, मौर्य कला। 73–96

**संवर्ग तृतीय : पूर्व गुप्तकाल**

10. **शुंग वंश – पुष्यमित्र शुंग**
शुंग वंश की स्थापना, पुष्यमित्र शुंग, राज्याभिषेक की तिथि, विदर्भ –युद्ध, अश्वमेघ यज्ञ, ब्राह्मण धर्म का पुनरूद्धार, पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म, राज्य विस्तार, पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी, कण्व वंश। 97–101

11. **आंध्र सातवाहन वंशः गौतमीपुत्र शातकर्णी**
सातवाहन वंश, गौतमीपुत्र शातकर्णी, समकालीन उत्तरी भारत, यूनानी – इण्डो – बैक्ट्रीयन, भारतीय – यूनानी सम्पर्क का प्रभाव। 102–109

12. **शक क्षत्रपः रूद्रदामन प्रथम**
शक क्षत्रपः रूद्रदामन प्रथम – तिथि, राज्य विस्तार, दक्षिणापथ – पति की पराजय, शासन प्रबन्ध, व्यक्तित्व और चरित्र, पह्लव। 110–116

13. **कुषाण वंश**
कुषाणों का प्राचीन इतिहास, सम्राट कनिष्क, कनिष्क की तिथि, कनिष्क की दिग्विजय, कनिष्क का साम्राज्य, शासन प्रणाली, कनिष्क का धर्म, बौद्ध संगीति, महायान सम्प्रदाय का विकास, कनिष्क का निधन, कनिष्क का मूल्यांकन, गान्धार कला, मथुरा कला शैली, कनिष्क के उत्तराधिकारी, कुषाण साम्राज्य का पतन और उस्के कारण। 117–126

14. **पूर्व गुप्त काल में व्यापार और वाणिज्य के संदर्भ में आर्थिक प्रगति**
आर्थिक विकास की आधार शिला, कृषि व्यवस्था का विकास, भूमि का स्वामित्व, उद्योग और व्यवस्था, आन्तरिक व्यापार–वाणिज्य, विदेशी व्यापार, व्यापारिक मार्ग, माप, तौल, मूल्य और शुल्क 'श्रेणी' संगठन का उद्भव और विकास 127–139

**संवर्ग चतुर्थ : गुप्तकाल**

15. **गुप्त साम्राज्य का उत्थान एवं पतन**
गुप्तकाल के इतिहास जानने के स्त्रोत, प्रारम्भिक गुप्त शासक, चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, समुद्रगुप्त के समय के इतिहास जानने के स्त्रोत, समुद्रगुप्त की विजयें, विदेशों से सम्बन्ध, अश्वमेद्य यज्ञ, समुद्रगुप्त भारत का नेपोलियन, समुद्रगुप्त की अन्य सफलताऐं, समुद्रगुप्त का मूल्यांकन, चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयें, चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्य सफलताऐं, चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकन, फाह्यान और उसका भारत का वृतान्त, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त, बाद के गुप्त शासक, गुप्त साम्राज्य का शासन प्रबन्ध, सामाजिक जीवन, राजनीतिक जीवन, साहित्य के क्षेत्र में विकास, विज्ञान के क्षेत्र में विकास, शिक्षा के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्षेत्र में विकास, गुप्त सम्राटों के समय ललित कलाऐं, विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार 140—164

**संवर्ग पंचम : वर्धन साम्राज्य एवं राजपूत युग**

16. **वर्धन साम्राज्य का निर्माण और विस्तार** (हर्ष वर्धन के विशेष संदर्भ में)
हर्ष के इतिहास को जानने के साधन, हेनसांग द्वारा भारत का वृतान्त, हर्ष के पूर्वज, हर्षवर्धन, हर्ष की विजयें, हर्ष का शासन प्रबन्ध, हर्ष का धर्म, सभाओं का आयोजन, हर्ष के समय साहित्य का विकास, हर्ष का मूल्यांकन। 165—178

17. **चोल एवं चालुक्य वंश तथा उसका प्रशासन**
चोल राजवंश, चोलों का शासन प्रबन्ध, चोलों के शासन काल में साहित्य एवं कला, चालुक्य वंश। 179—185

18. **राजपूत युग**
**(विग्रहराज चहमान, कुमारपाल चालुक्य एवं भोज परमार के विशेष संदर्भ में)**
राजपूतों की उत्पति के सिद्धान्त, कन्नौज के प्रतिहार तथा राठौड़, चालुक्य वंश, कुमारपाल चालुक्य, कुमारपाल की विजयें, कुमारपाल का मूल्यांकन, मालवा के परमार, राजाभोज परमार,भोज की सैनिक विजयें, भोज की सांस्कृतिक उपलब्धियां, चाहमान वंश, विग्रहराज चतुर्थ, विग्रहराज चतुर्थ की विजयें, विग्रहराज की सांस्कृतिक उपलब्धियां, पृथ्वीराज तृतीय, पृथ्वीराज की विजयें, पृथ्वीराज का शासन प्रबन्ध, पृथ्वीराज की पराजय के कारण, पृथ्वीराज का मूल्यांकन। 186—202

19. **राजपूतों के पतन के कारण अथवा राजपूतों की पराजय के कारण**
राजनीतिक कारण, सैनिक कारण, धार्मिक तथा सामाजिक कारण, अन्य कारण 203—207

20. **सुदूर दक्षिण में जैन धर्म का प्रचार प्रसार**
तमिल में जैन धर्म, कर्नाटक में जैन धर्म, दक्षिण भारत के राजवंश और राज्य तथा जैन धर्म के प्रचार में उनका योगदान, गंगवंश, होयसल वंश, राष्ट्रकूट वंश, कदम्ब वंश, चालुक्य, पश्चिमी चालुक्य, पूर्वी चालुक्य, कालाचूरी और विजयनगर राज्य 208—214

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun